स्वतंत्रता परवर्ती हिन्दी विज्ञान लेखन

(1950-1970)

सम्पादक
डॉ. शिवगोपाल मिश्र
डॉ. विष्णुदत्त शर्मा

स्वतंत्रता परवर्ती
हिन्दी विज्ञान लेखन

(भाग-1)

(1950-1970)

संपादक

डॉ. शिवगोपाल मिश्र

डॉ. विष्णुदत्त शर्मा

शोध प्रकाशन अकादमी

5/48, वैशाली

गाजियाबाद

दो शब्द

हमने 'हिन्दी में विज्ञान लेखन के सौ वर्ष' (प्रकाशक : विज्ञान प्रसार 2000) संग्रह के अन्तर्गत विज्ञान लेखन को चार खण्डों में विभाजित करने का सुझाव रखा था। ये थे—

(1) प्रारम्भिक/बीज वपन काल	1840 से 1914 तक
(2) प्रस्फुटन या आलोडन काल	1915 से 1949 तक
(3) सर्वोत्थान काल	1950 से 1970 तक
(4) आधुनिक काल/परिपक्वन काल	1971 से आगे...

हम उपर्युक्त संग्रह में प्रथम दो काल खण्डों में विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित 3800 विज्ञान विषयक लेखों में से 160 प्रतिनिधि लेखों को चुनकर दो खण्डों में प्रकाशित कर चुके हैं।

इसी कड़ी में 'स्वतन्त्रता परवर्ती हिन्दी विज्ञान लेखन' को भी दो खण्डों में प्रकाशित करने की योजना बनाई गई। फलतः प्रथम खण्ड में सर्वोत्थान काल (1950 से 1970) में प्रकाशित प्रतिनिधि रचनाओं को प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें कुल 59 निबन्ध हैं जो 54 लेखकों द्वारा लिखित हैं। इनमें प्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा लोकप्रिय विज्ञान लेखक सम्मिलित हैं। विज्ञान लेखन के क्षेत्र में डॉ. डी. एस. कोठारी, डॉ. गोरख प्रसाद, डॉ. सत्यप्रकाश, डॉ. आत्माराम तथा डॉ. रामचरण मेहरोत्रा के अतिरिक्त श्री श्यामनारायण कपूर, रामेश बेदी तथा जगपति चतुर्वेदी ऐसे नाम हैं जो द्वितीय कालखण्ड (1915-1949) में भी लिख रहे थे।

इस तृतीय कालखण्ड में जिन नए प्रमुख लेखकों का पदार्पण हुआ है वे हैं डॉ. महाराज नारायण मेहरोत्रा, दर्शनानन्द, आर.डी. विद्यार्थी, डॉ. श्रवण कुमार तिवारी, डॉ. शिवगोपाल मिश्र, श्री रमेशदत्त शर्मा, श्री विष्णुदत्त शर्मा। जैसा कि हम देखेंगे ये नए लेखक चतुर्थ कालखण्ड (1971 से आगे) में भी सक्रिय बने

हुए हैं।

स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी में विज्ञान लेखन के क्षेत्र में भाषा संस्कार, पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग तथा विषय सामग्री की विविधता जैसे लक्षण देखने को मिलते हैं। विज्ञान विषयक पत्रिकाओं के अलावा साहित्यिक पत्रिकाओं एवं समाचारपत्रों में हिन्दी के विज्ञान लेखकों ने जिस तरह अपने उत्तरदायित्व को निभाया है वह अनूठा है, विशेषतया 1950-1970 की अवधि में। इसीलिए इसे **सर्वोत्थान काल** कहा गया है।

आशा है प्रस्तुत संग्रह के निबन्ध दीर्घस्थायी महत्त्व के और हिन्दी वाङ्मय की अभिवृद्धि के सही प्रतिनिधि साबित होंगे।

इस संकलन के लिए तमाम पत्र पत्रिकाओं में से निबन्धों को ढूँढ़कर सूची बनाने और उनको अन्तिम रूप देने में सर्वश्री डॉ. सुनील कुमार पाण्डेय, देवव्रत द्विवेदी तथा उमेश कुमार शुक्ल ने जो सहायता की उसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं। हम आभारी हैं उन समस्त पत्रिकाओं के जिनमें विभिन्न विज्ञान लेखकों की रचनाएँ 1950-1970 की अवधि में प्रकाशित हो चुकी हैं और पाठकों का ज्ञानवर्धन कर चुकी हैं। उनमें से ही प्रतिनिधि रचनाएँ छाँटकर इक्कीसवीं सदी के प्रबुद्ध पाठकों के मनोरंजनार्थ पुनः प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है ये रचनाएँ लाभप्रद सिद्ध होंगी और हिन्दी में विज्ञान के विकास की सही झाँकी प्रस्तुत करेंगी।

जून 5, पर्यावरण दिवस 2002

शिवगोपाल मिश्र
(प्रधानमन्त्री)
विज्ञानपरिषद् प्रयाग

भूमिका

विगत 150 वर्षों में हिन्दी में प्रचुर विज्ञान साहित्य प्रकाशित हुआ है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व यद्यपि विज्ञान विषयक एकमात्र पत्रिका 'विज्ञान' थी किन्तु सुधा, सरस्वती, माधुरी, वीणा, विशाल भारत इत्यादि साहित्यिक पत्रिकाओं में विज्ञान से सम्बन्धित सामग्री लगातार छप रही थी। इसका विस्तृत विवरण हम 'हिन्दी विज्ञान लेखन के सौ वर्ष' (प्रकाशक विज्ञान प्रसार, नई दिल्ली) में दे चुके हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी में नई-नई वैज्ञानिक पत्रिकाएँ प्रकाश में आती रहीं और कुछ साप्ताहिक पत्रों ने भी विज्ञान सामग्री को प्रमुखता दी। फलस्वरूप अनेक नए विज्ञान लेखक लेखन क्षेत्र में—पत्रिकारिता क्षेत्र में उतरे। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वतन्त्रता परवर्ती विज्ञान साहित्य की पुष्कल राशि प्रकाशित रूप में उपलब्ध है। अतः हमने आवश्यक समझा कि स्वतन्त्रता परवर्ती प्रतिनिधि रचनाओं का एक संग्रह तैयार किया जाए। इसके लिए हमने हिन्दी में विज्ञान लेखन को जिन चार काल खण्डों में नियोजित करने का प्रस्ताव रखा था, उनमें से प्रथम दो कालखण्डों की सामग्री की झाँकी, जो एक सौ वर्षों की है, हिन्दी में 'विज्ञान लेखन के सौ वर्ष' में प्रस्तुत कर चुके हैं।

अगले दो कालखण्ड, जो स्वतन्त्रता परवर्ती हैं, उनमें से तृतीय काल खण्ड 1950 से 1970 तक से सम्बद्ध प्रकाशित वैज्ञानिक रचनाओं की रूपरेखा तैयार की गई। इसके लिए हमने दो प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं का सहारा लिया—(1) वे पत्र जो साप्ताहिक थे—यथा धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान तथा साप्ताहिक आज तथा (2) वे मासिक पत्रिकाएँ जिनमें कुछ साहित्यिक थीं—यथा नवनीत, कादम्बिनी, विशाल भारत आदि और कुछ वैज्ञानिक पत्रिकाएँ—किसान, कृषि और पशुपालन, आपका स्वास्थ्य आदि।

उपर्युक्त पत्र-पत्रिकाओं में 1950 से 1970 की अवधि में प्रकाशित विज्ञान

विषयक महत्त्वपूर्ण निबन्ध जिनको संकलित किया गया, उनकी संख्या इस प्रकार है—

साप्ताहिक : धर्मयुग (59), साप्ताहिक हिन्दुस्तान (27), साप्ताहिक आज (140)=कुल 226

मासिक (साहित्यिक) : नवनीत (12), कादम्बिनी (80), विशाल भारत (46),

(वैज्ञानिक) : विज्ञान (230), विज्ञान प्रगति (65), विज्ञान जगत् (30), विज्ञान लोक (11), किसान (8), किसान भारती (7), कृषि और पशु-पालन (5)= कुल (356)

इन 582 निबन्धों में से तर्क-वितर्क के बाद 59 निबन्धों का चयन हो पाया जिन्हें हम तृतीय काल खण्ड की प्रतिनिधि रचनाएँ कह सकते हैं। ये निबन्ध पहले से अनुभवप्राप्त लेखकों तथा अधिकांशतः नवीन लेखकों द्वारा रचित हैं।

लेखकों, लेखों तथा पत्र पत्रिकाओं के विषय में गम्भीर विश्लेषण से कई बातें उभर कर आती हैं—

(1) वैज्ञानिक पत्रिकाओं के समकक्ष साहित्यिक पत्रिकाओं तथा साप्ताहिक समाचार पत्रों में विविध वैज्ञानिक सामग्री प्रकाशित हो रही थी। इसका लाभ यह हुआ कि विज्ञान लेखकों के लिए विस्तृत क्षेत्र प्राप्त हुआ जिससे विज्ञान को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने के लिए सामयिक विषयों को भी सम्मिलित किया जाने लगा। यही नहीं, रोचकता लाने के लिए नई-नई विधाओं का चयन किया गया। 'नवनीत' तथा 'कादम्बिनी' में विज्ञान लेखन करने के फलस्वरूप प्रेमानन्द चन्दोला, प्रमोद जोशी तथा रमेश दत्त शर्मा की शैलियों में निखार आया। विज्ञान पत्रिकाओं के साथ-साथ साहित्यिक पत्रिकाओं में लेखन यह दर्शाता है कि ऐसे लेखकों का साहित्यिक जगत् में भी स्वागत हो रहा था।

साप्ताहिकों में यद्यपि 'धर्मयुग' तथा 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' अग्रणी पत्र रहे हैं किन्तु 'साप्ताहिक आज' ने जितनी उन्मुक्तता से वैज्ञानिक सामग्री प्रकाशित की उसके फलस्वरूप अधिक से अधिक विज्ञान लेखक उसके प्रति आकृष्ट हुए। ऐसे लेखकों में सन्त बहादुर सिंह, शिवगोविन्द तिवारी, रमाकान्त, अरविंद मोहन, माया प्रसाद त्रिपाठी, दूधनाथ, जयशंकर त्रिवेदी मुख्य हैं। इनके अलावा रामेश वेदी, गुणाकर मुले, डॉ. ब्रजमोहन, भगवती प्रसाद श्रीवास्तव, महाराज नारायण मेहरोत्रा, नवल बिहारी मिश्र, डॉ. शिवगोपाल मिश्र प्रभृति विद्वान् भी 'साप्ताहिक आज में लिख रहे थे।

स्वतन्त्रता के पश्चात् 'विशाल भारत' में चिकित्सा एवं पशुपालन जैसे विषयों पर डॉ. सुरेंद्र नाथ, श्रीराम शर्मा, दूधनाथ सिंह, बाबू राम वर्मा जैसे वरिष्ठ लेखकों

की रचनाएँ छपती रहीं किन्तु इनकी संख्या ज्यादा नहीं थी।

विज्ञान की असली पत्रिकाएँ विज्ञान, विज्ञान प्रगति, विज्ञान जगत्, विज्ञान लोक थीं जिनमें 1950-70 के मध्य उत्तमोत्तम सामग्री प्रकाशित होती रही। कृषि से सम्बन्धित पत्रिकाओं में खेती, कृषि और पशुपालन, किसान, किसान भारती मुख्य रहीं जिनमें प्रकाशित अधिकांश सामग्री छात्रोपयोगी या कृषकोपयोगी रही। चिकित्सा जगत् में 'आपका स्वास्थ्य' पत्रिका में विविध रोगों में लक्षण, उपचार आदि छपते रहे। इसी तरह 'उद्यम' और 'उद्योग व्यापार' पत्रिकाओं में उद्यमियों के लिए सामग्री छपी। दुर्भाग्यवश बालकों के लिए पृथक् से कोई विज्ञान पत्रिका नहीं थी।

विशुद्ध विज्ञान पत्रिकाओं के लेखक प्रायः वे ही रहे जो पत्रों या साहित्यिक पत्रिकाओं में भी लिखते रहे।

प्रायः सारा लोकप्रिय विज्ञान लेखन निवन्धों के रूप में होता रहा है। बाद में कुछ निबन्धकार अच्छे पुस्तक लेखक बने। हमारा प्रयास तो निबन्धों के आधार पर हिन्दी के वाङ्मय में जो वृद्धि हो रही थी उसकी झाँकी प्रस्तुत करना है। इसीलिए हम बहुत तर्क-वितर्क के बाद 59 प्रतिनिधि निबन्ध चुनकर इस खण्ड में दे रहे हैं। इसके बाद दूसरे खण्ड में शताधिक रचनाएँ होंगी। इसमें सन्देह नहीं कि सूचना क्रान्ति के कारण 1970 के बाद का कालखण्ड अधिक रोमांचकारी है किन्तु **'सर्वोत्थान काल'** तो यही तृतीय कालखण्ड (1950-70) है।

इस संग्रह की अपनी सीमाएँ हैं अतः हम उन तमाम रचनाओं को नहीं दे पाए जिनका महत्त्व सामयिक था। इस संग्रह में जिन 54 लेखकों की रचनाएँ हैं उनमें से केवल कुछ की ही दो-दो रचनाएँ दी गई हैं—केवल विविधता के कारण, किसी पूर्वाग्रह के कारण नहीं।

आशा है यह संग्रह नए लेखकों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध होगा और जो जिज्ञासु विज्ञान के क्षेत्र में हिन्दी की प्रयोज्यता पर शोध करना चाहेंगे उनके लिए 'रेडीमेड सामग्री' प्राप्त होगी।

हम आभारी हैं डॉ. विष्णुदत्त शर्मा के, जिन्होंने विज्ञान परिषद् प्रयाग की योजना को पूर्ण करने का बीड़ा उठाया, परिषद् द्वारा प्रदत्त सामग्री का परिष्कार किया और मेरे साथ सम्पादक का कर्तव्य-निर्वाह ही नहीं किया अपितु शोध प्रकाशन अकादमी से इस संग्रह को प्रकाशित करके पुण्यकार्य किया। एतदर्थ धन्यवाद ज्ञापित है।

—शिवगोपाल मिश्र

सत्यमिति सत्यवचा
राथीतरः तप इति
तयोनित्यः पौरुशिष्टिः
स्वाध्यायप्रवचने
एवेति नाको मौद्गल्यः।
तद्धि तपस्तद्धि तपः।
तैतिरीयोपनिषत।

सत्यनिष्ठ राधीतर ने कहा, 'इस संसार में सत्य ही सब कुछ है।' तपोनिष्ठ पौरुशिष्टी ने कहा, 'तप ही सब कुछ है।' परन्तु नाक् मौद्गल्य ने कहा, इस विश्व में सब कुछ और सबसे बड़ा तप है—स्वाध्याय (ज्ञान की प्राप्ति) और प्रवचन (ज्ञान का प्रसार)।'

अनुक्रमणिका

1

कृमिनाशक*

प्रो. फूलदेवसहाय वर्मा

हमारा भूमंडल कीड़ों से भरा हुआ है। वैज्ञानिकों ने कई हजार कीड़ो का अब तक पता लगाया है। साधारणतः जब हम कीड़ों के संबंध में सोचते हैं तब हमें ऐसे छोटे-छोटे कीड़ों का स्मरण हो आता है जो हमें बराबर कष्ट पहुंचाया करते हैं। आश्चर्य है कि हमें उन अनेक कीड़ों का उस समय ध्यान नहीं आता जो मनुष्य-मात्र के लिए बड़े उपयोगी हैं। हम साधारणतः रेशम के कीड़े, मधुमक्खियों और लाह के कीड़ों सदृश कीड़ों से परिचित हैं जो व्यवसाय के अनेक पदार्थों को उत्पन्न करते, इकट्ठा करते और कड़े परिश्रम से संचित रखते हैं। अनेक ऐसे भी कीड़े हैं जो फल, बीज, शाक-भाजियों और फूलों के उत्पादन में सहायता करते हैं। अनेक कीड़े, मछलियां, पक्षियों, बत्तकों, मुर्गों इत्यादि के और हमारे खाद्य आहार हैं। अनेक ऐसे भी कीड़े हैं जो हानिकर कीड़ों को खा जाते हैं। हानिकर पेड़-पौधों को नष्ट कर देते हैं मिट्टी की दशा को सुधार कर खेतों को उपजाऊ बनाते और अनेक अनिष्टकर पदार्थों का विनाश कर सफाई का काम करते हैं। कुछ ऐसे भी कीड़ें है जो भोजन का काम देते है और वैज्ञानिक अनुसंधान में काम में आते हैं। अपेक्षया ऐसे कीड़ों की संख्या कम है जो अनिष्टकर हैं। अनिष्ट अथवा क्षति करने की क्षमता का कीड़ों के परिणाम, रूप और रंग से कोई संबंध नहीं विदित होता। वास्तव में अधिकांश अनष्टिकर कीड़े छोटे और सामान्य होते हैं।

कीड़े मनुष्य-मात्र के लिए इस कारण अनिष्टकर हैं कि वे फसलों और अन्य पेड़-पौधों को नष्ट कर देते, मनुष्य और अन्य पशुओं पर आक्रमण करते और उन्हें कष्ट पहुंचाते हैं। वे संचित पदार्थों, खाद्य, वस्त्रों, अनाजों, औषधियों, पुस्तकों, लकड़ी के सामानों, कुरसी, मेजों और गृह-निर्माण की लकड़ियों को नष्ट कर देते

* खन्ना अभिनंदन-ग्रंथ, 1950

अथवा क्षति पहुंचाते हैं। कीड़ों से जो क्षति होती है वह प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से उनके खाद्य प्राप्त करने के प्रयत्न से होती है। भारत-सरकार के खाद्य मंत्री की ओर से ऐसा अनुमान है कि प्रतिवर्ष प्रायः 20 लाख टन (एक टन प्रायः 27 मन का होता है) खाद्य-अन्न गोदामों में कीड़ों से नष्ट हो जाता है। कीड़े पौधों को खाते और उन्हें नष्ट कर देते हैं। कुछ कीड़े प्राणियों और पौधों के रोगों को भी फैलाते हैं। संक्षेप में कीड़े फसल को आक्रांत करते और पत्तियों, शाखों, तनों, जड़ों, कलियों, फूलों और फलों को नष्ट कर देते हैं। घरेलू पशुओं को वे काटते और कष्ट पहुंचाते हैं। मनुष्यों को भी काटते और रोगों के सूक्ष्माणुओं को शरीर में प्रविष्ट कराते हैं। हमारे खाद्यों को वे दूषित करते, वस्त्रों को नष्ट करते, पुस्तकों, कागजों और घर के लकड़ी के सामानों को खा जाते हैं।

कीड़ों के क्षति पहुंचाने की क्षमता अधिकांश इस बात पर निर्भर करती है कि उनमें उत्पादन की क्षमता बहुत अधिक है और इससे उनकी संख्या की वृद्धि बड़ी शीघ्रता से होती है। इन हानिकर कीड़ों के प्रभाव के रोकने के अनेक उपाय हैं। कुछ तो प्राकृतिक हैं और कुछ कृत्रिम। कीड़ों की वृद्धि रोकने की कुछ रीतियां जैविक (biological) हैं, कुछ वैध (legal) और कुछ प्राकृतिक। मैं यहां उन्हीं उपायों का वर्णन करूंगा जिनको मनुष्यों ने हानिकर कीड़ों के विनाश के लिए निकाला है। ये उपाय भौतिक हो सकते हैं अथवा रसायनिक। भौतिक उपायों में हाथ से मारना, यंत्रों से दूर भगाना, जालों में पकड़ना, कृत्रिम ढंग से ठंडा कर उनको नष्ट करना, अधिक तपाना, जलाना, पानी में डुबाना, पानी में बहाना और बिजली द्वारा विनाश करना है। भौतिक रीतियों का क्षेत्र सीमित होता है क्योंकि इनका कीड़ों के खाद्य और आस-पास के पदार्थों पर भी हानिकारक प्रभाव पड़ता है। आजकल अधिकता से रसायनिक रीतियों का उपयोग होता है। जिन जिन रसायनिक द्रव्यों से कीड़ों का विनाश किया जाता है उन्हें 'कृमिनाशक' कहते हैं। कुछ लोग उन्हें 'कीटघ्न' भी कहते हैं। ईसा के जन्म से एक हजार वर्ष पूर्व भी कृमिनाशक के प्रयोग का उल्लेख मिलता है, पहले जो कृमिनाशक थे उनका आवश्यक गुण विषैला होने की अपेक्षा दुर्गंध होना अधिक महत्त्व का था। आजकल जितने कृमिनाशक प्रयुक्त होते हैं। उन्हें हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम उदर-विष, दूसरे स्पर्श-विष और तीसरे धूम।

धूम ऐसे विष हैं जो कीड़ों के मारने के लिए गैस के रूप में प्रयुक्त होते हैं। स्वांस-नली के द्वारा ये कीड़ों पर काम करते हैं। साधारणतया घर में रहनेवाले कीड़ों के विनाश के लिए धूम प्रयुक्त होते हैं। कारखानों, अनाज और बीजों के

गोदामों और छोटे-छोटे पौधों के कीड़ों से बचाने के लिए जहां दवाइयां छिड़कना संभव नहीं होता, धूम प्रयुक्त होते हैं। प्लेग की बीमारी रोकने के लिए चूहों के मारने में भी धूम का ही प्रयोग होता है।

यह काम ऐसे बंद स्थान में होता है जिसकी सब खिड़कियां और रोशनदान बंद हों। यहां धूम के चुनने में सावधानी की आवश्यकता है। धूम ऐसा होना चाहिए कि जिसका आस-पास के पदार्थों पर कोई बुरा असर न पड़े। स्थान का जितना क्षेत्र हो उसी के अनुपात में धूम की मात्रा होनी चाहिए। इस काम के लिए ऐसा आदमी होना चाहिए जो उस काम से पूरा परिचित हो और उससे वहां के लोगों और पदार्थों पर जो बुरा प्रभाव पड़ने की संभावना हो उसके निराकरण के उपाय से पूरा परिचित हो। धूम देने के समय किसी को स्थान पर नहीं रहना चाहिए। इस काम के लिए जो धूम प्रयुक्त होते हैं उनमें सल्फर डायक्साइड, निकोटिन, हाइड्रोस्यानिक अम्ल, कार्बन डाय-सल्फाइड, पाराडाइक्लोरोबेंजीन, एथिलीन आक्साइड, क्लोरोपिक्रीन, कार्बन टेट्राक्लोराइड और एथिलीन क्लोराइड है। इनमें अधिकांश लवण जन्य तत्त्वों के संयोग है जिनके प्रस्तुत करने के लिए बनारस हिंदू युनिवर्सिटी के रसायन-शाला में अनेक वर्षो से विशेष रूप से प्रयोग और अनुसंधान हो रहे हैं। धूमों में हाइड्रोस्यानिक अम्ल और एथिली आक्रमण कीड़ों के विनाश में अधिक प्रभावशाली है। नीबू और संतरों के पेड़ों के लिए हाइड्रोजन अम्ल अधिकता से प्रयुक्त होता है। हरित बागों और घरों में विशेषकर चूहों के मारने में भी इसका उपयोग होता है। थोड़ी मात्रा में इसे सोडियम सायनाइड पर गंधकाम्ल की क्रिया से प्राप्त करते हैं। बड़ी मात्रा में तरल रूप में नलों में बाजारों में बिकता है। एथिलीन आक्साइड शीघ्र उबलने वाला तरल है जो अधिक वाष्पशीलता के कारण सरलता से उपयुक्त होनेवाला पदार्थ है। कार्बन डाईऑक्साइड के साथ मिला हुआ 'कार्बोक्साइड' के नाम से यह बिकता है। यह जलता नहीं है, विस्फोटक भी नहीं है और अनाज के स्वाद पर इसकी कोई हानिकर किया भी नहीं होता है।

उदर-विष ऐसे पदार्थ हैं जो कीड़ों के खाद्य को विषैला कर देते हैं। वे ऐसे पदार्थो के साथ मिल कर प्रयुक्त होते हैं जो साधारण खाद्य की अपेक्षा आकर्षक और स्वादवाले हैं। कीड़ों के खाद्य में मिलाकर इन्हें इतनी मात्रा में रख देते हैं कि ये कीड़े खाद्य के साथ खा जाएं और उनकी मृत्यु हो जाए। उदर-विष पर्याप्त विषैला होना चाहिए ताकि कीड़े शीघ्र मर जाएं। उसका मूल्य भी अधिक न होना चाहिए। यह बड़ी मात्रा में प्राप्त होने वाला और पर्याप्त स्थायी रसायनिक-द्रव्य

होना चाहिए। कीड़ों के भगाने का इसमें गुण नहीं होना चाहिए। इस प्रकार के विषों में अधिकता से प्रयुक्त होनेवाले पदार्थ आर्सेनिक और फ्लोरीन के संयोग (कम्पाउण्ड) हैं। पैरिस हरित (कौपर आर्सीनाइट और कौपर एसिटेट का युग्म लवण) लेड आर्सीनेट क्रामिकलेड, आर्सीनेट, कैलसियम आर्सीनेट साधारण आर्सेनिक संयोग हैं जो उदर-विष के रूप में प्रयुक्त होते हैं। ये बड़े तेज विष हैं पर इनके प्रयोग में बड़ी सावधानी की आवश्यकता पड़ती हैं क्योंकि ये मनुष्य के लिए भी विषैले हैं। फलों के संरक्षण में यदि ये प्रयुक्त हों तो फलों को बड़ी सावधानी से पूर्ण रूप से धो देना चाहिए।

आर्सेनिक के संयोगों के अतिरिक्त अन्य विषों में सोडियम क्लोराइड, बेरियम बोरो-सिलिकेट, सोडियम बोरो-अलुमिनेट, कीड़ों के मारने के सफल विष हैं। ये भी मनुष्यों के लिए बड़े तीव्र विष हैं और इनके छूने और प्रयोग में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है।

अनेक पौधों के जड़ों से एक पदार्थ प्राप्त होता है जो अनेक समय से अनेक देशों में मछलियों के मारने के लिए उदर-विष के रूप में प्रयुक्त होता आया है। यह पौधा अनेक उष्ण अथवा अर्ध-उष्ण देशों में उपजता है। इस पौधे से जो विष प्राप्त होता है उसे 'रोटीनोन' कहते हैं। बच (डेरिसजड़) के क्लोरो-फार्म अथवा कार्बन टेट्राक्लोराइड के द्वारा निष्कर्ष से यह प्राप्त होते हैं। बिलायक को दूर कर अवशेष को ऐसे विलायक में घुलाते हैं जो जल में विलेय हो। साधारणतः जड़ों को चूर्ण बनाकर भी प्रयुक्त करते हैं। रोटीनोन वाले पदार्थ उदर-विष होते हैं और स्पर्श-विष भी।

उदर-विष उस दशा में उपयोगी नहीं सिद्ध होते जब कीड़े तल के नीचे से निकालकर भोजन करते हैं। ऐसे कीड़ों की चोंचें लंबी होती हैं। ऐसे कीड़ों के लिए स्पर्श-विष आवश्यक है। स्पर्श-विष में कीड़ों के शरीर में विष मुंह के द्वारा प्रविष्ट न होकर अन्य भागों से शरीर में प्रविष्ट करता है। ऐसे विषों में गंधक और गंधक के संयोग, निकोटिन सल्फेट पिरेथ्रम, रोटीनोन, तेल के इमलशन, 666 और डी.डी.टी. हैं।

एक समय गंधक और गंधक के संयोग बहुत विस्तार से स्पर्श-विष के रूप में प्रयुक्त होते थे लेकिन अब वे अधिक नहीं प्रयुक्त होते हैं। इसका कुछ कारण तो यह है कि इनमें दाहक गुण होता है और दुर्गंध होती है पर मुख्य कारण यह है कि अब अन्य अच्छे स्पर्श-विष ज्ञात हैं।

तंबाकू के पत्तों और तनों से निकोटीन प्राप्त होता है, संभवतः स्पर्श-विषों

में सबसे अधिक प्रयुक्त होनेवाला विष निकोटीन सल्फेट है। साबुन के विलयन के साथ मिलाकर यह प्रयुक्त होता है। इससे अधिक-तल पर यह छिड़का जा सकता है। पौधों के पत्तों पर निकोटीन धीरे-धीरे मुक्त होता और वह कीड़ों को मार देता है। कागज को निकोटीन के विलयन में डुबाकर सुखाकर जलाने से जो धुआं प्राप्त होता है वह हरित बागों और चिड़ियों के घरों के लिए प्रयुक्त होता है। शाक-भाजियों के छोटे पौधों के लिए तम्बाकू के पत्तों को जल में उबालकर जो विलयन प्राप्त होता है वह कीड़ों के विनाशकारी काम के लिए उपयुक्त होता है। जल में दशमलव शून्य पांच (0.05) प्रतिशत विलयन इसके लिए पर्याप्त है। इसके 100 गैलन विलयन के लिए 20 से 100 पाउण्ड तक तंबाकू प्रयुक्त हो सकता है। तंबाकू की वास्तविक मात्रा निकोटीन की मात्रा पर निर्भर करती है। निकोटीन को चूर्ण के रूप में भी प्रयुक्त कर सकते हैं। इस रूप में ही यह अधिकता से प्रयुक्त होता है। चूर्णरूप में प्रयुक्त होने के लिए निकोटीन को चूना, गंधक अथवा अन्य इसी प्रकार के हल्के पदार्थों के साथ मिलाकर प्रयुक्त करते हैं। इसके लिए स्वयं निकोटीन या निकोटीन सल्फेट दोनों ही प्रयुक्त हो सकते हैं। साधारणता निकोटीन का पत्तों पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। संभवतः बहुत छोटे कोमल पत्तों पर इसका कुछ बुरा प्रभाव पड़ता हो।

पानी में किरासन मिलाकर इमलशन बनाकर पहले कृमिनाशक के रूप में अधिकता से व्यवहृत होता था पर कोमल पत्तों पर हानिकर प्रभाव के कारण इसका उपयोग अब उठ गया है। चूंकि यह सरलता से प्राप्त होता है इससे अब भी कुछ सीमा तक लोग इसे प्रयुक्त करते हैं। इस काम के लिए आधा पाउंड साबुन को उबालकर पानी में घुलाते हैं। आग से हटाकर उसमें 2 गैलन किरासन तेल मिलाते हैं और फिर उसे जोरों से मथकर एक गैलन पानी डालकर मलाई सा इमलशन तैयार करते हैं। इस इमलशन को इसी रूप में अथवा 1 भाग इमलशन में 7 भाग पानी मिलाकर पौधों पर छिड़कते हैं पौधों के कीड़ों को नष्ट करने के लिए एक पाउंड साबुन को 4 या अधिक गैलन पानी में घुलाकर प्रयुक्त करना चाहिए। इस साबुन के विलयन के साथ निकोटीन अथवा आर्सेनिक के संयोगों को भी मिला सकते हैं।

पिरेथ्रम के फूलों में एक विषाक्त पदार्थ होता है जिसको पिरेथ्रीम कहते हैं। यह कार्बन का एक संयोग है जिसमें नाइट्रोजन नहीं होता। पिरेथ्रम जापान में बहुत उपजता है। थोड़ी मात्रा में युगोस्लोवाकिया, पूर्वी अफ्रिका और ब्राजील में भी उपजता है इन फूलों से क्रियाशील अवयव को कार्बन टेट्राक्लोराइड के

द्वारा निकालकर 60° श. से निम्न ताप पर शून्य में स्रवित कर एक मोम सा पदार्थ प्राप्त करते हैं जो किरासन में घुलता है और इससे कृमिनाशक द्रव बनता है। इसके प्रबल विलयन को पानी में घुलाकर बागों में छिड़कते हैं। इससे मक्खियां, तैलचट और खटमल मर जाते हैं। इस द्रव की क्रियाशीलता को बढ़ाने के लिए कुछ उत्तेजक उसमें डालते हैं। गत विश्व-युद्ध में जापान से पिरेथ्रम का आना बंद हो गया था इसके स्थान में अन्य कृमिनाशक की खोज शुरू हुई और इसके फलस्वरूप अनेक कृमिनाशकों का पता लगा। इनमें कुछ तो पिरेथ्रम से भी अधिक प्रभावशाली है। इनमें अधिकांश ऐसे हैं जो रसायन-शाला में कृत्रिम रीति से तैयार हुए हैं। इन अनुसंधानों से पता लगा है कि अनेक उद्भिद तेलों को तंबाकू के साथ इमलशन बनाने से भी प्रबल कृमिनाशक प्राप्त होते हैं और उन अनेक कीड़ों को जो पत्तों को खाते और चूसते हैं नष्ट कर डालते हैं।

अपेक्षया थोड़े समय से ही कार्बनिक रसायनिक द्रव्यों का व्यवहार कृमिनाशक के रूप में हो रहा है। गत महायुद्ध के बाद ही ये उपयोग में आए हैं। अकार्बनिक कृमिनाशकों की अपेक्षा इनसे लाभ यह है कि ये मनुष्य तथा अन्य बड़े प्राणियों के लिए इतने विषैले नहीं हैं। वस्त्रों को कीड़ों से सुरक्षित रखने के लिए नैपथ्लीन की गोलियां अनेक वर्षों से व्यवहृत होती चली आई हैं। यह अलकतरा से प्राप्त होता है और कीड़े इसकी गंध से भाग जाते हैं। एक ट्रंक वस्त्र की रक्षा के लिए 2 पाउण्ड नैपथ्लीन की आवश्यकता पड़ती है। खेतों और हरित घरों के धूम के लिए भी यह अच्छा कृमिनाशक है। पाराक्लोरोबेंजीन एक सस्ता और उपयोगी धूम है जो खेतों, वस्त्रों और कुछ सीमा तक अनाजों के लिए उपयुक्त हो सकता है।

डी.डी.टी. संक्षिप्त रूप है उस कार्बनिक संयोग का जिसे डाइक्लोरो डाइफेनिल ट्राइक्लोरो इथेन कहते हैं। इस संयोग के आविष्कारक एक जर्मन रसायनज्ञ हैं जिन्होंने प्रायः 75 वर्ष पहले इस संयोग को तैयार किया था। पर इसके कृमिनाशक गुण का पता गत महायुद्ध में ही लगा है। आज तक जितने कृमिनाशक ज्ञात है उनमें यह सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है। यह घर की मक्खियों, खटमलों, चीलरों, मच्छरों और अन्य छोटे कीड़ों के लिए बड़ा विषाक्त है पर मनुष्य और घरेलू पशुओं के लिए विषाक्त नहीं है। यह चूर्ण के रूप में अथवा इमलशन के रूप में व्यवहृत हो सकता है। बाजारों में डी.डी.टी. से बने अनेक कृमिनाशक आज बिकते हैं। इस देश में प्राप्त पदार्थों से यह सरलता से तैयार हो सकता है। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के रसायनशाला में जो प्रयोग हुए हैं उनसे विदित होता है

कि इसके निर्माण की विधि बडी सरल है। और रसायन का कोई भी ग्रेजुएट इन विधियों पर प्रभुत्व प्राप्त कर सकता है। 666 एक कार्बनिक संयोग का व्यावसायिक नाम है जिसे बेंजीन हेक्सा-क्लोराइड कहते हैं। इस संयोग की तैयारी में कार्बन के 6 परमाणु, हाइड्रोजन के 6 परमाणु और क्लोरीन के 6 परमाणु चाहिए। इसी से इसका नाम 666 पड़ा है। दिल्ली के कृषि-विज्ञान में इस संयोग से जो अन्वेषण हुए हैं उनसे पता लगता है कि खाद्य-अन्नों अथवा बीजों के संरक्षण के लिए यह एक अच्छा कृमिनाशक है।

2

प्राणियों में संतान-प्रेम*

उमाशंकर श्रीवास्तव

सृष्टि के निरंतर प्रवाह के लिए प्रकृति ने प्रत्येक जीव में अपनी जाति तथा कुटुम्ब के प्रसार के लिए मनोवृत्तियों का जन्म दिया है। वासना, विवाह अथवा संतान-प्रेम सभी इस प्रकार की मनोवृत्तियों से संबंधित हैं क्योंकि इनका उद्देश्य वस्तुतः कुटुम्ब की रक्षा तथा वृद्धि है। मनुष्य-समाज में इन्हीं मनोवृत्तियों का अधिक संस्कृत रूप देखने में आता है किंतु मौलिक भावनाएं वे ही हैं।

मानव-शिशु जन्मोपरांत बहुत काल तक दूसरों पर आश्रित रहता है। उसके भोजन, प्यास तथा अन्य शारीरिक आवश्यकताओं के लिए माता-पिता तथा कुटुम्ब के अन्य जन देखरेख करते हैं। इस प्रकार क्रमशः बड़े होने पर वह शारीरिक आवश्यकताओं के लिए दूसरों पर कम से कम आश्रित रहता है। पर समाज की जटिलता के कारण उसको शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता होती है और तब एक निश्चित शारीरिक और मानसिक अवस्था तक पहुंच कर वह स्वतंत्र-रूप से जीवन-यापन करने के योग्य बनता है।

साधारण-जन के विचार में मनुष्येतर अन्य प्राणी भावना-शून्य होते हैं। यदि कोई मनुष्य सुरापान करने में इतना मग्न हो जाता है कि वह अपने परिवार की चिंता ही नहीं करता या अन्य दुष्कर्मों में लिप्त रहता है तो लोग उसे 'जानवर' की उपाधि प्रदान करते हैं। किंतु यह ठीक नहीं है। वास्तव में जिन प्राणियों को हम अत्यंत क्षुद्र समझते हैं उनमें भी सुंदर-भावनाओं की अपूर्व झांकियां देखने को मिलती हैं। अन्य प्राणियों में भी बहुधा संतान के पालन-पोषण और उनके प्रीति-प्रेम के अद्भुत उदाहरण देखने को मिलते हैं। आइए, हम ऐसे ही कुछ अनुपम दृश्यों की खोज में प्राणी जगत् की सैर करें। मनुष्य के निकटतम संबंधी वानर-वर्ग

* विज्ञान, अक्टूबर 1951

से तो सभी भली भांति परिचित होंगे। बंदर अपने निवास के लिए घर नहीं बनाते और न घोंसलों का निर्माण करते हैं। कंदराओं, गुफाओं, पेड़ों की सघन छाया या हमारे आपके घर—सभी उनके लिए अपने घर जैसे हैं। इस अवस्था में अपने शिशुओं की सुरक्षा का प्रश्न उनके समीप अधिक कठिन रहता है। वे उन्हें कहीं छोड़ कर नहीं जा सकते। फलतः जन्म के बाद से ही माता अपने बच्चे को सीने से लगाए रहती हैं। हमारी भांति बंदर के बच्चे भी जन्म के कुछ काल बाद तक केवल माता का दूध ही पी सकते हैं। अतः माता उन्हें छाती से लिपटाए अपने भोजन की खोज में स्थान स्थान घूमती-फिरती, उछलती-कूदती रहती है। कुछ बड़े होने पर माता-पिता तथा गिरोह के दूसरे बंदर उसे अपने साथ रखकर उछलना-कूदना तथा 'वानरोचित' अन्य क्रियाओं की शिक्षा देकर दक्ष बना देते हैं। बंदर के ही समान कुछ अन्य दूध पिलाने वाले प्राणी भी अपने शिशुओं को अपने कलेजे से लगाए फिरते हैं। चमगादड़ के छोटे बच्चे तब तक अपनी मां के पेट से चिपके रहते हैं जब तक वे स्वयं अपने छतरी जैसे पंखों का उपयोग न कर सकें ऐसी अवस्था में मां दिन भर पेड़ों की डालों से लटकी रहती है और रात होने पर डालों पर उचकती और कीड़ों-मकड़ों का शिकार करती रहती है। चूहे, खरगोश, लोमड़ी आदि अपने बच्चों की रक्षा के लिए बिल बनाते हैं और समय-समय पर ही दूध पिलाते अथवा बाहर निकाल कर चलना-फिरना आदि सिखाते हैं। किंतु ये उनकी रक्षा किस प्रकार जी-जान से करते हैं, सब को विदित है। उनकी तो बात ही छोड़िए, आपके घर में पली ग़ाय या कुतिया भी शायद ही आपको अपने छोटे बच्चों के निकट पहुंचने दे।

इसी संबंध में आस्ट्रेलिया के विचित्र प्राणी कंगारू के विषय में कुछ कहना उचित होगा। यह विचित्र जानवर अपनी दो बड़ी पिछली टांगों से सरलता से चलता फिरता है। आवश्यकता पड़ने पर उन्हीं की सहायता से यह बड़ी ऊंची उछालें भी मारता है। इसकी मादा के पेट में सामने की ओर एक बड़ी खुली थैली होती है जिसके भीतर माता के स्तन होते हैं। जन्म के समय कंगारू के बच्चे अत्यंत छोटे-लगभग एक इंच लंबे और अविकसित होते हैं—आंखें बंद, रोंए नाम को नहीं और टांगे एक दम पतली और कमजोर। पैदा होने पर ये माता की घुमावदार पूंछ पर ढुलककर उसकी थैली में पहुंच जाते हैं और स्तन मुंह में दाब लेते हैं। स्तन मुंह के भीतर फूल उठता है जिससे बच्चा एक प्रकार से फंस जाता है। बस इसी अवस्था में वह महीनों थैली के भीतर पड़ा रहता है और धीरे-धीरे बढ़ता है। कंगारू-माता बच्चे को थैली में डाले ही घूमती फिरती और

उछलती-कूदती है। कुछ बड़ा होने पर बच्चे थोड़ी-थोड़ी देर के लिए बाहर निकाले जाते हैं और थोड़ा-बहुत शिक्षण के बाद फिर थैली में डाल लिए जाते हैं। हृष्ट-पुष्ट होने पर ये सदा के लिए माता की थैली के बाहर कर दिए जाते हैं और स्वतंत्र जीवन यापन करते हैं।

ये तो हुए बच्चे देने वाले प्राणियों के संतान-रक्षा के कुछ उदाहरण। अंडे देने वाले प्राणियों के भी अंडों-बच्चों की देखभाल के अनेक सुंदर दृष्टांत मिलते हैं। साधारणतः अंडे देने वाले प्राणी निचली श्रेणी के होते हैं। उनमें बुद्धि का विकास क्षीण होता है अतः उन्हें अपने जीवन की आवश्यकताओं के लिए बहुत कुछ प्रकृति के ऊपर ही निर्भर रहना पड़ता है। बच्चों की रक्षा और विकास के लिए भी उनके प्रयत्न सीमित रहते हैं। इसलिए साधारणतः ये प्राणी गिनती में अधिक अंडे-बच्चे उत्पन्न करते हैं। अभिप्राय यह है कि अंडे इतने हो कि प्रतिकूल वातावरण में बहुतेरे अंडे बच्चों के नष्ट हो जाने पर भी कुछ कुटुम्ब बनाए रखने के लिए बच जाएं। चिड़ियों के अंडे सेने और बच्चों के टुंगाने से हम सभी परिचित हैं। कबूतर, मुर्गी आदि पालने वाले जानते हैं कि इनकी मादाएं किस लगन के साथ इस काम को करती हैं। बहुधा नर चिड़ियां भी इस कार्य में हाथ बटाती हैं। अंडों के फूटने पर माता-पिता दोनों अपनी चोंचों में आहार भर कर लाते हैं और बेताबी से परखते हुए बच्चों को खिलाते हैं। घोंसले की चौकीदारी का काम अधिकतर नर करते हैं। मेरे एक चित्र के यहां पले हुए एक मुर्गे ने अंडों की लालच में दर्बे की ओर जाने वाले कई लड़कों के सिर खोल दिए। कहीं नहीं, कुछ पक्षियों में संतान की सेवा-शुश्रूषा का अधिकांश भार नर ही अपने ऊपर ले लेते है। शुतुर्मुर्ग, किवी आदि चिड़ियों में पिता ही अंडों के सेने और बच्चे को पालने का काम करता है।

कुछ चिड़ियां अंडों के सेने में उतनी दत्तचित्त रहती हैं कि उनको इसकी भी पर्वाह नहीं रहती कि वे अपने ही अंडे से रही हैं या दूसरी चिड़ियों के। कौए और कोयल की कहानी प्रसिद्ध है। कोयल सदा अपने अंडे कौवों के ही घोंसलों में रखती है और कौए उसे अपने अंडों के समान सेते हैं।

पिता द्वारा संतान की देखरेख के कुछ बड़े अद्भुत उदाहरण मेंढकों की कुछ जातियों में मिलते हैं। 'पाइपा' जाति के मेंढकों में माता अंडे देते समय ही उन्हें पिता की पीठ पर चिपका देती है। पिता तब तक उन अंडों को चिपकाए घूमता है जब तक उनसे तैरने वाले बच्चे नहीं निकल आते। चिली के एक मेंढ़क का ढंग और भी निराला है। इसको बहुधा 'डार्विन का मेंढक' कहते हैं। इस जाति

में माता जैसे ही अंडे देती है, पिता उन्हें निगल जाता है और अपने गले में स्थित एक थैली में जमा कर लेता है। अंडे इसी थैली में फूटते हैं और बच्चों को बढ़ने के लिए और भी स्थान की आवश्यकता होती है। फलतः थैली बढ़ती जाती है और धीरे-धीरे सारे शरीर के ऊपर फैल जाती है। बच्चे जब तक बिल्कुल मेंढक की शक्ल के और फुदकने योग्य नहीं हो जाते इसी थैली में बने रहते हैं। ठीक अवस्था के होने पर ये थैली फाड़कर बाहर निकल आते हैं।

कई जाति की मछलियां भी अपने अंडे-बच्चों की सुरक्षा का प्रबंध करती हैं। अंडे देने के लिए पानी में सिवार आदि के बीच घोंसले बनाती हैं और स्वयं उसके आसपास रहती हैं।

समुद्री-घोड़ा भी एक प्रकार की मछली ही है। इसकी लंबाई लगभग 4-6 इच होती है और यह तेज़ी से तैर नहीं सकती। अधिकतर यह अपनी लंबी पतली पूंछ के सिरे को किसी बहती हुई चीज़ में लपेट लेती है और उसके सहारे स्वयं बहती जाती है। इस मछली में भी नर को अंडों की रक्षा का कार्य संभालना पड़ता है। इसके पेट में सामने की ओर एक गड्ढा होता है जिसमें मादा अंड़े देती है। बाद को गड्ढा एक थैली की भांति बंद हो जाता है। अंडे जब तक थैली में रहते हैं, पिता के रक्त के द्वारा पोषित होते हैं—वैसे ही जैसे माता की कोख में भ्रूण पोषित होता हैं। अंत में बच्चे स्वयं तैरने के योग्य हो जाते हैं और थैली के बाहर आ जाते हैं।

निम्न श्रेणियों के कीड़ों मकोड़ों में भी संतान रक्षा के प्रयत्न बहुधा दिखाई पड़ते हैं। मधुमक्खियों की रानी अपने अंडों-बच्चों को बराबर चाटती है और उनको अपने पेट का पचा भोजन खिलाती है। बरसात का भय होने पर चींटियां अपने अंडों को अपने मुंह में दबाए एक जगह से दूसरी जगह सुरक्षित स्थान की खोज में घूमती हैं। कितने ही दूसरे कीड़े-मकोड़े अंडों-बच्चों के ही लिए छत्ते, बिल या घोंसले बनाते हैं। गुबड़ैले की जाति का एक कीड़ा 'पाइपा मेंढक' के ही समान आदमी पीठ पर अपने अनेक अंडों को चिपका लेता है और इस प्रकार शत्रुओं से उनकी रक्षा करता है।

3

हमारे पोषक तत्व*

श्रीमती राधा पंत

कुछ समय पूर्व यह विश्वास किया जाता था कि मनुष्य तथा अन्य पशुओं के खाद्य के सभी आवश्यक पदार्थ केवल जल, कार्बोहाइड्रेट, प्रत्यामिन[1] या मांस वर्द्धक पदार्थ, चिक्कण पदार्थं तथा खनिज लवणों से बने होते हैं इनमें पानी प्रायः सभी खाद्यों में होता है; कार्बोहाइड्रेट जैसे शर्करा और श्वेतसार मुख्यतः अनाजों और फलों में होते हैं, चिक्कण पदार्थ जैसे तेल और घृत वनस्पतियों के बीजों तथा जानवरों के दूध और अंगों से निकाले जाते हैं, प्रत्यामिन मुख्यतः दालों और मांस आदि में होते हैं तथा खनिज लवण प्रायः प्रत्येक खाद्य में विशेषकर हरी शाक भाजियों और फलों में होते हैं।

परंतु हमारे स्वास्थ्य संबंधी ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ धीरे-धीरे वैज्ञानिकों और चिकित्सकों को शंका होने लगी कि शायद भोजन में इन पदार्थों के अतिरिक्त अन्य कुछ वस्तुओं का होना भी अनिवार्य हो, और अन्य कुछ प्रयोगों से यह प्रत्यक्ष होने लगा कि शरीर को स्वस्थ और नीरोग रखने के लिए लघु मात्रा में आवश्यक पोषक तत्त्वों का होना भी आवश्यक है। अंत में हापकिन्स तथा अन्य पाश्चात्य वैज्ञानिकों के विविध प्रयोगों ने इस शताब्दी के प्रारम्भ में इन विचारों की पुष्टि कर दिखाई। हापकिन्स ने सर्व प्रथम 1912 में यह सिद्ध कर दिया कि दूध से पृथक किए हुए केवल विशुद्ध प्रत्यामिन, शर्करा, लवण और चिक्कण पदार्थों को खिलाने से चूहे के बच्चों की बाढ़ ठीक नहीं होती परंतु यदि उन्हें थोड़ी सी मात्रा में भी दूध पिलाया जाए तो वे आदर्श रूप से बढ़ने लग जाते हैं। शीघ्र ही आराकमैन, पैकैल हैरिगं, आसबार्न तथा मेंडल आदि के वैज्ञानिक अन्वेषणों

---

* विज्ञान, सितम्बर 1951

1. प्रोटीन

से यह पूर्ण रूप से ज्ञात हो गया कि प्रशीताद, बेरीबेरी, बालचक्र या रिकेट्स और रतौंधी आदि विकार इन आवश्यकता पोषक तत्त्वों की कमी के कारण ही होते हैं।

सन् 1911 में फंक नामक वैज्ञानिक ने चावलों को छांट कर उनके छिलके के अंदर के भाग से एक पदार्थ निकाला जिसे खिलाने से चिड़ियों की बेरीबेरी का उपचार हुआ अतएवं उसने इस पदार्थ का नाम विटामिन या जीवन ऐमीन (तत्व) रखा। परंतु आज इस शब्द का उपयोग भोजन के सभी पोषक तत्वों के लिए होता है।

विटामिनों या पोषक तत्वों की ठीक ठीक व्याख्या करना संभव नहीं परंतु उनके मुख्य तीन गुण इस प्रकार के हैं–

प्रथम, भोजन के बहुमात्रा में लिए जाने वाले पदार्थों में से किसी एक पदार्थ के बदले दूसरे पदार्थ का उपयोग हो सकता है परंतु प्राणियों की प्रत्येक जाति के लिए विशेष मात्राओं में आवश्यक पोषक तत्वों की मात्रा आदि में कोई अंतर करना संभव नहीं। उनके स्वास्थ्य एवं जीवन के निमित्त इनका होना आवश्यक है।

द्वितीय, हमारे अन्य खाद्य पदार्थों की आवश्यक मात्रा को शरीर के भार के अनुसार सेर, छटांक, तोला और कैलारी आदि में नापा जा सकता है परंतु पोषक मात्रा की रत्ती या माशा और उससे भी कम मात्रा में आवश्यकता होती है।

तृतीय, भोजन के अन्य सभी पदार्थ जैसे प्रत्यामिन, कार्बोहाइडेट तथा चिक्कण पदार्थों का उपयोग पूर्णतया, शक्ति उत्पादन के हेतु ईंधन के रूप में होता है परंतु पोषक तत्वों के बारे में ऐसा प्रतीत होता है कि ये हमारे जीवन संचालन के मुख्य आवश्यक पदार्थों को बनाते हैं। इस प्रकार यह तो नहीं कहा जा सकता कि पोषक तत्व स्वयं शरीर की पुष्टि करते हैं परंतु वे भोजन के उपयोग में शरीर को अग्रसर करने में सहायता देते हैं और इसी कारण वे हमारे दैनिक भोजन में अत्यावश्यक हैं तथा इनसे हम खाद्य न्यूनता के विकारों से वंचित रह पाते हैं। यद्यपि आज तक अनेक पोषक तत्वों का पता लग चुका है परंतु इनमें से केवल 6 पोषक तत्व ऐसे हैं जिनका चिकित्सा शास्त्र एवं भोजन में विशेष महत्व है क्योंकि उनसे न्यून खाद्य को खाने से शरीर में न्यूनता के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इनके नाम हैं, Vitamin A_1 `B` वर्ग जो वास्तव में तीन मुख्य विटामिनों से बना है, Thiamin, या `B' niacin या nicotinic अम्ल और Riboglavin या

B_2 कहते है। तथा Vitamin O या ascorbic अम्ल, और vitamin D। यह भी बहुत संभव है कि भविष्य में इनके अतिरिक्त और भी पोषक तत्त्वों का पता लगे।

पोषक तत्व साधारतः दो प्रकार के होते हैं। एक वह जो तेल में घुलनशील हैं जैसे विटामिन A, और D, और दूसरे वह जो पानी में घुलते हैं जैसे B वर्ग और विटामिन C। आइए, अब थोड़ी देर इन सब पोषक तत्वों और उनकी न्यूनता से होने वाले विकारों का भी वर्णन सुनिए।

Vitamin A साधारणतः स्वास्थ्य को ठीक रखता है और इंफ्लुएंजा, जुकाम आदि रोगों के प्रति शरीर को सुदृढ़ बनाकर उसकी रक्षा करता है। इसकी कमी से बच्चों की बाढ़ रुक जाती है। तथा इसके न्यूनता से शरीर की त्वचा में भांति-भांति प्रकार के विकार उत्पन्न होने लग जाते हैं। पाचन शक्ति कम हो जाती है और रतौंधी का रोग हो जाता है। इससे परिपूर्ण भोजन को खाने से बच्चे सुचारु रुप से बढ़ते हैं। उनकी हड्डियां, दांत और मांस पेशियां सभी सुदृढ़ बनती हैं। यही नहीं युवा तथा वृद्धावस्था में भी Vitamin A की आवश्यकता रहती है और इससे चिरकाल तक मनुष्य स्वस्थ रहता है। यह दूध, मक्खन, अंडे के पीले पदार्थ, शाकों-भाजियों जैसे गाजर, सलाद, और पालक, मांस, तथा मछली, विशेषकर, cod नामक मछली के यकृत के तैल में पाया जाता है। बढ़ते हुए बच्चों और गर्भवती स्त्रियों के लिए इसकी विशेष आवश्यकता होती है और ऐसी अवस्था में मछली का तैल एक उत्तम खाद्य है।

Vitamin D चूने या कैल्सियम तथा भास्वर या फास्फोरस के उपयोग में शरीर का सहायक है, अतएव अस्थियों तथा दांतों की बनावट और उनकी उन्नति में इसका विशेष महत्त्व है। इसकी कमी से बच्चों को बालचक्र अथवा सूखा रोग, बड़ों को Ostromalacia नामक रोग तथा दांतों में घुन लगने लग जाता है। यह साधारणतः मछली के तैल, दूध, मक्खन, अंडे के पीले पदार्थ आदि में पाया जाता है। शरीर में तेल लगाकर धूप में बैठने से यह स्वयं शरीर में बनने लग जाता है और बाल चक्र से पीड़ित बच्चों के लिए यह क्रिया विशेष लाभदायक है।

`B' वर्ग के विटामिनों में मुख्य Thiamin या Vitamin B' Riboflavian या Vitamin B_2 तथा Nicin या Nicotine अम्ल है। Thiamin की कमी से मंदाग्नि, तथा बेरीबेरी का रोग हो जाता है। यह स्नायु संस्थान को ठीक अवस्था में रखता है तथा शरीर द्वारा काबोहाइड्रेट के उपयोग का संचालन करता है। Riboflavin की कमी से होठों के फटने का रोग हो जाता है और मुंह आ जाता

है। Nicotinic अमल की कमी से वल्क चर्म (pellagra) का रोग हो जाता है जिससे विशेषकर शरीर के खुले अंगों, हाथ, पैर और मुंह में छाले पड़ जाते हैं, अंग शिथिल हो जाते हैं और भूख कम हो जाती है। ये Vitamins विशेषकर पौधों के बीजों, जैसे, मटर, सेम, सोया, अंडे के पीले पदार्थ, ताजे शाक और फल, पूरे गेहूं, बे छंटे चावल, मांस तथा ताजी ताड़ी (Yeast), इनमें पाए जाते हैं। गर्भवती तथा बच्चों को दूध पिलाने वाली स्त्रियों के लिए `B' वर्ग के विटामिनों की और भी अधिक आवश्यकता होती है।

Vitamin C की कमी से मसूड़ों से रक्त बहना, दातों का गिरना तथा प्रशीताद या स्कर्वी का रोग हो जाता है। यह ताजे शाकों जैसे गोभी (Asparagus) और पालक, तथा फलों में जैसे टिमाटर, आंवला, नींबू संतरा अमरूद आदि में पाया जाता है।

विटामिनों से परिपूर्ण रखने के लिए खाद्य का उचित ढंग से उपयोग करना भी आवश्यक है। बासी खाद्य पदार्थ में से `B' वर्ग और C vitamin नष्ट हो जाते हैं। और ये विटामिन खाने को अधिक पकाने और उबालने से भी नष्ट हो जाते हैं। इसलिए शाकों को कम उबालिए और उनके उबाले हुए पानी को न फेंकिए क्योंकि इसी पानी में `B' वर्ग और C विटामिन होता है जो कि पानी में घुलनशील हैं। ताजा भोजन खाइए, और नित्य कुछ फलों का सेवन कीजिए। पोलिश किए हुए छंटे चावल तथा चोकर निकाले हुए आटे में से लगभग संपूर्ण B वर्ग निकल जाता है अतएव बिना छंटे चावल तथा बिना छाने हुए आटे की रोटियां आंखों को प्रसन्न करने में असमर्थ होने पर भी शरीर के लिए अधिक पुष्टिकर होती हैं। स्वास्थ्य परम धन है और उसकी सुरक्षा के लिए पोषक तत्त्वों से परिपूर्ण भोजन को खाना परम आवश्यक है।

परमाणु का केंद्रक और उसका विखंडन*

डॉ. डी.एस.कोठारी

सभ्यता के आदि से मनुष्य ने पदार्थ की बनावट के विषय में तरह तरह के सिद्धांत बनाए हैं किंतु यह हाल ही की बात है (कुछ वर्षों के ही अंदर की) कि हमको परमाणु की बनावट का सही सही ज्ञान हुआ और वस्तुओं की भांति हमारा शरीर भी परमाणुओं से बना है। एक शरीर की बनावट में परमाणुओं की संख्या अत्यधिक होती है। यही परमाणुओं की अधिकता ही एक परमाणु की बनावट और उसकी विशेषताएं समझने में मुख्य कठिनाई का कारण होती है। परमाणु की अपेक्षा हमारा शरीर कितना विशाल होता है।

इसका कुछ अनुमान यों होगा। एक छोटे से जल बिंदु को उसके नन्हें भाग करके भारत के सारे मनुष्यों में बांट दो। अब जो तुम्हारा हिस्सा आए उसे एक बार फिर उन्हीं सारे मनुष्यों में विभाजित करो तो अब इस छोटे से भाग में भी लगभग एक हजार से भी अधिक अणुओं की संख्या होगी। इससे कुछ परमाणु की सूक्ष्मता का ज्ञान होता है।

प्रत्येक परमाणु में एक केंद्रक (न्यूक्लियस) होता है और इसके चारों ओर विद्युदणु (इलेक्ट्रोन) परिक्रमा करते हैं। विद्युदणु का ऋण विद्युत और केंद्रक पर धन विद्युत का आवेश होता है। विद्युदणु का भार केंद्रक की अपेक्षा बहुत सूक्ष्म होता है। इसलिए परमाणु का सारा भार उसके केंद्रक में ही होता है। परमाणु का आयतन बहुत ही कम होता है। अभी तक किसी ने भी परमाणु को अपनी आंख से नहीं देखा और न ही उसे देखना कभी संभव होगा। यदि परमाणु से परमाणु सटा कर एक सरल रेखा में रखे जाएं तो करीब दस करोड़ 100000000 परमाणु एक इंच भर लंबाई में आएंगे। परमाणु हमारे मुकाबले में उतना ही छोटा

---

* विज्ञान, अक्टूबर 1952

है जितना सूर्य मंडल के मुकाबले में हम। सूर्य मंडल में पृथ्वी मंडल, बृहस्पति इत्यादि ग्रह विशाल सूर्य की परिक्रमा करते हैं और परमाणु में विद्युदणु केंद्रक की।

परमाणु में केंद्रक (नूक्लियस) और विद्युदणु (इलेक्ट्रोन) में पारस्परिक आकर्षण अभ्याकृष्टीय शक्ति (ग्रेवीटेश्नल फोर्स) यद्यपि होती तो है पर इतनी कम कि न होने के बराबर। परमाणु की बनावट समझने के लिए विद्युदणु और केंद्रक में पारस्परिक विद्युत आकर्षण शक्ति ही ध्यान देने योग्य शक्ति है।

नील बोर (शक्त्‌ यणुवाद) या ऊर्जाणुवाद (क्वानूटेम सिद्धांत) के महान ज्ञाता हैं और **लार्ड रदरफोर्ड** सर्वकाल से महान संपरीक्षक अथवा प्रयोगकारी हुए हैं। लगभग चालीस वर्ष की बात है कि इन दोनों का मेल हुआ। यह विज्ञान के इतिहास में बड़े सौभाग्य का अवसर था। इन दोनों के सहयोग और परिश्रम से परमाणु की बनावट का भेद खुला। बोर ने यह नई बात बतलाई कि विद्युदणु जब केंद्रक की परिक्रमा करते हैं तो उनकी कोणीय गमता (एंगूलर मोमेन्टम) प्राकृतिक अपरिवर्त्ती 'h' जिसको प्लांक अपरिवर्त्ती कहते हैं, का सरल संख्या गुणनफल होता है। प्लांक अपरिवर्ती (प्लांक कान्सटेन्ट) के लिए हमेशा अंगेज़ी अक्षर 'एच' लिखते हैं। यह अपरिवर्ती परमाणु संसार का विशेष अपरिवर्त्ती हैं। पचास वर्ष पहले एक जर्मन भौतिक विज्ञान **आचार्य प्लांक** ने इसका परिचय दिया था और उसी ने इसकी ईजाद की थी। इस अपरिवर्ती के होने का मतलब यह है और इसको बोर ने सबसे पहले समझा कि पदार्थ की भांति कोणीय गमता अथवा शक्ति भी छोटे छोटे नियत कणों से मिल कर बनी है। इसकी प्रत्येक एकाई को ऊर्जाणु (क्वान्टा) कहते है। शक्ति की इस प्रकार की छोटी-छोटी पृथक रह सकने वाली इकाइयों का संग्रह होने का विचार जितना आश्चर्यजनक है उतना ही महान मालूम होता है। पृथ्वी की गहरी नींव का आधार कण ही कण पर है। पदार्थ को बनाने वाले कण (ईंटें) परमाणु होते हैं और शक्ति का छोटे से छोटा अलहदा रह सकने वाला कण ऊर्जाणु (क्वान्टा)।

चलिए विद्युदणु को केंद्रक के चारों ओर नाचने दें और उन्हें छोड़ कर केंद्रक पर अब ध्यान जमाएँ। केंद्रक परमाणु का भीतरी गढ़ है अथवा उसका हृदय समझिए। केंद्रक का आयतन परमाणु के आयतन का एक लाखवां हिस्सा होता है। सारे परमाणुओं के केंद्रक दो प्रकार के आधारभूत कणों से बने हैं। जिन्हें हम प्राणु (प्रोटोन) और क्लीवाणु (न्युट्रोन) कहते हैं। प्राणु (प्रोटोन) पर धन विद्युत का आवेश होता है और वास्तव में प्राणु (प्रोटोन) हाईड्रोजिन का केंद्रक होता

है। क्लीवाणु (न्यूट्रोन) पर किसी प्रकार की विद्युत का आवेश नहीं होता।

क्लीवाणु (न्यूट्रोन) की पदार्थ मात्रा लगभग प्राणु (प्रोटीन) के बराबर होती है। वास्तव में प्राणु (प्रोटीन) से थोड़ी अधिक है।

क्लीवाणु (न्यूट्रोन) की खोज सन् 1932 में रदरफ्रोर्ड के शिष्य चेडविक ने की थी। इसके उपरांत ही वैज्ञानिकों ने केंद्रक की बनावट समझना शुरू किया। क्लीवाणु (न्यूट्रोन) स्थायी नहीं होता जैसा कि प्राणु (प्रोटोन) और विद्युदणु (इलेक्ट्रोन) होते हैं। यदि किसी क्लीवाणु (न्यूट्रोन) का निरीक्षण करो तो देखोगे कि वह तुरंत ही प्राणु (प्रोटोन) और विद्युदणु में परिवर्तित हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक वस्तु और निकलती है जिस पर यहां ध्यान नहीं देंगे। बड़ी-बड़ी परमाणु की मशीनों द्वारा क्लीवाणु (न्यूट्रोन) के क्षय का प्रायोगिक प्रमाण दिया गया है और विज्ञान क्षेत्र में यह 1950 की महान सफलता है। एक क्लीवाणु (न्यूट्रोन) को एक प्राणु (प्रोटोन) और एक विद्युदणु (इलेक्ट्रोन) में बदलने में लगभग 13 मिनट लगते हैं।

किसी परमाणु के केंद्र में प्राणु (प्रोटीन) और क्लीवाणु (न्यूट्रोन) की संख्या का जोड़ इस केंद्रक की मात्रा संख्या (मास नंबर) कहलाता है। और केवल प्राणु (प्रोटीन) की संख्या परमाणु संख्या (एटोमिक नम्बर) कहलाती है। हाईड्रोजिन में केवल एक ही प्राणु (प्रोटोन) होता है। इस लिए हाईड्रोजिन की परमाणु संख्या एक है। और मात्रा संख्या भी एक है।

यह हुआ सब से हल्का परमाणु। पिछले वर्षों में कुछ तत्त्व मनुष्यों ने भी बनाए है, जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे। पर प्राकृतिक तत्त्वों में यूरेनियम की सब से बड़ी परमाणु संख्या 92 है। यूरेनियम के परमाणु का केंद्रक दो प्रकार का होता है। एक ही मात्रा संख्या 235 और दूसरे की 238 होती है। प्राणु (प्रोटोन) की संख्या इन दोनों में एक ही होती है। यूरेनियम 235 में क्लीवाणु (न्यूट्रोन) की संख्या विषम होती है यानी 143 और यूरेनियम 238 में क्लीवाणु (न्यूट्रोन) की संख्या युग्म 148 होती है। यह अंतर यूरेनियम केंद्रक के विखण्डन में विशेष कर महत्त्वकारी है। यूरेनियम 233 भी होता है पर वह बहुत कम मिलता है। हाल में चार पांच साल के अंदर वैज्ञानिकों ने यूरेनियम से भी भारी तत्त्व बनाए हैं। दो के नाम नेपटूनियम और प्लूटोनियम हैं। इनके नाम नेपट्यून और प्लूटो ग्रहों पर रखे गए हैं। इनकी परमाणु-संख्या 93 और 94 है। इसके बाद एमरसियम तत्त्व, जिसका नाम एमरीका के नाम पर है, बनाया गया। इसकी परमाणु-संख्या 95 है। इसके बाद क्यूरियम तत्त्व जिसकी परमाणु संख्या 96 है। इनका नाम

श्रीमती क्यूरी और इसके पति के नाम पर इन्हें सम्मानित करने के लिए रखा गया। इसके उपरांत बरकीलियम और केलीफ़ोर्नियम बनाए। इसकी परमाणु-संख्या क्रमशः 97 और 98 है। केलीफ़ोर्नियम तो गत वर्ष 1950 में बनाया गया था। अभी तक 98 भिन्न-भिन्न तत्त्व मालूम किए गए हैं। इनमें से 6 मनुष्य के बनाए हैं। इनकी खोज में अमरीकी रसायनशास्त्री सीबर्ग ने सब से अधिक प्रशंसनीय काम किया है।

जब क्लीवाणु (न्यूट्रोन) और प्राणु (प्रोटोन) के संयोग से केंद्रक बनता है तो इस क्रिया में उनका भार कम हो जाता है। इसके फलस्वरूप केंद्रक का भार प्राणु और क्लीवाणु के पृथक भार के जोड़ से हमेशा कुछ कम होता है। और यह भार का अंतर क्लीवाणु (न्यूट्रोन) और प्राणु (प्रोटोन) की बंधन शक्ति पर निर्भर करता है।

जितनी अधिक शक्ति से वे आपस में जुड़े होंगे उतनी ही अधिक भार में कमी होगी। क्षण भर के लिए सोचिए कि क्लीवाणु (न्यूट्रोन) और प्राणु (प्रोटीन) जो मिलकर केंद्रक बनाते हैं उन अमीर आदमियों की तरह हैं जो संसार त्याग कर संन्यासियों का मठ बनने जाएं, तो उस संस्था में सम्मिलित होने के पहले उन्हें अपना धन छोड़ना होगा। इसी प्रकार क्लीवाणु (न्यूट्रोन) और प्राणु (प्रोटोन) केंद्रक में सम्मिलित होने में अपनी पदार्थ-मात्रा त्याग देते हैं। पदार्थ का लोप ही केंद्रक की बंधन शक्ति है।

लगभग 45 वर्ष पहले आइन्सटाइन ने शक्ति और पदार्थ की समानता बतलाई थी। यदि एक ग्राम पदार्थ को पूर्णतः शक्ति में परिवर्तित कर दें तो क़रीब क़रीब 250 लाख किलोवाट घन्टे शक्ति के प्राप्त होंगे। इस शक्ति का अंदाज़ यों किया जा सकता है कि दिल्ली का बिजली घर यदि 1000 घन्टे चालू रखा जाए तो जितनी शक्ति वह पैदा करेगा इसके बराबर होगी। जिस समय केंद्रक बनता है तो प्रत्येक क्लीवाणु (न्यूट्रोन) और प्राणु (प्रोटोन) स्वतंत्र क्लीवाणु और प्राणु की अपेक्षा कुछ क्षीण देते हैं। यह पदार्थ की न्यूनता आइन्सटाइन के बनाए हुए सिद्धांत के अनुसार शक्ति का रूप धारण करती है।

अब प्रश्न उठता है कि क्लीवाणु (न्यूट्रोन) और प्राणु (प्रोटोन) को केंद्रक में बंधन से रखने वाली शक्तियां किस प्रकार की शक्तियां हैं। यह अभ्याकृष्टीय (ग्रेवीटेशनल) शक्ति नहीं हैं और न ही यह विद्युत शक्ति है।

यह एक तीसरे प्रकार की शक्ति है और इस शक्ति की बड़ी ही अनोखी

विशेषताएं हैं। यह कणों के बहुत ही निकट होने से उत्पन्न होती है। इस शक्ति के पैदा होने के लिए अधिक से अधिक कणों की दूरी एक इंच का एक लाख करोड़वां हिस्से से ज्यादा न होनी चाहिए। जब निकटता इससे भी अधिक हो तो यह शक्ति भी अति प्रबल होती है और तीव्रता में किसी भी विद्युत शक्ति से कहीं भी ज्यादा। पर यदि कणों की दूरी इससे ज़रा भी बढ़ जाती है तो यह शक्ति नगण्य हो जाती है। यह शक्ति सर्वदा आकर्षक होती है और लगभग जितनी दो क्लीवाणु (न्यूट्रोन) के मध्य उतनी ही दो प्राणु (प्रोटीन) के मध्य और लगभग उतनी ही एक प्राणु (प्रोटोन) क्लीवाणु (न्यूट्रोन) के मध्य। सही तो यह कहना होगा कि एक प्राणु (प्रोटोन) और क्लीवाणु (न्यूटोन) में आकर्षण शक्ति थोड़ी अधिक होती है, और दो प्राणु (प्रोटोन) के बीच यह कुछ कम होती है क्योंकि इसमें विद्युत् की हटाव शक्ति भी लगी हुई है। केंद्रक के भीतर के कणों की आकर्षण शक्ति का क्या असली रूप है यह वर्तमान युग के वैज्ञानिकों के सामने बड़ा भारी प्रश्न है।

पिछले साल दो साल के दरमियान यह पता लगा है कि केंद्रक के अंदर क्लीवाणु (न्यूट्रोन) और प्राणु (प्रोटोन) स्तरों में लगे हैं। जिन केंद्रकों के अंदर प्राणु (प्रोटोन) या क्लीवाणु (न्यूट्रोन) की संख्या 2, 4, 20, 24, 50, 82, या 126 है उनके गुण दूसरे केंद्रकों से किसी न किसी बात में एकदम विभिन्न होते हैं। इसलिए यह संख्याएं **विशेष संख्याएं** कहलाती हैं। इन संख्याओं को समझने के लिए केंद्रक का प्रकवच अथवा स्तर वाला रूप बड़ी सहायता करता है। केंद्रक के इस रूप का आधार ही यह है कि इसके भीतर के क्लीवाणु (न्यूट्रोन) और प्राणु (प्रोटोन) फर्मी संख्यात के अधीन हैं। जो कण फ़र्मी संख्यात के अधीन पाए जाते हैं उन्हें 'फ़र्मायन' कहते हैं। वास्तव में प्रकृति के सारे कण दो वर्ग या दर्जों में बांटे जा सकते हैं और इस विभाजन का बड़ा व्यावहारिक और सैद्धांतिक महत्व है। एक वर्ग के कणों को 'फ़र्मायन' कहते हैं। यह नाम इटली के भौतिक वैज्ञानिक **फ़र्मी** के नाम पर पड़ा। यह आजकल अमरीका में हैं। और दूसरे वर्ग के कणों को **बोसोन** कहते हैं। यह नाम कलकत्ता विश्व-विद्यालय के भौतिक विज्ञान के आचार्य, श्री एस.एन. बोस के नाम पर रखा गया है। यह इस देश के लिए बड़े गर्व की बात है।

अब हम केंद्रक के विखंडन की ओर ध्यान् दें। यूरेनियम और इसी प्रकार के और भारी तत्त्वों के परमाणुओं के केंद्रकों में इतनी अधिक प्राणु (प्रोटीन) की संख्या होती है कि वह केंद्रक अस्थिर होने लगता है। यूरेनियम के केंद्रक में यदि

एक क्लीवाणु (न्यूट्रोन) प्रवेश पर जाए तो वह वहां पर बड़ी गड़बड़ी पैदा करता है और केंद्रक में इतनी हलचल मचती है कि वह अपने कणों को दृढ़ स्थिर नहीं रख सकता और वह दो टुकड़ों में विभक्त हो जाता है। और कभी कभी तीन में यद्यपि ऐसा बहुत कम होता है। इस क्रिया को विखंडन कहते हैं। और इस क्रिया में दो तीन क्लीवाणु भी स्वतंत्र हो भागते हैं। इसको एक प्रकार से और समझा जा सकता है।

जिस समय क्लीवाणु (न्यूट्रोन) किसी केंद्रक में प्रवेश करता है तो वह उसको शक्ति प्रदान करता है और यह शक्ति केंद्रक के कणों को बेहद गर्म कर देती है। उनका तापक्रम बहुत ही ऊंचा हो जाता है लगभग दस खरब 1000000000000° सी.। केंद्रक इतना तप्त हो जाता है कि सारे ब्रह्माण्ड में उसके समान किसी का ताप नहीं होता। सूर्य के मध्य केंद्र पर भी जो ताप होता है उसे इसके मुकाबिले में बर्फ़ीली ठंडक का स्थान समझिए। इस कारण केंद्रक में बेहद हलचल मचती है। उसमें ऐंठन पड़ती है और उसका रूप बिगड़ता है और अंत में उसका दो भागों में विखंडन हो जाता है।

एक धीमे चलने वाला क्लीवाणु (न्यूट्रोन), यूरेनियम 235 के केंद्रक में प्रवेश करके उसका विखंडन कर सकता है। पर यूरेनियम 238 के केंद्रक को तोड़ने के लिए तेज़ चलने वाला यानी अधिक शक्तिशाली क्लीवाणु (न्यूट्रोन) चाहिए।

प्लूटोनियम का केंद्रक भी धीमे चलने वाले क्लीवाणु (न्यूट्रोन) के आघात से टूट सकता है। ऐसे पदार्थों को जो अल्प वेग वाले क्लीवाणु (न्यूट्रोन) से टूट जाते हैं विखंडनीय (फ़िसाइल) पदार्थ कहते हैं। ऐसे पदार्थ तेज़ चलने क्लीवाणु (न्यूट्रोन), से तो तोड़े ही जा सकते हैं।

थोरियम जो अपने देश में बहुतायत से मिलता है विखंडनीय पदार्थ नहीं है। यानी थोरियम का केंद्रक केवल तेज़ चलने वाले क्लीवाणु (न्यूट्रोन) से ही टूटेगा, धीमे चलने वाले से नहीं। विखण्डनीय और अविखंडनीय पदार्थों का भेद परमाणु शक्ति पैदा करने में विशेष महत्व का है।

अधिक शक्ति वाले क्लीवाणु (न्यूट्रोन) लगभग दस करोड़ इलेक्ट्रोन वोल्ट के क्लीवाणु (न्यूट्रोन) का प्रयोग करके 'भिधतु' बिसमथ, 'पारा' (मरकरी), और स्वर्ण (गोल्ड) जैसे हल्के तत्त्व के परमाणु भी तोड़ जा सकते हैं।

प्रोमेथियस ने आकाश से अग्नि चुराई थी, किंतु अग्नि रासायनिक क्रिया है और इस क्रिया में केंद्रक कोई भाग नहीं लेता, केवल उसकी परिक्रमा करने वाले विद्युदणु (इलेक्ट्रोन) ही भाग लेते हैं। बीसवीं शताब्दी का विज्ञान बहुत

ही शक्ति शाली अग्नि लाया है। यह केंद्रीय शक्ति की ज्वाला है। इसका उपयोग मनुष्यता और मनुष्य की सभ्यता को उस ऊंचाई पर ले जा सकता है जिसका कि ऋषि और मुनियों ने ध्यान किया है, पर जिसके साधन अभी तक नहीं थे।

नकली सोना*

प्रिंसिपल दया स्वरूप
काशी हिंदू विश्वविद्यालय

आकर्षक रंग, विविध गुणों तथा अमूल्यता के कारण सोना मानव समाज का अत्यंत प्रिय पदार्थ बनता आ रहा है। प्राचीन काल से लोग इसे विविध रूपों में उपयोग करते आ रहे हैं। निर्धन मनुष्य भी सोने के आभूषण पहिनने की अभिलाषा रखते हैं। पर सोना तो अमीरों की शोभा है, गरीबों से उसे प्रीति नहीं है। असली सोना खरीदना दीनों के सामर्थ्य के बाहर है अतः उनकी इच्छा-पूर्ति के लिए धातुविज्ञों ने सस्ता 'नकली' सोना प्रस्तुत किया है।

सोने का महत्त्व अनुपम गुणों के कारण है, उसको पीट कर बहुत पतले पत्र, वरक आदि बनाए जा सकते हैं। उसके अत्यंत बारीक तार खींचे जा सकते हैं। वह नरम होता है और सरलतापूर्वक गढ़ा और जोड़ा जा सकता है। रखने पर यह चमकहीन नहीं होता और न उसमें रखे खाद्य पदार्थ ही खराब होते हैं, इसका रंग चमकदार और चित्ताकर्षक होता है। धातुविज्ञों ने बहुतेरे प्रयोग कर के ऐसी धातु बनाने का प्रयत्न किया है जिसमें सोने के अधिकांश गुण आ जाएं। इन कृत्रिम धातुओं को 'नकली' सोना कह सकते हैं। अंग्रेजी में इनके कई नाम हैं : यथा 'इमिटेशन गोर्ल्ड', 'फ्रेंच गोल्ड', 'तांबक', 'मेनहीन गोल्ड', 'ताल्मी गोल्ड' इत्यादि। भारत में बाजारों में कुछ विक्रेता इसे 'अमेरिकन गोर्ल्ड' के नाम से भी पुकारते हैं।

नकली सोना वास्तव में तांबा तथा कुछ अन्य धातुओं के मिश्रण से बनाया जाता है। मुख्य धातु तांबा है। अन्य धातुएं ये हैं : जस्ता, रांगा, एंटीमनी, लोहा, सीसा आदि। इन धातुओं में से एक, दो या अधिक धातुएं विभिन्न अनुपातों

---

* विज्ञान, जुलाई 1952

में तांबे के साथ मिश्रित की जाती है। इस प्रकार निर्मित धातुसंकर (alloy) रंग और गुणों में न्यूनाधिक रूप में सोने के समान होती है।

तांबक (Tombac)

यह तांबा और जस्ते का धातुसंकर है। इसमें 18 प्रतिशत तक जस्ता तथा शेष तांबा रहता है। इसका रंग किंचित लालिमा लिए हुए सुनहला होता है, यह धातु सत्रहवीं शताब्दी में **स्याम** में निर्मित हुई। मलाया में इसे 'तांबूगा' (संस्कृत ताम्र) कहते हैं। तांबक इसी का अपभ्रन्श है।

शुद्ध तांबक में, अर्थात् जिसमें सीसा, रांगा आदि अशुद्धियां नहीं रहतीं, कम तापमान पर पर्याप्त तांतवता (तार खींचने की शक्ति) रहती है। इस धातुसंकर से ठप्पों द्वारा आभूषण बनाए जाते हैं। बटन, सुनहले वरक आदि भी इससे बनाए जाते हैं। समय पाकर इसके रंग में कुछ फर्क आ जाता है इसलिए बहुधा इसके बने पदार्थों पर सोने का पानी या हल्का मुलम्मा चढ़ा दिया जाता है जिससे इसकी सुनहली चमक बनीं रहती है।

इसमें जस्ता 10 प्र. श. से कम या 18 प्र.श. से अधिक नहीं होता। तांबक के कुछ प्रचलित धातुसंकरों का रासायनिक विश्लेषण इस प्रकार है—

	नाम	**तांबा** (प्र.श.)	**जस्ता** (प्र.श)
1.	जर्मन तांबक	85	15
2.	” ”	85.3	14.7
3.	” ”	82.3	17.7

मेनहीम सोना (Manheim Gold)

इसमें तांबा, जस्ता और रांगा का मिश्रण रहता है, इसका रंग सुनहला होता है, इसकी बनावट विविध प्रकार की होती है, जैसे :

	1	2	
तांबा	83.7	89.8	प्र.श.
जस्ता	9.3	9.6	”
रांगा	7,0	0.4	” ”

बटन आदि वस्तुएं बनाने में पहले इसका बहुत उपयोग होता था पर अब इसका स्थान अधिक आकर्षक रंग वाले धातुसंकरों ने ले लिया है।

'ताल्मी' या ताल्मी सोना (Talmi Gold)

यह पेरिस से आता था, सस्ते गहने, कर्णफूल, ब्रेसलेट आदि इस नकली सोने से बनते है, इन गहनों में काम की बारीकी, कम मूल्य, सुनहला रंग और अत्यधिक टिकाऊपन होता है।

बहुधा ताल्मी पर सोने का पतला पत्र चढ़ा कर पूरे टुकड़े को बेल दिया जाता है। इस प्रकार ताल्मी की सतह पर सोने की पतली तह चढ़ जाती है। इसे 'रोल्ड गोल्ड' कहते हैं। यह नरम और तांतव होता है। इसका सुनहला रंग बहुत टिकाऊ होता हैं।

आज कल सोने का पानी चढ़ाया हुआ (Gold plated) ताल्मी बाजारों में बिकता है। इसमें सोने की पर्त इतनी पतली है कि कभी-कभी मोटे कपड़े से रगड़ देने पर सोना गायब हो जाता है।

ताल्मी सोना बनाने में जिन धातुसंकरों का उपयोग होता है उनमें से कुछ ये हैं–

	1	2	3	4	5	6
तांबा	89.8	90.3	90.0	90.7	87.5	93.4
जस्ता	9.1	8.3	9.0	8.9	12.4	6.5
सोना	1.1	.9	.9	.05	.05	.05

उपर्युक्त बनावटों के अवलोकन से ज्ञात होगा कि इनमें सोने की मात्रा बहुत घट बढ़ होती है। जिनमें सोना अधिक होता है वे अधिक टिकाऊ होते हैं। प्रथम तीन बनावटें असली पेरिस के ताल्मी की है। शेष में सोने का पानी चढ़ा हुआ है।

सोने के समान धातु-संकर

यह तांबा और एन्टीमिनी का धातु-संकर होता है। उसमें 96 प्रतिशत तांबा और 4 प्रतिशत एन्टीमिनी होता है। वह भी फ्रांस से आता है और इसका रंग सोने के समान होता है। इसमें तांतवता और घनवर्धनीयता (चद्दर बेलने का गुण) पतली कम होती है। बहुधा इसे ढाल कर कलापूर्ण वस्तुएं बताई जाती हैं।

अलुमीनियम ब्रोंज़ (Aluminium Bronze)

इसमें 4 से ले कर 8 प्रतिशत तक अलुमीनियम और शेष तांबा होता है। 8 प्रतिशत अलुमीनियम वाले धातु-संकर का रंग पीला सुनहला होता है और अधिक लोकप्रिय

है। यह घनवर्धनीय और तब होता है तथा इसका संक्षारणवरोध[1] अधिक होता है। इस धातुसंकर से मेडल, ट्रें, सिगरेट केस, चद्दर आदि बनाई जाती है। मंदिरों के सुनहले दरवाजे, मंडप आदि भी बहुधा इसी के बने होते हैं।

भारत में नकली सोने की बहुत उपयोगिता है। धनहीन लोग सोना नहीं खरीद सकते। उनकी साध इस सस्ते, नकली, सोने से पूर्ण होती है। विविध धातु-संकरों में सोने के गुण निम्नाधिक रूप में पाए जाते हैं पर उन सब में सोने का आपेक्षित घनत्व (भारीपन) नहीं होता। इस एक दुर्गुण के कारण नकली और असली का भेद बड़ी सरलता से मालूम हो जाता है।

---

1. संक्षारणवरोध Corrosion Resistance, इस गुण के कारण वायु, खाद्यपदार्थ, हल्के अम्ल और क्षार आदि के संपर्क में धातु की सतह खराब नहीं होती।

6

आकाश घड़ी*

सोहनलाल गुप्त एम.एस-सी., एम.ए.

सूर्य चंद्रमा ग्रह, और तारों से भरा आकाश प्रकृति की घड़ी है जो केवल समय ही नहीं बतलाती वरन भारतीय तिथि मास और वर्ष भी बतलाती है। मनुष्य द्वारा बनाई गई सभी प्रकार की घड़ियां प्रकृति की इस सच्ची-सदैव ठीक चलने वाली घड़ी से ही मिला कर ठीक की जाती हैं।

आकाश मंडल में पश्चिम-पूरब सूर्य के मार्ग पर जिसे क्रांति वृत्त कहते हैं बराबर अंत पर बारह तारा समूह पड़ते हैं जिन्हें राशि कहते हैं। राशि का अर्थ समूह है। राशियां समय का ज्ञान कराती हैं क्योंकि वे आकाशीय घड़ी पर अंकों की भांति हैं जिसकी सुइयां ग्रह आदि हैं। पश्चिम से पूरब की ओर जाती हुई राशियों की क्रम संख्या और नाम इस प्रकार है।

1. मेष, 2. वृष, 3. मिथुन, 4. कर्क, 5. सिंह, 6. कन्या, 7. तुला, 8. वृश्चिक, 9. धनु, 10. मकर, 11. कुंभ, 12. मीन।

इस नामकरण का भी कारण है। राशियों के रूप अपने नाम के प्राणियों या पदार्थों से मिलते हैं जिससे उनके बतलाने में सुविधा रहती है।

पृथ्वी के किसी स्थान से किसी समय जो राशि पूरब क्षितिज पर रहती है उसे लग्न कहते हैं। लग्न का अर्थ है लगा हुआ, मिला हुआ या कटा हुआ। पृथ्वी के अक्षभ्रमण के कारण चौबीस घंटों में लग्न पश्चिम से पूरब की ओर चलती हुई राशि चक्र का चक्कर पूरा कर लेती है अतः प्रत्येक राशि की लग्न लगभग दो घंटे के लिए रहती है। पृथ्वी के अक्ष के भूकक्षा पर लंब न होने के कारण दिन-रात छोटे-बड़े होते रहते हैं और राशि लग्न का काम दो घंटे से कुछ घटता बढ़ता रहता है। यह परिवर्तन ऋतुओं के साथ मेल खाता है। वसंत और

* विज्ञान, जुलाई 1953

शरद संपात के दिनों में जब दिन और रात बराबर होती है, प्रत्येक राशि की लग्न भी ठीक दो घंटे की होती है। राशि या लग्न के आधे भाग को होरा कहते है जो अहो-रात्रि के बीच के अक्षरों से बना है। इसी से घंटे का यूरोपीय शब्द अवर (Hour) निकला है। लग्न आकाशीय घड़ी पर घंटे की सुई का काम करती है। रात्रि में समय जानने के लिए देखो कि सायंकाल की लग्न राशि कितनी राशियां ऊपर उठ गई है। इस राशि संख्या को दो से गुणा करने पर रात्रि के बीते घंटे मिलेंगे।

आकाश घड़ी पर महीना बतलाने वाली एक सुई सूर्य है जो सौर मास देता है। पृथ्वी के कक्षा भ्रमण के कारण राशि-चक्र पर सूर्य एक वर्ष में घूम लेता है। एक राशि में वह एक महीना रहता है। किसी राशि में सूर्य का प्रवेश काल उस राशि की संक्रांति कहलाता है। दो संक्रांतियों के बीच का काल सौर मास है। पंजाब और बंगाल में जनसाधारण में सौर मासों का ही चलन है। सौर मासों ने चांद्र मासों के नाम इस प्रकार ले लिए हैं।

सूर्य राशि	**सौर मास**	**सूर्य राशि**	**सौर मास**
मेष	वैशाख	तुला	कार्त्तिक
वृष	जेष्ठ	वृश्चिक	मार्गशीर्ष
मिथुन	आषाढ़	धनु	पोष
कर्क	श्रावण	मकर	माघ
सिंह	भाद्रपद	कुंभ	फाल्गुन
कन्या	आश्विन	मीन	चैत्र

चूंकि सूर्य के प्रकाश में राशियां छुपी रहती हैं अतः सूर्य की राशि स्थिति सूर्योदय के ठीक पहले उदय राशि या सूर्यास्त के ठीक बाद अस्तराशि को देखकर जान सकते हैं।

चांद्रमास और तिथियों को बतलाने वाली सुई चंद्रमा है जो राशिचक्र का एक चक्कर सत्ताइस दिनों में पूरा कर लेता है। अतः चंद्रमा की एक दिन की गति को इकाई मान कर क्रांतिवृत्त पर तथा उसके पास के तारों के सत्ताइस भाग किए गए। प्रत्येक भाग को नक्षत्र नाम मिला है। एक नक्षत्र में चंद्रमा एक दिन रहता है। प्रत्येक राशि में सवा दो नक्षत्र पड़ते हैं। नक्षत्र या तो राशियों के अंत भाग या उसके पास कुछ उत्तर या दक्षिण में तारापुंज है। नक्षत्रों का राशियों से संबंध इस प्रकार है—

राशि		नक्षत्र
1. मेष	–	(1) अश्विनी, (2) भरणी, (3) कृत्तिका 1/4
2. वृष	–	कृत्तिका 3/4, (4) रोहिणी, (5) मृगशिरा 1/2
3. मिथुन	–	मृगशिरा 1/2 (6) आर्द्रा, (7) पुनर्वसु 3/4
4. कर्क	–	पुनर्वसु 1/4, (8) पुष्य, (9), अश्लेषा।
5. सिंह	–	(10) मघा, (11) पूर्वा फाल्गुनी, (12) उत्तरा फाल्गुनी 1/4
6. कन्या	–	उत्तरा फाल्गुनी 3/4 (13) हस्त, (14) चित्रा 1/2
7. तुला	–	चित्रा 1/2 (15) स्वाती, (16) विशाखा 3/4
8. वृश्चिक	–	विशाख 1/4, (17) अनुराधा (18) ज्येष्ठा।
9. धनु	–	(19) मूल, (20) पूर्वाषाढ़, (21) उत्तराषाढ़ 1/4
10. मकर	–	उत्तराषाढ़ 3/4, (22) श्रवण, (23) धनिष्ठा 1/2
11. कुंभ	–	धनिष्ठा 1/2 (24) शतभिषा, (25) पूर्वा भाद्रपदा 3/4
12. मीन	–	पूर्वा भाद्रपदा 1/4 (26) उत्तरा भाद्रपदा, (27) रेवती।

सत्ताइस नक्षत्रों में बारह नाम ऐसे हैं जो चांद्रमासों के नामों से मेल खाते हैं। वास्तव में चांद्रमासों को इन नक्षत्रों से ही नाम मिले हैं। यथा अश्विनी से आश्विन, कृत्तिका से कार्तिक, मृगशिरा से मार्गशीर्ष, पुष्य से पौष, मघा से माघ, फाल्गुनी से फाल्गुन, चित्रा से चैत, विशाखा से वैशाख, ज्येष्ठा से ज्येष्ठ, आषाढ़ा से आषाढ़, श्रवण से श्रावण और भाद्रपदा से भाद्रपद। कारण यह है कि पूर्ण मासी के दिन चंद्रमा महीने के नक्षत्र में या उसके पास के अगले या पिछले नक्षत्र में रहता है। इस प्रकार पूर्णमासी के दिन चंद्रमा का नक्षत्र देख मास ज्ञान कर सकते हैं। अन्य दिनों में मास ज्ञान सांयकाल को पूरब क्षितिज पर इन बारह नक्षत्रों में पहले उदय होने वाले नक्षत्र से होगा तथा महीने का नाम इस नक्षत्र के अनुसार होगा।

समय का ज्ञान भी नक्षत्रों से किया जा सकता है। शुक्लपक्ष में देखो कि महीने के नाम का नक्षत्र पूरब क्षितिज में कितने नक्षत्र ऊपर उठ चुका है। उतने ही घंटे रात बीत चुकी होगी कृष्णपक्ष में उससे पहले का नक्षत्र देख इसी प्रकार जानो।

तिथि ज्ञान के लिए देखो कि गत मास के नक्षत्र से चंद्रमा कितने नक्षत्र आगे है। यदि यह अंतर 15 से कम है तो वह कृष्ण पक्ष की तिथि देगा। यदि यह संख्या 15 से अधिक है तो उसमें से 15 घटा दो। शेष शुक्ल पक्ष की तिथि देगा। यह देखो कि चंद्रमा वर्तमान मास के नक्षत्र से कितने नक्षत्र पीछे है। यदि

अंतर 15 से कम है तो उसे 15 से घटाने पर शेष शुक्ल पक्ष की तिथि देगा। यदि अंतर 15 से अधिक है तो उसे 30 से घटाने पर शेष कृष्ण पक्ष की तिथि देगा। दोनों विधियों के उत्तरों में कभी-कभी एक तिथि का अंतर पड़ सकता है।

वर्ष बतलाने वाली सुइयां बृहस्पति और शनि हैं। एक राशि में बृहस्पति एक वर्ष और शनि ढाई वर्ष रहता है। राशि चंद्र की परिक्रमा में बृहस्पति को बारह वर्ष और शनि को तीस वर्ष लगते हैं दोनों एक स्थान से आरंभ कर फिर बीस-बीस वर्ष बाद मिलते रहते है और साठ वर्ष बाद फिर उसी राशि में ही आकर मिलते हैं। अतः साठ संवत्सरों का चक्र है और बीस-बीस संवत्सरों की तीन ब्रह्मा विष्णु और महेश बीसियां हैं।

विज्ञान कथा

प्रतिध्वनि*

विष्णुदत्त शर्मा

कालू! ओ कालू!!

"जी...मंझले बाबू"

"जल्दी से घोड़ा-गाड़ी निकालो और रेलवे स्टेशन चलो।"

"मंझले बाबू, ऐसी भीषण गर्मी और लू चलती हवा में!"

"तुम रहे बुद्धु ही, जैसा नाम वैसे ही दिल के काले, मां-बाप ने नाम भी सोच कर ही रखा है तुम्हारा।"

"सरकार, मेरा नाम तो अन्तर्राष्ट्रीय है।"

"वह कैसे?"

"लोग मुझे कालूराम कहते हैं तो बन जाता हूँ हिन्दू, अगर काले खां कहें तो मुसलमान, कलन्दर सिंह उर्फ कल्लू तो सिख।"

"यह तो सिर्फ राष्ट्रीय हुआ, अन्तर्राष्ट्रीय नहीं।"

"सरकार, अगर मैं काले बन जाऊं तो इसाई लोग भी धोका खा जाएं। ...(कुछ रुककर) काला रंग होने की वजह से ही मेरा नाम कालू रख।"

"जा! जल्दी गाड़ी ले आ।"

(कालू घोड़ा-गाड़ी लाता है और हम दोनों उसमें बैठकर चल देते हैं, दोपहर के ग्यारह बज चुके हैं और चिलचिलाती धूप है)

"कालू, एक बात कहूं अगर बुरा न मानो"

"कहो सरकार, हम तो नौकर हैं, बुरा क्यों मानने लगे।"

"अगर तुम्हारा नाम प्यारे लाल होता तो बहुत अच्छा था।"

"नहीं सरकार!"

---

* किसान, मार्च 1953

"वह क्यों?"

"सरकार! आप जानते हैं कि नौक-चाकरों का नाम अधूरा ही लिया जाता है। इसलिए पहला आधा नाम लेती हुई औरतें और लड़कियां शर्म करती और अगर भूल से ले भी लिया तो घर में झगड़ा हो जाता। इसके अलावा बाद का आधा नाम सिर्फ बूढ़ी औरतें ही ले सकती हैं।"

"समझा!"

"मंछले बाबू! मैं गर्मी में पैदा हुआ, इसलिए ही काला हुआ और नाम रखा कालू"

"क्या गर्मी में और भी कोई चीज काली हो जाती है?"

"हां साब...! भैंस काली, रेल का इंजन काला, टिकट देने वाला बाबू काला, काले कपड़े पहनता है। हिरन गर्मी में काला हो जाता है, यह सभी जानते हैं। सरकार, काली चीज को गर्मी भी बहुत लगती है। वो सामने देखो, कुएं की मनखंडे के नीचे काला कुत्ता जीभ निकाले लंबी-लंबी सांस ले रहा है।"

बात करते-करते एक कौस सफर में कैसे वक्त बीत गया, इसका पता भी नहीं चला।

"कालू! देखो ढप-ढप गुरू इधर आ रहे हैं और ढप-ढप मण्डप भी आ गया, तुम मुझे यहीं छोड़कर वापिस हो जाओ।"

"सरकार यह ढप-ढप मण्डप क्या होता है, मेरी समझ में नहीं आया।"

"अरे बुद्धू! आजकल विद्वानों ने अंग्रेजी शब्दों की ये हिन्दी बनाई है इसलिए स्टेशन को ढप-ढप मण्डप और स्टेशन मास्टर को ढप-ढप गुरु कहा गया है। रेल गाड़ी के लिए लोहपथ गामिनी और रेल के सिगनल को आवागमन सूचक कहते हैं। रेल-पटरी को लोह पट्टिका नाम दिया हैं।"

"हाय दइया, ये विद्वान तो हमारी बराबर भी बोलना नहीं जानते। हम तो पहली ही बोली समझ सके।"...(कुछ झिझककर फिर पूछता है)

"मंझले बाबू, आप कहां जा रहे हैं और क्यों जा रहे हैं?"

"कालू! तुम जानते हो कि मैं मंझला बेटा हूं और माता-पिता बड़े भाई को सम्मान देते हैं, छोटे को प्यार और मुझे फटकार। घर की हर गलती का मैं जिम्मेदार और भाई-भाई में परस्पर मतभेद का जन्मदाता। जहां मेरी किस्मत ले जाए वहां मैं छुट्टी बिताने जा रहा हूं। कालू सजल आंखों से घर वापिस घोड़ा-गाड़ी ले आता है और मैं टिकट लेकर रेलगाड़ी में बैठ जाता हूं। गाड़ी की छुक-छुक और मेरे दिल की धुक-धुक की एक ही आवाज है। मन में चिंता है कि मेरा

गंतव्य स्थान क्या होगा? गढ़-गंगा के पुल पर जिस तरह गाड़ी की छुक-छुक की आवाज कम हुई उसी तरह मेरे दिल की धुक-धुक भी दस मील के सफर में कम होती गई। किसी भी रेलगाड़ी में मेरी यह पहली यात्रा थी। गाड़ी दौड़ रही थी और मेरी निगाहें भी दूर विहंगम दृश्य देख रही थीं। मन में विचार आ रहे थे कि जिस तरह गन्ना बार-बार कटने के बाद भी और अधिक बढ़ता और मिठास भरा हो जाता है क्या उसी तरह मेरी जिंदगी भी संघर्षों से टूट-टूटकर और अधिक मीठी होगी। पठेरे की बाल की तरह जलकर जो दूसरों को रोशन करता है क्या मेरा जीवन भी जलकर दूसरों को रोशनी दे सकेगा। कभी-कभी रेल की सीटी मेरे विचारों को तोड़ देती थी। इसी उधेड़-बुन में शाम होने लगी और मुरादाबाद स्टेशन आ गया।

रात के अंधेरे में बाहर का दृश्य तो दिखाई नहीं दे रहा था, अलबत्ता मैं अपने-आप में जरूर देखने लगा। रात के अंधेरे की तरह मेरा जीवन भी अंधकारमय है। जिस तरह हर रात के बाद सुबह होती है उसी तरह मेरे जीवन में भी सुबह होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। सूरज जब सारी प्रकृति को आलोकित करेगा तो मेरा मन और तन भी, उसी प्रकृति के अंग होने के नाते, अवश्य ही आलोकित होंगे। इन विचारों में न जाने मैं कब सो गया और आंख खुली तो सूरज चढ़ चुका था। गर्म-गर्म चाय ने मुझे राहत दी और दिन के प्रकाश ने ढाढ़स।

मैं एक दिशाहीन यात्रा कर रहा था। न जाने कहां जाना था और कहां पहुंच गया। रेलवे स्टेशन पर नाम पढ़ा तो फैजाबाद था। यहां आते ही मुझे यकायक याद आ गया—

"जिसे न दे मौला, उसे दे सुजाउद्दौला"

रिक्शा ली और चार आने देकर शुजाउद्दौला मकबरा देखने चला गया। चिलचिलाती धूप और दिन के बारह बज रहे थे। सूरज ऊपर चोटी पर ऐसा कि किसी चीज की परछाई तक नहीं।

मकबरे की भव्य इमारत देखकर मैं दंग रह गया। यह मकबरा एक ऊंचे चबूतरे पर बना हुआ है और ऊंचा इतना कि देखने पर सिर के ऊपर रखी टोपी नीचे धरातल पर गिर जाए मानो कह रहा हो कि मेरे सामने सिर मत उठाओ वरना इज्जत मिट्टी में मिल जाएगी। पहले मैं चबूतरे की सीढ़ी चढ़ा और फिर मकबरे के गुंबद पर उन सीढ़ियों से जो नीचे से थोड़ी और ऊपर जाते-जाते संकरी हो गई थी। ऊपर से सरयु नदी ऐसी दिखाई देती मानो अयोध्या ने अपना यज्ञोपवीत धारण किया हो। एक बारीक धागे के समान दृष्टिगोचर थी। गुंबद के ऊपर

शुजाउद्दौला काल के बड़े-बड़े मिट्टी के दीपक भी उपलब्ध थे। सीढ़ियों से नीचे उतर कर आया तो अपने मन के उद्‌गारों को न रोक सका और गुंबद के नीचे खड़े होकर कहा—

"कितना सुंदर है यह मकबरा"

प्रतिध्वनि : "कितना सुंदर है यह मकबरा!"

"कैसी आलीशान इमारत है।"

प्रतिध्वनि : "कैसी आलीशान इमारत है।"

"कौन हो तुम जो मेरी नकल करते हो"

प्रतिध्वनि : "कौन हो तुम जो मेरी नकल करते हो"

"हिम्मत है तो सामने आओ।"

प्रतिध्वनि : "हिम्मत है तो सामने आओ"

"तुम गधे हो, पागल हो"

प्रतिध्वनि : "तुम गधे हो, पागल हो।"

मैं वहां से आक्रोश में आकर बाहर दौड़ा तो चबूतरे पर आकर गिर गया और अचेत हो गया। इसी बीच मकबरे का रखवाला आया और उसने अपने मिट्टी के लोटे से कुछ पानी मेरे मुंह पर छिड़का और कुछ पिलाया। जब मुझे होश आया तो देखा कि एक बूढ़ा मुसलमान मुझे प्यार से पानी पिलाकर मेरा सिर सहला रहा है। मैंने पूछा :

"यहां मकबरे में कोई भूत, प्रेत या पिशाच तो नहीं जो मेरी आवाज की नकल कर रहा था।"

मौलवी पूरी घटना को समझकर बोले—

"नहीं बेटा! यहां कोई भूत, प्रेत या पिशाच नहीं बल्कि तुम्हारी आवाज की ही गूंज थी। अब सोचो कि जब तुम अपने ही कहे लफ़्जों से इतने परेशान हो तो दूसरा आदमी इसकी वजह से कितना नाराज हो सकता है। याद रखना आज के बाद किसी को भी बुरा-भला न कहना और हां बेटे अगर एक मुसलमान ने हिन्दू को अपने बर्तन से पानी पिला दिया तो बुरा न मानना और न ही इसमें तुम्हारा धर्म भ्रष्ट हुआ। अब घर जाओ और जरूरतमंदों की मदद करो।

"खुदा हाफ़िज।"

सागर*

महाराज नारायण मेहरोत्रा
एम.एस-सी. (भूशास्त्र)

सागर पृथ्वी के एक बहुत बड़े भाग (लगभग 70%) को घेरे हुए है। ज्यों-ज्यों हम सागर तट से सागर के अंदर जाते है—जल की गहराई बढ़ती जाती है। सागर की अधिकतम गहराई का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उसमें विश्व की सब से ऊंची चोटी केवल डूब ही नहीं जाएगी, वरन पानी के तल से लगभग एक मील नीचे रहेगी। पर महाद्वीपीय ढाल (Continental Slope) तक, जो कि धरातल और समुद्र के बीच संबंध स्थापित करता है, समुद्र छिछला है। यहां पर कहीं भी समुद्र की गहराई 600 फुट से अधिक नहीं है।

समुद्र के जल का तापक्रम भी गहराई के साथ-साथ कम होता जाता है। पर समुद्र की सतह पर भी प्रत्येक स्थान पर तापक्रम समान नहीं है। भू-मध्य रेखा के निकट यह ताप अधिक (लगभग 80° फा.) तथा ध्रुवों के निकट कम (लगभग 28° फा.) ध्रुवों के निकट 28° फा. पर भी पानी नहीं जमता है—क्योंकि सागर जल में बहुत से क्षार मिले रहते हैं। सर्वप्रथम सागर का जल खारा न था। यह खारापन तो सागर को नदियों की देन है जो अत्यधिक मात्रा में खार ला लाकर समुद्र में जमाकर रही हैं।

भूतात्विक दृष्टि से हम सागर के कार्य को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। पहला सागर की लहरों का विनाश कार्य, जो कि तटवर्तीय प्रदेश और निम्न जल-रेखा तथा उच्चजल रेखा तक ही सीमित रहता है, दूसरा सागर का रचनात्मक कार्य जो कि सागर में समुद्र तट से लेकर सागर की अधिकतम गहराई तक होता रहता है।

---

* विज्ञान, मार्च 1954

सागर का विनाश कार्य

सागर के विनाश कार्य के लिए उसमें उठी तरंगे ही एक मात्र कारण हैं। सागर के जल को बड़ा गंभीर और शांत कहा जाता है—पर जिस समय इसमें लहरें उठती है, उनका विकराल स्वरूप दर्शनीय होता है।

चंद्र की आकर्षण शक्ति के कारण ही समुद में ज्वार भाटा आया करता है। ज्वार के समय समुद्र का पानी लहरों के साथ किनारे की ओर तेजी से बढ़ता है। और भाटे के साथ यह जल फिर समुद्र में वापस आ जाता है। यह लहरें टनों पानी अपने साथ ले जाती हैं और किनारे से टकराती हैं। किनारे पर निरंतर प्रहार होते रहने से समुद्र तट की रेखा स्थल की ओर बढ़ती रहती है।

कभी-कभी समुद्रों में भयंकर तूफान आ जाते हैं। अभिलेखों से ज्ञात हुआ है कि तूफान के समय उठी लहरों के थपेड़ों ने बड़े-बड़े प्रकाश स्तम्भों को तोड़कर बहा दिया, बड़े बड़े बांधों को नष्ट भ्रष्ट कर किनारे के प्रदेशों को जलमग्न कर दिया जिससे जनधन की बड़ी हानि हुई। सन् 1953 की जनवरी के अंतिम सप्ताह में समुद्र में अति भयंकर तूफान आया जिससे यूरोप में खंड-प्रलय का दृश्य उपस्थित हो गया, जिसका वर्णन नीचे संक्षेप में दिया गया है।

'समुद्री लहर बांध को तोड़कर तट के नगरों में घुस गई। (अनेक मकान समुद्र की लहर की चपेट में आ गए) जिससे ब्रिटेन, हालैण्ड, बेल्जियम, स्विट्जरलैंड और जर्मनी में भीषण क्षति हुई। इसके प्रभाव में सैकड़ों व्यक्ति मर गए, सहस्रों गृहविहीन हो गए। आयरिश सागर में ब्रिटिश स्टीमर 'प्रिंसेज विक्टोरिया' डूब गया जिसमें लगभग 150 व्यक्तियों की मृत्यु हुई। अन्य बहुत से जहाज लापता हो गए। टेम्स नदी के मुहाने पर स्थित 'कैनवे द्वीप' लाशों का द्वीप बन गया। गिरे हुए मकानों के मलवे के ऊपर, पेड़ों की डालों में फंसी हुई, तथा पानी पर तैरती बहुत सी लाशें दिखाई पड़ती थीं। यातायात व संवाद के साधन भंग हो गए। वेल्जियम के ओस्टैण्ड नगर का दो तिहाई भाग पानी से ढक गया। फ्रांस में डंकर्क नगर के निचले भाग जलमग्न हो गए। स्विटजरलैंड में बर्फीले तूफान और जोरों की वायु से रेल का आवागमन बंद हो गया। कई स्थानों के बीच टेलीफोन संबंध भंग हो गया। कहा जाता है कि लोगों की स्मृति में यह यूरोप का सबसे बड़ा तूफान था।'

समुद्र की लहरों का पानी तटवर्तीय शिलाओं पर प्रहार करता है और उन शिलाओं में विद्यमान दरारों के द्वारा भीतर घुस जाता है। दरारों में वायु पहले

से ही भरी रहती है—पर जब लहर का पानी दरार में घुसता है तो वायु संकुचित हो जाती है। जैसे ही लहर वापस जाती है वायु फिर एक दम फैलने लगती है। इस प्रकार वायु के संकुचन और फैलाव से बड़ी बड़ी शिलाएं शिथिल हो जाती है—उनमें की दरारें धीरे-धीरे बड़ी होती जाती हैं और अंत में चट्टानें टूट जाती हैं।

कभी कभी जल जोड़ों (Joints) में घुसकर शिलाओं में विद्यमान अन्य छोटी छोटी दरारों में घुस जाता है और विनाशकारी दबाव डालता है। इससे शिलाएं शिथिल समतलों पर से अलग अलग होकर गिरने लगती हैं।

जिस प्रकार वायु अपने साथ रेत, धूल, कण आदि बहा कर ले जाती है और वह वायु के विनाश कार्य में सहायता पहुंचाते हैं, उसी प्रकार सागर की लहरें भी अपने साथ बहुत सा रेत कंकड़ पत्थर लेकर जाती हैं और किनारे से टकराती हैं। इनकी रगड़ लगने से चट्टानें घिसने लगती हैं और धीरे-धीरे उनका क्षय होने लगता है। विशेषकर चट्टानों का निचला भाग—जहां तक लहर की पहुंच होती है, इसके प्रभाव में नष्ट होता है। निरंतर क्षय होने से चट्टानों का निचला भाग खोखला होता जाता है और ऊपर का भाग लटकता दिखाई देने लगता है। कुछ समय पश्चात् शिलाओं का ऊपरी लटकता भाग अपने ही भार के कारण टूट कर नीचे गिर जाता है। इस प्रकार शिलाओं का क्षय होने से समुद्र तट की रेखा स्थल की ओर बढ़ती रहती है।

चट्टानों का क्षय उनके योग तथा रचना पर निर्भर है। सुसंगठित व कठोर शिलाएं जैसे क्वार्टजाइट आदि पर दीर्घ काल तक जल का कोई प्रभाव नहीं होता। इसके विपरीत असंगठित व शिथिल चट्टानें जैसे 'शिस्ट' (Schist) आदि शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं।

सागर तट की रचना में पृथ्वी से संबद्ध घटनाओं का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। कभी कभी स्थल का समुद्रगर्भी भाग ऊपर उठ आने से किनारा सागर की ओर बढ़ आता है। कभी-कभी किनारे के पास का प्रदेश जलमग्न हो जाता है जिससे किनारा स्थल की ओर बढ़ आता है। भारतवर्ष के पश्चिमी समुद्र तट की जो रूपरेखा आज दिखाई देती है भ्रंश (Fault) के कारण स्थल का कुछ भाग समुद्र में धंस जाने से ही बनी है। पूर्वी किनारे के सभी द्वीपसमूह रेखावद्ध होकर एक दूसरे से जुड़े हुए थे पर बीच की धरती धंस जाने के कारण एक दूसरे से अलग हो गए हैं।

सागर का रचनात्मक कार्य

धरातल पर कार्य करने वाली शक्तियां जो कुछ भी पदार्थ तोड़ती, बखेरती हैं उसका अधिकांश वायु और नदियां सागर की ओर ले जाती है। इसके अतिरिक्त समुद्र की लहरों द्वारा क्षय किया पदार्थ भी सागर में ही जमा होता रहता है।

नदियों द्वारा जो पदार्थ सागर में पहुंचता है, उसमें कुछ तो जल में घुला रहता है और कुछ बालू बजरी मिट्टी आदि के रूप में विद्यमान रहता है। सागर में यह पदार्थ अपने आकार व हल्के भारीपन के हिसाब से क्रमिक रूप में जमा होते जाते हैं। बड़े व भारी कण समुद्र तट के निकट ही जमा हो जाते हैं। छोटे हल्के और महीन कण धारा के साथ समुद्र के भीतर दूर तक चले जाते हैं।

समुद्र के किनारे का बालू, कंकड़ पत्थर पानी की लहरों के साथ नाचता रहता है। जब लहर किनारे की ओर जाती है तो यह पदार्थ लहर के साथ आगे बढ़ते हैं और फिर लहर के साथ वापस आ जाते हैं। लहरों के आवागमन से सब पदार्थ किनारे पर की क्रमिक व्यवस्था में रख दिए जाते हैं। **भरे** और **रिनार्ड** ने समुद्र तट के निक्षेपों को दो भागों में विभाजित किया है।

1. समुद्र तट के पदार्थ।
2. गहरे जल में पाए जाने वाले पदार्थ।

समुद्र तट के पदार्थ–यह निक्षेप स्थल के क्षत-विक्षत पदार्थ के समुद्र में जमा होने से बने हैं। विशेष कर यह कार्य नदियों और वायु द्वारा ही संपन्न किया जाता है। इन पदार्थों को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(क) तटीय पदार्थ (समुद्र तट पर पाए जाने वाले पदार्थ)

(ख) छिछले जल में पाए जाने वाले पदार्थ (कंकड़ रेत, कीचड़ आदि)

(क) तटीय पदार्थ–यह पदार्थ उच्चतम और निम्नतम जल चिह्नों के बीच पाए जाते हैं। यह लगभग 60,000 वर्गमील क्षेत्रफल घेरे हुए हैं। इन पदार्थों में पत्थरों, और कंकड़ों की बहुलता रहती है। थोड़ा बहुत बालू भी पाया जाती है। किसी-किसी स्थान पर बालू कणों के चूर-2 होने से बनी मिट्टी भी मिलती है। पर यह मिट्टी अल्प मात्रा में ही मिलती है।

इन निक्षेपों में लहर के प्रभाव से जो चिह्न बनते हैं उन्हें 'लहर चिह्न' तथा वायु द्वारा निर्मित चिह्नों को 'वायुचिह्न' कहते हैं। यह चिह्न समुद्र तट पर बनी सभी रेतीली शिलाओं में पाए जाते हैं। इस प्रकार इन चिह्नों से शिलाओं के उद्गम स्थान का भी पता चलता है। इनके अतिरिक्त तटीय निक्षेपों में कभी-2 'पद

चिह्न' व 'वर्षा चिह्न' भी दिखलाई पड़ते हैं।

(ख) छिछले जल में पाए जाने वाले पदार्थ—यह निम्नतम जल रेखा से 600 फीट की गहराई तक पाए जाते हैं। यह दो प्रकार के होते हैं। एक तो वह जो यांत्रिक क्रिया द्वारा बनते हैं, दूसरे पदार्थ वह हैं जिनके निर्माण में जीव विशेष का हाथ रहता है।

यांत्रिक पदार्थ (Mechanical Deposits)—नदियों तथा वायु द्वारा लाया पदार्थ अधिकतर निम्नतम जल चिह्न से आगे जाकर जमा हो जाता है। कहीं-कहीं इसका फैलाव महाद्वीपीय ढाल के अंतिम छोर तक होता है। इन पदार्थों में बालू की ही अधिकता रहती है। किनारे की ओर कंकड़ व वजरी भी पाई जाती है।

धारा के प्रवाह में इन पदार्थों के जमा होने में विषमताएं (irregularities) हो जाती हैं। इसमें एक स्तर के ऊपर दूसरा स्तर क्षितिज से अलग-अलग कोण बनाता हुआ जमा होता है। इस प्रकार की रचना को संकर स्तर (Cross bedding) कहते हैं। शिलाओं में इनकी उपस्थिति, उनके (शिलाओं के) छिछले जल में बनने का प्रमाण है। कभी-कभी वायु चिह्न भी इन शिलाओं में देखने को मिलते हैं।

जैविक निक्षेप (Organic deposits)—जैविक निक्षेप जल में रहने वाले जीव-जंतुओं के अवशेषों के जमा होने से बनते हैं। समुद्र के कई प्रकार के जल जीव जैसे फोरामिनिफर, मूंगा या प्रवाल, (Corals), एकिनोडर्म, मौलस्क, ब्रायोजोआ आदि रहते हैं। इनमें से कुछ छिछले जल में और कुछ गहरे जल में पाए जाते हैं। उष्णदेशीय तथा उपोष्ण देशीय सागर इनके रहने के अति उत्तम स्थान हैं और वहीं पर यह अधिकता से पाए जाते हैं। इन जल जीवों के खोल अधिकतर $Ca\ Co_3$ के बने होते हैं यह $Ca\ Co_3$ इन्हें समुद्री जल से प्राप्त होता है। जल जीवों के मरने पर उनकी ठठरी के चूर-चार होने से समुद्र में चूने के निक्षेप बन जाते हैं। यह निक्षेप आकार और ऊंचाई में बढ़ते रहते हैं।

प्रवाल जंतु ही छिछले जल के प्रमुख निवासी हैं। इनके पनपने और वृद्धि के लिए तीन बातों की आवश्यकता है—खारी, उथला तथा उष्णजल। जल की गहराई 150 फुट से अधिक नहीं होनी चाहिए और उसका तापमान 68° फा. से कम न होना चाहिए। इन प्रवाल जंतुओं की ठठरी चूने के पदार्थों की बनी होती है। इस चूने के जमा होने से समुद्र में बड़े बड़े द्वीपों की रचना हुई है। डारविन ने इन प्रवालियों (Coral reefs) को तीन भागों में विभक्त किया हैं।

1. अनुतट प्रवालियां (Fringing Coral reefs)—यह स्थल के समानांतर चली जाती हैं और छिछले पानी के द्वारा थल से अलग रहती हैं। पर छिछले

पानी के नीचे की चट्टानें भी मूंगे की बनी होती हैं। निम्न ज्वार के समय यह समुद्र तट से जुड़ी दिखाई देती हैं। यह प्रवालियां लगभग आध मील से एक मील तक चौड़ी होती हैं।

2. परातट प्रवालियां (Barrier Coral reefs)—यह किनारे से बहुत दूर स्थल के समानांतर फैली हुई वह श्रेणियां हैं जो तट से विस्तृत और गहरे जल द्वारा पृथक हैं। सबसे बड़ी परातट प्रवाली आस्ट्रेलिया के उत्तरी पूर्वी किनारे पर है। यह परातट-महाप्रवाली (Great Barrier Reef) के नाम से विख्यात है। इसकी लम्बाई 1200 मील तथा चौड़ाई 10 से लेकर 90 मील तक है। इसका सबसे ऊंचा भाग समुद्र तट से 1800 फीट ऊपर है। यह श्रेणी समुद्र तट से कहीं 20 तो कहीं 80 मील की दूरी पर स्थित है। हिंद महासागर स्थित न्युकैलीडोनिया की प्रवाली 400 मील लम्बी है।

3. वृत्ताकार प्रवालियां (Atolls)—यह वह गोलाकार प्रवालियां है जिनके बीच में छिछले पानी की झील होती है। इस झील के जल का कहीं-कहीं श्रेणी के निमग्न स्थानों द्वारा सागर के जल से संबंध रहता है। इस प्रकार की श्रेणियां दक्षिणी प्रशांत महासागर में बहुलता से पाई जाती हैं।

समस्त प्रवाल श्रेणियां 5000000 वर्ग-मील जल पर आधिपत्य जमाए हैं। प्रवाल श्रेणियों की उत्पत्ति के विषय में वैज्ञानिकों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। समुद्री धाराएं अपने साथ मूंगों को बहाकर तट की ओर ले गई—जहां पर असंख्य मूंगों की ठठरी के जमा होने से अनुतट प्रवालियां निर्मित हुई। अन्य दोनों प्रकार की प्रवालियां भी अनुतट प्रवाली की रचना पर अवलम्बित हैं। **डारविन, डाना,** आदि के विचार में पहले अनुतट प्रवाली किसी ज्वालामुखी द्वीप के चारों ओर बनी। द्वीप के नीचे धंस जाने से इन श्रेणियों का संबंध ज्वालामुखी द्वीप के तट से भंग हो गया और अनुतट प्रवालियां-परातट प्रवाल श्रेणियों में परिणित हो गई। द्वीप के सागर जल में और अधिक धंस जाने से अथवा द्वीप के सागर में विलीन होने से यह श्रेणियां वृत्ताकार प्रवालियों का रूप धारण कर लेती हैं।

डेली के विचार में वृत्ताकार प्रवालियों की रचना परातट-प्रवालियों से हुई। पर आपके विचार में यह परिवर्तन ज्वालामुखी द्वीप के नीचे धंसने के कारण नहीं, वरन हिमकाल के उपरांत सागर में जल वृद्धि होने के फलस्वरूप हुआ। जल वृद्धि के कारण परातट प्रवालियों द्वारा आवद्ध भाग जल मग्न हो गया और यह वृत्ताकार प्रवालियां बीच में पानी की खाई को घेरे हुए दिखलाई पड़ने लगी।

गहरे जल में पाए जाने वाले पदार्थ—600 फीट की गहराई से गहरे जल

का क्षेत्र प्रारंभ होता है। ऊपर ही बतलाया जा चुका है कि 600 फीट की गहराई के उपरांत लहरों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। यहां केवल बालू, बजरी आदि का महीन चूरा ही जमा होता है। इस पदार्थ को कीच (Mud) कहते हैं। कीच कई रंग की होती है जैसे नीली, हरी, लाल, आदि।

नीले रंग की कीच समुद्र में बहुत बड़े क्षेत्रफल (लगभग 14,500,000 वर्ग मील) को घेरे हुए है। यह कीच 700 फीट से लेकर 16000 फीट तक की गहराई में पाई जाती है। इसका नीला रंग इसमें विद्यमान जैविक पदार्थ तथा लोहे के गंधकीय खनिजों की अधिकता के कारण है। प्रायः सभी समुद्रों के गहरे जल में यह कीच विद्यमान है।

लाल कीच ब्राजील के अटलांटिक तट पर तथा चीन के पीले सागर में बहुलता से पाई जाती है। इसका रंग इसमें विद्यमान लोहे की ऑक्साइड के कारण होता है।

पर यदि कीच में ग्लोकोनाइट खनिज की बहुलता होती है तो उसका रंग हरा हो जाता है। अन्यथा यह नीले कीच के समान है।

इसके अतिरिक्त भी गहरे जल में बालू तथा चूने के निक्षेप मिलते हैं। चूने के निक्षेपों में फोरमिनिफर पंक (Foraminifera ooz) तथा टैरोपेड पंक (Pteropod ooz) और बालू के निक्षेपों में डायटम पक (Diatom ooz) तथा रेडियोलेरियन पंक (Radiolarian ooz) मुख्य हैं। यह पंक जिन जीव जंतुओं के कुटने पिसने से बनता है, उन्हीं के ऊपर इनका नामकरण किया है।

फोरेमिनिफर पंक–फोरेमिनिफर की खोल व ठठरी के चूरे से बने पंक को कहते हैं। फोरेमिनिफर जाति के वशंज ग्लोबिजरीना (Globigerina) के खोल के चूरे से बने पंक को ग्लोविजरीना पंक कहते हैं। फेरेमिनिफर पंक लगभग 50,000,000, वर्ग-मील क्षेत्रफल घेरे हुए हैं तथा 2500 फीट से 18000 फीट की गहराई तक मिलता है। यह पंक अटलांटिक महासागर में बहुलता से पाया जाता है। प्रशांत महासागर का तो लगभग 18 प्रतिशत भाग इसी पंक से ढका है।

टैरोपोड पंक–यह 4000 से 9000 फीट तक की गहराई में मिलता है तथा प्रशांत महासागर के लगभग एक प्रतिशत भाग को ढके है। यह आस्ट्रेलिया के उत्तरी पूर्वी किनारे पर तथा उत्तरी अटलांटिक महासागर में भी मिलता है।

रेडियोलेरियन पंक–रेडियोलेरिया जल जीव के खोल बालू के बने होते हैं। इन खोलों के टूटकर जमा होने से जो निक्षेप बनते हैं उन्हें रेडियोलेरियन पंक कहते हैं। यह पंक जल की अधिकतम गहराई (लगभग 14000 से 27000 फीट

तक) में पाया जाता है और लगभग 3000,000 वर्गमील क्षेत्रफल घेरे हुए है। प्रशांत और हिंद महासागर में यह प्रचुर मात्रा में मिलता है, पर अटलांटिक महासागर में यह कहीं नहीं पाया जाता।

डायटम पंक–यह अंटार्कटिक सागर, उत्तरी प्रशांत महासागर तथा पश्चिमी प्रशांत महासागर में पाया जाता है। अंटार्कटिक महासागर में तो यह लगभग 11000,000 वर्गमील क्षेत्रफल घेरे हुए है।

लाल मिट्टी–समुद्र की महत्तम गहराई में लाल मिट्टी पाई जाती है। यह ज्वालामुखी पदार्थ-विशेष कर प्युमिस, ज्वालामुखी कांच तथा चूने की बनी होती है, 13000 फुट से 24000 फुट गहराई तक पाई जाती है और समुद्र का सबसे अधिक क्षेत्रफल (लगभग 50,000,000 वर्गमील) घेरती है।

क्लीवाणु*

श्रीकृष्ण जोशी

पदार्थ की रचना वैज्ञानिक के लिए सर्वदा कौतूहल और अन्वेषण का विषय रहा है। अपनी समस्त शक्ति-कल्पना और प्रयोग के रूप में—वह इस पर केंद्रित करता रहा है। उसकी इसी तपस्या के परिणाम स्वरूप हमें कणाद मुनि का अणुवाद, डेमोक्रिट्स तथा ल्यूसीपस का अणु सिद्धांत और डाल्टन की 'एटमिक थियरी' प्राप्त हुए परंतु समस्या की वास्तविक जटिलता और उसके सुझावों का आभास बीसवीं सदी के प्रथम चरण में हुआ। विज्ञान के सुप्रसिद्ध महारथी, जिनको आधुनिक विज्ञान का जन्मदाता कह कर पुकारना अनुचित न होगा, नेलसन के लार्ड रुदरफर्ड के प्रायोगिक तथ्यों तथा कणिका सिद्धांतों के आधार पर डेनमार्क के, सर्वत्र चमकते हुए ख्याति वाले भौतिकीविद नील्स बोहर ने यह बताया कि पदार्थ के अणु में, केंद्रस्थ धनावेश के चारों ओर ऋणाविष्ट विद्युदणु नियमवद्ध होकर एक सुन्दर व्यवस्था के साथ चक्कर लगाते हैं। उनकी इस व्यवस्था की कल्पना हमारे विज्ञान में, विशेषतया पदार्थ के वर्णपट के सैद्धांतिक ज्ञान में, अनुपम उन्नति का प्रतीक सिद्ध हुई। पर शनैः-शनैः वैज्ञानिकों को, जिनके अग्रणी पुनः स्वयं रुदरफर्ड ही थे, ज्ञात हुआ कि पदार्थ की रचना का वास्तविक रहस्य तो विद्युदणुओं के इस आवरण के अंदर अणु के केंद्रक (Nucleus) में छिपा है। अब वैज्ञानिक केंद्रक के रहस्योद्घाटन में निरत हो गया और उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप हमें आज के विज्ञान में सबसे महत्वपूर्ण स्थान रखनेवाला केंद्रक-शास्त्र (Nuclear Physics) मिला।

बीसवीं सदी के प्रथम दशकों में लोगों की यह धारणा थी कि संसार के सब पदार्थ दो प्रकार के लवों (Particles) प्राणुओं (Protons) और विद्युदणुओं (Electrons) के द्वारा ही बने हुए हैं। उनके लिए केवल ये दो प्रकार की ही ईंटें

* विज्ञान, दिसम्बर 1954

थीं जिनसे सारे पदार्थ जगत का निर्माण हुआ है। प्राण-विद्युदणु वाला यह सिद्धांत वैज्ञानिक प्रयोगों की दहकती आंच तथा कटु आलोचना के अंगारों में बिना परिवर्तित हुए न रह सका। इन सब में से महत्त्वपूर्ण परिवर्तन तथा क्लीवाणु (Neutron) नामक एक नए लव की कल्पना और उसकी खोज। यह नया लव वैज्ञानिकों को अपने सुपरिचित लव प्राणु और विद्युदणु से विचित्र ही मालूम हुआ। पहली विचित्रता थी इसका क्लीव (Neutral) होना, जैसा कि हम अभी बतलाएंगे। आज हम इसी विचित्र क्लीवाणु का विवेचन करेंगे।

क्लीवाणु की खोज–इस विचित्र लव की खोज का इतिहास भी कम विचित्र नहीं है। हमारे लवों के निरीक्षण तथा परीक्षण के सब सुलभ साधन लव पर के विद्युत-आवेश पर आश्रित रहते हैं, यदि कोई क्लीव लव परीक्षण यंत्रों में उपस्थित होगा तो वह यन्त्र पर कुछ भी प्रभाव न डाल सकने के कारण साफ-साफ बच जाएगा। यही हाल हमारे क्लीवाणु का हुआ। पर लगन में लीन वैज्ञानिक की पैनी नजरों से, उसकी तार्किक वृत्ति से कब तक छिपा रह सकता था। अपने प्रयोगों, उनसे प्राप्त तथ्यों के वर्गीकरण द्वारा वह अहर्निश प्रकृति के रहस्य-स्थलों पर अपना अधिकार करने की चेष्टा से अनुप्राणित रहता है और उसका यह प्रयत्न कभी भी बिल्कुल व्यर्थ हनीं जाता।

1930 ईसवी में जर्मनी के हीडलबर्ग की प्रसिद्ध अनुसंधानशाला में दो ख्यातनामा जर्मन वैज्ञानिक **बोथे** और **बेकर** ने पोलोनियम नामक रेडियमधर्मी तत्व से निःस्तृत एल्फा (Alpha) किरणों से कुछ हलके तत्व यथा बेरीलियम पर प्रहार किया तो उन्हें एक आश्चर्योत्पादक उत्सरण (Emission) प्राप्त हुआ। इस उत्सरण का परीक्षण करने पर उन्होंने इसे महती शक्ति की गामा (Gamma) किरण माना क्योंकि यह उत्सरण सुगमता पूर्वक शीशे की बड़ी-बड़ी पर्तों को पार कर जाता है और इसमें धनात्मक या ऋणात्मक कोई भी विद्युत आवेश नहीं प्राप्त हुआ।

वैज्ञानिक जगत ने जिज्ञासापूर्ण दृष्टि से इस उत्सरण की ओर देखा, फ्रांस के पेरिस स्थित जोलियो क्यूरी और उनकी स्त्री इरीन क्यूरी ने इन किरणों का विस्तृत अध्ययन किया। उनके प्रयोगों से प्रकट हुआ कि यह रहस्यमय किरणों विद्युत आवेश रहित होने के कारण माध्यम का अयनन (ionization) नहीं कर पातीं, पर सबसे अधिक महत्व की बात उन्होंने यह देखी कि जब हम इन किरणों के सामने हाइड्रोजन के किसी यौगिक यथा पैरेफिन को लाते हैं तो उद्जन पर इनकी क्रिया के फलस्वरूप हमें प्राणु प्राप्त होते हैं, जिनकी उपस्थिति को हम आसानी से विलसन के अभ्रवेश्म में, या और साधनों से जान सकते हैं। पर फिर

भी वह वास्तविकता का निरूपण करने में सफल न हो सके और उनका निर्णय भी यह ही रहा कि यह शक्तिशाली गामा किरण ही हैं।

वैज्ञानिक शंकित जीव है। वह किसी भी बात का अंधानुकरण कभी भी नहीं कर सकता। कोई कथन उसके प्रयोग और तर्क की कसौटी में खरा उतरने पर ही उसके यहां स्थान पा सकता है। यह गामा किरण वाला सिद्धांत उसकी कसौटी में खरा नहीं उतरा, कारण यह है। अगर यह तथाकथित गामा-किरणें हाइड्रोजन-यौगिकों में से प्रयोगों द्वारा मालूम हुए वेग के साथ प्राणुओं को हटाने में सफल हो सकती हैं तो इनकी शक्ति उस शक्ति की लगभग दस गुनी होनी चाहिए जो बेरीलियम-अल्फ़ा किरण की प्रक्रिया में प्राप्त हो सकती हैं। यह असंगत बात वैज्ञानिकों को बहुत खटकी।

इस समस्या का वास्तविक हल हमें सर जेम्स चैडविक से प्राप्त हुआ। इस ब्रिटिश वैज्ञानिक ने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में उपर्युक्त प्रयोग दुहराया और जब उन्होंने इस किरण को नत्रजन से भरे हुए अभ्रवेश्म में प्रविष्ठ कराया, उन्होंने देखा कि कभी-कभी अणु ऐसे धक्कों का अनुभव करके गतिमान होता है मानो अभ्रवेश्म में दो लव एक दूसरे से टकरा कर एक-एक दूसरे को धकेल रहे हों और इनमें से केवल एक का मार्ग अभ्रवेश्म में प्रकट हो रहा हो। कुछ भी भार न रखने वाली गामा किरणों द्वारा ऐसों धक्कों संपन्न होना ऐसा समझना—मूर्खतापूर्ण माना होता है। चैडविक को यह भास हुआ कि जिन नयी किरणों को हम गामा किरण (विद्यच्चुंबि विकिरण) समझे हुए हैं वह वास्तव में लव हैं, जिनकी टक्कर लगने से नाइट्रोजन तथा हाइड्रोजन के अणु जैसा हम आगे चल कर बताएंगे अब (Ion) बन कर गतिमान होते हैं और इन अयनों के मार्ग को हम अभ्रवेश्म में देख सकते हैं। चूंकि ये लव अपने आप अयनों को बनाने में असमर्थ हैं अतः इनका विद्युत आवेश रहित होना स्पष्ट है। इस भार वाले परंतु अनाविष्ट (क्लीव) को चैडविक ने 'न्यूट्रान' का नाम दिया। कार्य के लिए सन् 1935 में चैडविक को नए पुरस्कार प्राप्त हुआ।

उनकी इस खोज ने केंद्रक का रहस्योद्घाटन कर दिया, इसके पूर्व वैज्ञानिक, जैसा कि हम कह आए हैं, केंद्रक को प्राणुओं और विद्युदणुओं से बना हुआ मानता था, ऊपरी तौर पर इस कल्पना के द्वारा केंद्रक के भार और आवेश का ठीक-ठीक निरूपण तो हो जाता था परंतु सिद्धांत और कई प्रयोगों प्ररिणाम इसके बिल्कुल विरोध में थे, क्लीवाणु की खोज से यह स्पष्ट हो गया कि केंद्रक में प्राणु और क्लीवाणु ही समुपस्थित है न कि प्राणु और विद्युदणु। इस प्रकार सन् 1932 के

बाद क्लीवाणु केंद्रक में काम आने वाला अल्पघटक लव (Fundamental Particle) कहा जाने लगा और तब से अब तक इसके बारे में ज्ञान की वृद्धि होती गई और होती आ रही है।

वास्तव में क्लीवाणु आवर्त्तसारिणी (Periodic table) में सबसे पहला स्थान रखने वाला तत्व है, परंतु जैसा आगे चलकर ज्ञात होगा, अपने गुणों की बिल्कुल विचित्रता के कारण, और तत्वों से कुछ भी समानता प्रदर्शित न करने के कारण साधारण रसायनिक इसे तत्व मान कर आवर्त्तसारिणी में स्थान देने में स्वाभाविक हिचकिचाहट का अनुभव करेगा। आवर्त्तसारिणी हिचकिचाहट का अनुभव करेगा। आवर्त्तसारिणी में तत्वों को उनके केंद्रक स्थित विद्युत आवेशी की मात्रा के क्रम से स्थान दिया जाता है, रासायनिक के लिए सबसे कम आवेश के केंद्रक वाला तत्व हाइड्रोजन हैं जिसके केंद्रक (जो कि साधारण हाइड्रोजन में केवल एक प्राणु होता है) में इकाई धनावेश रहता है। पर उसका यह विचार गलत है कि इकाई आवेश से कम आवेश वाला कोई तत्व नहीं होगा। अतः सारिणी में इस तत्व का पहला स्थान सर्वथा न्यायसंगत है। अब हमारे नूट्रिनियम तत्व का सारिणी में पहला स्थान होना चाहिए क्योंकि इसका केंद्रक (जो कि यह स्वयं है) अनाविष्ट होता है अर्थात उस पर शून्य आवेश होता है।

पर इस शून्य आवेश के कारण ही न्यूट्रोन इतना विचित्र बन गया है। क्लीव होने के कारण कोई भी विद्युदणु इसके चारों ओर चक्कर नहीं लगाएगा, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी निर्धन नंगे भिखारी के पांवों तले कोई धनलोलुप आदमी सिर पटकते नहीं देखा जाता है, अब पदार्थ के सभी साधारण गुण उसके अणु के चारों ओर के इस विद्युदणुओं के आवरण पर ही निर्भर रहते हैं, यही विद्युदणु उस अणु अतः पदार्थ के रंग, स्वरूप, कठोरता शक्ति, घुलनशीलता क्रियाशीलता, चुम्बकत्व, परिचालकता आदि विभिन्न गुणों का निर्धारण करते हैं। विद्युदणुओं से विरहित क्लीवाणु में इन सभी गुणों का स्वभावतः ही अभाव होगा। क्लीवाणु के पास केवल हृदय ही हृदय है। विद्युदणुओं के वह हाथ पांव उसके पास नहीं। उसका व्यवहार भी हार्दिक ही होता है, जब वह किसी तत्व से मिलता है तो उसके हृदय से ही जा मिलता है जबकि हमारे साधारण रासायनिक तत्वों का पारस्परिक संयोग हाथ मिलाने तक ही सीमित रहता है। इनका यह हाथ मिलावा संबंध परिस्थितियों की तनिक अनुकूलता से ही टूट जाता है। परंतु हमारा क्लीवाणु तो हृदय परिवर्तन करके ही छोड़ता है, सच्चा हृदय परिवर्तन सदा स्थायी ही होता है जिस पर साधारण परिस्थितियां (दबाव व तापक्रम) कोई नियंत्रण नहीं रखते।

प्राप्ति

उद्जन के साधारण अणु को छोड़कर प्रत्येक तत्व के अणु के केंद्रक में क्लीवाणु विद्यमान हैं, हमारे पांवों तलें की मिट्टी में शरीर के अंग-प्रत्यंग में भोजन में, वस्त्रों में, सर्वत्र और सर्वदा क्लीवाणु विद्यमान है, परंतु कैदी के रूप में, केंद्रक की कैद में पड़े हुए इस कैदी के भार के अतिरिक्त किसी भी गुण को हम नहीं जान पाते। कारागार की सुदृढ़ भित्तियों के अंदर उसके कारनामों से अब तक हम पूर्ण परिचित नहीं हैं। इन क्लीवाणुओं को इस कारा से उन्मुक्त करने के लिए महान साधनों और शक्ति की आवश्यकता होती है, यही कारण है कि अमेरिका जैसे कुबेर-राष्ट्र ही बड़े पैमाने पर इस क्रिया को संपन्न करने में सफल हुए हैं। कारा मुक्त क्लीवाणु फिर तो अल्लादीन का चिराग है, और है अमूल्य पारस पत्थर, विनाशकारी एटम बम की जड़ में यही है, तत्वांतरण का एक सुलभ साधन भी यही है।

वैसे तो प्रकृति की गोद में, भूमि की गहनतम गहराइयों में, आकाश की ऊंची उड़ान में, स्वयं हमारे शरीर में लगभग **बोथे** और **बेकर** के ढंग के प्रयोग घटित होते रहते हैं, रेडियमधर्मी तत्वों से निकली हुई अल्फाकिरणों निकटवर्ती प्रचुर मात्रा में पाए जाने वाले तत्व सिलोकन और मैग्नीसियम से टकरा कर क्लीवाणुओं को उत्पन्न करती है। प्रकृति में क्लीवाणुओं का सबसे बड़ा उद्गम स्थान धरातल से छः मील ऊपर आकाश में वायुमण्डल के ऊपरी स्तर पर है। वहां पर ब्रह्मांड रश्मि की वेगवान वर्षा हर समय वायुमंडल के अणुओं को प्रकम्पित किए रहती है। ब्रह्मांड रश्मि के लवों की इस दहला देने वाली सशक्त मार से अणुओं के केंद्रक बिखंडित हो जाते हैं और इस क्रिया में अन्य लवों के साथ-साथ क्लीवाणु भी निःसृत होते हैं, यह क्लीवाणु इतने वेगवान होते हैं कि मनुष्य की प्रयोगशाला में बनाए जाने वाले वेगवान क्लीवाणुओं की अपेक्षा ये अधिक शक्ति धारण किए रहते हैं।

क्लीवाणुओं का उत्पादन

क्लीवाणुओं के उत्पादन के माने हैं अणु केंद्रक की कैद से स्वतंत्र करना, जैसा कि हम लेख के अंत में उल्लेख करेंगे, क्लीवाणु केंद्रक के अन्य प्राणुओं और क्लीवाणुओं से शक्ति-शाली बंधनों से बंधा रहता है। इन बंधनों को तोड़कर क्लीवाणुओं को स्वतंत्र करने के लिए भी अपेक्षाकृत क्लीवाणुओं को स्वतंत्र करने

के लिए भी अपेक्षाकृत शक्तिशाली साधनो की आवश्यकता होगी। इनके उत्पादन की मुख्य विधियां यह हैं–

(1) बोथे और बेकर द्वारा प्रयुक्त विधि क्लीवाणुओं के उत्पादन की यह सब से पुरातन विधि हैं। इसके अनुसार रेडियमधर्मी तत्वों से निःसृत अल्फा किरणों की सहायता से हल्के तत्व के केंद्रक पर प्रहार किया जाता है। क्लीवाणु प्राप्त करने की यह क्रिया हल्के तत्वों के साथ ही संभव है।

(2) किसी केंद्र में स्थित क्लीवाणुओं को हम गामाकिरणों की सहायता से भी स्वतंत्र कर सकते हैं, परंतु यह आवश्यक है कि गामा किरण की शक्ति, क्लीवाणु को केंद्रक में बांधने वाली शक्तियों से अधिक हो, आप दो रस्सी से बंधे हुए गोलों को तभी खींच कर अलग कर सकते हैं जब आप द्वारा लगाया हुआ बल रस्सी की बंधन शक्ति से अधिक हो जाए और रस्सी टूट जाए। अलग-अलग के केंद्रकों से क्लीवाणुओं को प्राप्त करने के अलग-अलग शक्ति की गामा किरणों की आवश्यकता होती है, ड्यूटीरियम (द्वित्ताणु) और वेरीलियम के लिए यह आवश्यक बल अपेक्षाकृत कम होता है।

इस साधन के द्वारा, गामा किरणों की शक्ति नियंत्रित करके हम किसी निश्चित शक्ति के क्लीवाणु पुंज को प्राप्त कर सकते हैं, उसी प्रकार जैसे कि खेल का खिलाड़ी अपनी 'किक' की शक्ति को पुनः बढ़ा कर गेंद की चाल को नियंत्रित रखता है। इस प्रकार प्राप्त हुए एकसी शक्ति वाले इन लवों के समूह, क्लीवाणु के संबंध में कई प्रयोगों में प्रयुक्त होता है।

(3) हल्के और मध्यम भार वाले तत्वों पर प्राणुओं के गोलक्षेप (Bombardment) से भी क्लीवाणु प्राप्त होते हैं। लीथियम नामक पदार्थ में अणुओं पर प्राणुओं के गोलक्षेप से बेरीलियम के अणु और क्लीवाणु प्राप्त होता है। गोलक्षेपित प्राणु की शक्ति को घटा बढ़ा कर हम प्राप्त क्लीवाणु की शक्ति भी घटा बढ़ा सकते हैं।

(4) यह इन सब उपरोक्त साधनों की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त होने वाला साधन है। साइक्लोट्रान (द्वित्ताणत्वर) की सहायता से प्राप्त वेगवान ड्यूटिरियम के केंद्रक (ड्यूटेरोनों) को बर्फ के रूप में परिवर्तित गुरु जल (Heavy water) पर गोल क्षेपित किया जाता है। इस क्रिया के फलस्वरूप एक सेकण्ड में लगभग 10^9 क्लीवाणु प्राप्त होते हैं। साइक्लोट्रोन की सहायता से ड्यूटेरोनों में अपार गमता आ जाती है।

क्लीवाणु का भार तथा आवेश

उपरोक्त विवरण से पाठक के लिए यह स्पष्ट हो गया होगा कि क्लीवाणु में कुछ भी विद्युतावेश नहीं होता। इसके परिणाम-स्वरूप पदार्थ के विद्युदणुओं का कुछ भी प्रभाव इन पर नहीं पड़ता क्योंकि ये विद्युदणु आविष्ट लवों पर ही अपना प्रभाव दिखाते है। क्लीवाणु केवल केंद्रक से टक्कर खाकर ही मंद हो सकते हैं। चूंकि पदार्थ में उसका केंद्रक बहुत कम स्थान घेरे रहता है और अधिकतर स्थान में तो विद्युदणुओं का वातावरण ही वर्तमान रहता है। 3×10^9 से.मी. प्रति सेकिंड की चाल से चलने वाला क्लीवाणु हवा में कहीं तीन चार सौ मीटर चलने के बाद एक केंद्रक से टकराएगा, इस प्रकार कई मील की यात्रा के बाद यह क्लीवाणु रुक पाएंगे। एक लव, जो कि अति सूक्ष्म है द्वारा इतनी बड़ी दूरी का तय किया जाना बड़ा ही आश्चर्योत्पादक है। इस दूरी की महानता का अनुमान आप इससे कर सकते हैं कि इसी गति से बढ़ते हुए प्राणु हवा में कुछ फिट चलकर गतिहीन हो जाते हैं। इन प्राणुओं का धनावेश पदार्थ के ऋणाविष्ट विद्युदणुओं के जाल से होकर इनका निकलना बड़ा ही दूभर कर देता है।

क्लीवाणु का भार प्राणु के भार के लगभग बराबर ही है। इस तथ्य का पता सर्वप्रथम चैडविक ने ही लगाया। उन्होंने पता लगाया कि जब एक प्राणु (जो स्वयं डाइड्रोजन का केंद्रक है) और क्लीवाणु टकराते हैं तो इस टक्कर के बाद उनकी गति की प्रबलता और दिशा को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि दो बराबर भार वाले लगभग एक से अणु टकरा रहे हैं, इन लवों की टकराने की यह क्रिया मोटे तौर पर दो एक सी ही विलियर्ड के बौलों (गेदों) के टकराने के समान होती है। इसके भी बाद कुछ अन्य प्रामाणिक और विश्वसनीय विधियों से किए गए प्रयोगों के आधार पर ज्ञात हुआ कि क्लीवाणु, प्राणु की अपेक्षा कुछ भारी होता है। परंतु भार का यह अंतर हमारी मोटी दृष्टि में नगण्य हैं और साधारणतः हम यह कह सकते हैं कि क्लीवाणु, प्राणु के बराबर ही भारी होता है।

क्लीवाणु की रेडियम धर्मिता

क्लीवाणु के साथ केवल यही बात नहीं कि वह आवेश रहित है, इससे अधिक कौतूहल पैदा करने वाली बात यह है कि यह क्षण भंगुर भी है, अपनी रेडियमधर्मिता के कारण यह शीघ्र ही चोला बदल कर देता है। आप एक क्लीवाणु समूह की

कल्पना कीजिए, यदि अन्य साधनों से इनकी संख्या में कोई अंतर न आ रहा हो तो आप पाएंगे कि केवल इस रेडियमधर्मिता के कारण ही लगभग पंद्रह मिनट में समूह के आधे क्लीवाणु अपना चोला बदल कर देते हैं। इसको हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि क्लीवाणु के इस स्वेच्छापूर्ण चोला बदलने की क्रिया में, जिसके संपन्न होने में मनुष्य अपना कोई भी नियंत्रण नहीं रख सकता, एक क्लीवाणु, एक प्राणु तथा एक विद्युदणु में बदल जाता है, इस प्रकार की रेडियम-धर्मी क्रियाओं को जिनमें विद्युदणु का सृजन होता है **बीटा** (Beta)—**परिवर्तन** भी कहते हैं।

इस क्रिया का अध्ययन करने पर एक प्राणु और एक विद्युदणु के अलग-अलग भार को जोड़ने पर योग क्लीवाणु के भार से कुछ कम निकलता है। प्रतीत होता है कुछ पदार्थ नष्ट हो गया है। पदार्थ के अविनाशी होने पर विश्वास करने वाले वैज्ञानिकों की इस समस्या का हल पहले से हीं तैयार था और इस समाधान को प्रस्तुत करने वाले थे इस युग के अपरिमेय मेधावी जर्मन वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टाइन। हिटलर के अत्याचारों से त्रस्त नाजी जर्मनी को इस यहूदी को छोड़ना पड़ा था, आजकल यह अमेरीका में हैं। इन्होंने अपने सापेक्षता सिद्धांत के बल पर यह दिखा दिया कि, पदार्थ और शक्ति एक दूसरे में परिवर्तनशील है। अतः हम यह सोच और मान सकते हैं कि क्लीवाणु के टूटने पर, प्राणु और विद्युदणु से अधिक बचा हुआ पदार्थ शक्ति के रूप में बदल जाता है, यह शक्ति प्राणु तथा विद्युदणु में बंट जाती है, विद्युदणु हल्का होने के कारण प्राणु की अपेक्षा बहुत बड़े वेग से अग्रसर होता है और यही वेगवान विद्युदणु बीटा-किरण कहलाता है।

इस परिवर्तन में प्राप्त शक्ति का ठीक-ठीक अंकन करने पर वैज्ञानिकों को अनुभव हुआ कि अब भी आइन्स्टान से सिद्धांत के अनुकूल शक्ति हमें प्राप्त नहीं होनी, मालूम पड़ता है कुछ आवेग लुप्त हो गया हो, परंतु यह कल्पना विज्ञान के प्रतिष्ठित नियमों के विरुद्ध है, यदि आपकी जेब में से सदा कुछ रुपया कम होता ही रहता है और आपकी कई सावधानियां और कठोर निगरानी भी व्यर्थ ही सिद्ध हो रही हों, तो आप यही अनुमान लगाएंगे कि कोई कुशल चोर आपके पीछे पड़ा हुआ है, इसी प्रकार की कुछ क्रिया इस उपरोक्त **बीटा-परिवर्तन** में हो रही थी, इस तथा-कथित विभेद ने वैज्ञानिकों की नींद हराम कर दी, इस विभेद के भेद को **डॉक्टर पौली** ने समझा, पौली महोदय ने एक नए लव की कल्पना की पौली की यह वैज्ञानिक-कल्पना, कवि-कल्पना से भी अधिक रहस्यमय थी।

उन्होंने कहा कि इस लव में न तो कोई आवेश होना चाहिए और न कोई भार, इस अनोखे लव का नामकरण उन्होंने किया 'Neutrino' (न्यूट्रिनो), यह ही वह चोर था जो बीटा परिवर्तन में बची खुची शक्ति (वास्तव में ममता) को अपने साथ ले जाता है, भार और आवेश दोनों से रहित होने के कारण करोड़ों मील विस्तार वाली लोहे की दीवारों को यह उसी आसानी से पार कर जाएगा जैसे आप और हम हवा में से होकर, वास्तव में तो इससे भी अधिक सुगमता से। इस चोर के छोड़े हुए कुछ चिह्नों को देख और समझ कर वैज्ञानिक इसकी कल्पना मात्र कर सकते हैं, उसे पकड़ कर कैद करना नितांत असंभव है।

क्लीवाणु का पदार्थों पर भौतिक प्रभाव–पदार्थ से होकर जाता हुआ क्लीवाणु अन्य गम्भीर परिवर्तनों के अतिरिक्त साधारण भौतिक परिवर्तन भी करता हैं इनमें से कुछ का उल्लेख हम यहां पर करेंगे।

क्लीवाणु बहुत थोड़ी संख्या में पदार्थ के अंश को अयनित भी कर सकता है। यह क्रिया इस प्रकार होती हैं। पदार्थ के अणुओं के बीच से होकर होता हुआ क्लीवाणु संभवतया किसी न किसी भी केंद्रक से टकराएगा, इस टक्कर से क्लीवाणु किसी और दिशा में मुड़ पड़ेगा और इस कारण केंद्रक की चाल अपनी साधारण चाल बढ़ घट जाएगी। जब यह केंद्रक तेजी से भागता है तो अपने साथी विद्युदणुओं में से एक को तो पीछे ही छोड़ देता है। जैसे किसी की धक्का-मुक्की में हम अपने साथी का हाथ पकड़े हुए होने पर भी कभी-कभी किसी जोर के धक्के के कारण हाथों के छूट जाने के कारण बिछुड़ जाते हैं। कई जनों के गिरोह में तो बिछुड़ की यह संभावना और भी अधिक रहती है। विद्युदणुओं के पीछे छूट जाने का फल यह है कि अणु धन-आविष्ठ हो जाता है। जिसे अयनन भी कहते हैं। चूंकि क्लीवाणु और केन्द्रक की मुठभेड़, प्रथम तो वैसे ही कम होती है। जब होती भी है तो यह अयनन-क्रिया बहुत सी मुठभेड़ों में होती है क्योंकि क्लीवाणु पदार्थ अयनन की अपेक्षा अति गम्भीर परिवर्तन लाने में सर्वदा सफल सिद्ध होता है।

इसी प्रकार क्लीवाणु पदार्थ के लवों में अणु को अपने निश्चित स्थानों पर से हटा देता है। अब देर तक पदार्थ पर क्लीवाणु वर्षाने के बाद पदार्थ की ताप और विद्युत परिचालन शक्ति में भी आ जाती है। क्लीवाणु-वर्षा के कारण कार्बनिक पदार्थ विच्छेदित हो जाते हैं क्योंकि व्यूहाणु अणुओं के बीच के बन्धन इस वर्षा के कारण आसानी से टूट जाते हैं।

10

जंतुओं का देशाटन*

जगपति चतुर्वेदी

संसार में मनुष्यों को जीविकार्जन करने की चिंता में देश-देश भटकना पड़ता है। अपने ही देश में भी कोने-कोने तक दूर-दूर से जाते और कुछ अर्जित करते या मनोरंजन करते पाया जाता है किंतु जंतुओं को भी कुछ कारणों से देशाटन करना पड़ता है, इस तथ्य की ओर हमारी दृष्टि प्रायः नहीं जाती है। पक्षियों के दल का आना-जाना तो हम अवश्य देखते हैं। टिड्डियों का भारी संख्या में आना देखा जाता है परंतु कभी उनके लौट जाने की बात नहीं सुनी गई। वे अपने अभियान में कुछ दूर जाकर कदाचित् नष्ट ही होती हैं। पुनः कालांतर में शलभों का आक्रमण मूल जन्म स्थान से संख्यातीत संख्यावृद्धि होने के कारण होता है किंतु पक्षियों या अम्य बहुतेरे जंतुओं में देशाटन का एक चक्र-सा पाया जा सकता है जिसमें जंतु भ्रमण करने के स्थान की ओर प्रायः पुनः लौट आते हैं। ऐसे यात्रा-चक्रीय अभियानों का कारण उपयुक्त भोजन तथा संतानोत्पादन के स्थल ढूंढ़ना है। यह समझा जाता है कि कुछ स्थल तो भोजन के उपयुक्त हो सकते हैं परन्तु कुछ अन्य स्थल विशेष तापमान, वातावरण आदि कारणों से संतानोत्पादन के अधिक उपयुक्त हो सकते हैं किंतु इसके साथ ही यह कठिन प्रश्न उपस्थित होता है कि जनन स्थल तो कहीं एक क्षेत्र है और आहार प्राप्त करने का स्थान विषम ऋतुओं के समय इतनी अधिक दूर है, फिर किस विशेष ऋतुओं के समय इतनी अधिक दूर है, फिर किस विशेष निर्देश तथा व्यवस्था द्वारा उतनी अधिक दूरी का मार्ग पा सकना संभव हो सकता है? इन प्रश्नों पर कुछ विचार कर अस्थायी निष्कर्ष निकालने के प्रयत्न किए गए हैं जिनका वर्णन कौतूहलवर्द्धक ही है। यथार्थ में जंतुओं के अंतर्तम में उत्पन्न भावों, सूक्ष्म वृत्तियों और शक्तियों का ज्ञान प्राप्त

---

* विज्ञान, अप्रैल 1954

कर सकने के लिए कोई साधन या वैज्ञानिक उपकरण नहीं बने हैं, अतएव कल्पनाओं के आधार पर ही कुछ धारणाएं बनानी पड़ती हैं।

अनेक मत्स्य, पक्षी, सील, ह्वेल (तिमि) तथा कुछ चमगीदड़ आदि जल-जीवी तथा वायु-जीवी जंतु अधिक विस्तृत यात्रा-चक्र रखते हैं। एक निर्दिष्ट समय, निर्दिष्ट दिशा क्षेत्र की यात्रा कर जनन कार्य के लिए पहुंचते हैं। उनकी संतान उत्पन्न होकर पता नहीं किन कारणों से अपना जन्म-स्थान ही छोड़ देने के लिए विवश होती है तथा माता-पिता के पूर्व स्थान को चली जाती है। उनके साथ ही या कई जंतुओं में संतानों के पीछे माता-पिता उस संतानोत्पादन स्थान को छोड़ते हैं। इन कृत्यों की मीमांसा में कुछ जंतुओं के देशाटन की चर्चा की जा सकती है।

लंबे देशाटन के यात्रा-चक्र वाली मछलियों में ईल तथा सालमन का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। काड तथा अन्य कुछ मछलियां भी इससे कुछ कम महत्व का यात्रा-चक्र बनाती हैं। काड मछलियां व्यावसायिक पदार्थ प्रदान करने के लिए प्रसिद्ध हैं। समुद्र में इनके यूथ के यूथ पृथक्-पृथक् पाए जाते हैं। इन मत्स्य-यूथों में असंख्य काड होते हैं। मत्स्य-यूथ का एक स्वतंत्र संघ या ईकाई बनी रहती है। इन मत्स्य-संघों का एक प्रमुख भोजन स्थल स्पिट्सबर्गेन, बियर द्वीप तथा बेरेंट्स समुद्र में अपेक्षाकृत शीत तथा उथले जल खंड में पाया जाता है। यहां समुद्र के ऊपरी जल पर एककोषीय सूक्ष्मदर्शकीय जलवाही वनस्पति प्रचुर मात्रा में विद्यमान होती है जो अल्पवय शिशुओं के लिए उपयुक्त आहार होता है। आठ वर्षों तक समुद्र-तल के इन जलवाही सूक्ष्मदर्शकीय वनस्पतियों को आहार करते-करते काड मत्स्य के शिशु अल्हड़पन की अवस्था पाकर प्रौढ़ बनते हैं और संतानोत्पादन करने की प्रकृतिदत्त प्रवृत्ति से संपन्न हो जाते हैं किंतु प्रकृति का विधान है कि इनका संतानोत्पादन उस क्षेत्र में समुचित नहीं जहां आहार की प्रचुरता मात्र है। जनन क्षेत्र उससे पृथक ही होता है। वे नार्वे के पश्चिम तट पर लोफोटेन द्वीप समूहों के निकट प्रवास कर जाते हैं और वृहद संतानोत्पादन यूथ बन जाते हैं। वहां अंडे देते हैं। अंडों का वहां विकास होता रहता है। उनसे इल्ली उत्पन्न होती हैं।

समुद्र में उष्ण तथा शीतल जल की धाराएं भी प्रवाहित होती हैं जिनका वर्णन प्राकृतिक भूगोल के अध्ययन करने वाले छात्रों को पढ़ने का अवसर मिलता है। नार्वे के निकट से उत्तर की ओर ऐसी उष्ण जलधारा प्रवाहित होती है। उसके साथ वे इल्लियां भी बह चलती हैं। माता-पिता उसी जलधारा में अधिक मंद

गति से पीछे-पीछे उसी दिशा में चलते हैं। फलतः नवजात मत्स्य तथा उनके जनक मत्स्य भी आहार क्षेत्र में पहुंच जाते हैं। उत्तर में शीत जल ही होता है किंतु वही निश्चयात्मक रूप से आहार स्थल होता है। उसमें जलवाही सूक्ष्म-दर्शकीय वनस्पतियों का बाहुल्य होता है, किंतु उधर जनन कार्य के लिए अपेक्षाकृत कुछ उष्ण जल की आवश्यकता रहती है, अतएव नार्वे के निकट के क्षेत्र को इस जाति का मत्स्य उसके उपयुक्त समझता है। वहां के अपेक्षाकृत उष्ण जल में अंडे शीघ्र विकसित तथा पोषित होते हैं तथा अपनी जाति के पोषण या आहार स्थल तक धारा द्वारा प्रवाहित होकर पहुंचने तक वे भोजन कर सकने योग्य यथेष्ट पुष्ट हो गए होते हैं।

लोगों की धारणा है कि जल की धारा के विपक्ष ही चलने या तैरने का प्रयत्न करने की प्रवृत्ति मछलियों में पाई जाती है। 1953 के वर्षा-प्राबल्य से जल-प्रलय-सा होने का दृश्य प्रयोग के निवासियों ने देखा। उस समय यमुना तथा गंगा के बढ़े हुए जल के कारण बांध की मोरी बंद रखनी पड़ी थी, किंतु गंगा के जल का तल कुछ नीचा होने पर मोरी के भीषण प्रवाह से नगर का जल गिरने लगा तो गंगा के अपेक्षाकृत निम्न जल से मोरी के द्वार की ओर मछलियां इतनी अधिक संख्या में कूद जाने का प्रयत्न करतीं कि जल के ऊपर उपयुक्त ढंग से कपड़े फैलाने पर माझियों को स्वतः मछलियां हाथ में पहुंचती प्रतीत होतीं। बहुत से लोगों को यह बड़े कौतूहल की बात नहीं ज्ञात होती। वर्षा के जल के ऊपरी भाग में पड़े रहने से जितनी सड़ान पैदा हो गई थी उसमें तो मछलियां जी भी नहीं सकती थीं। किंतु बहुत से लोगों को यह जान पड़ता कि ऊपर की ओर से ही मछलियां आकर गंगा में कूद रही हैं।

प्रकृति-पर्यवेक्षकों ने निरीक्षण कर ज्ञात किया कि पहाड़ी नदियों में धारा के विरुद्ध तैर कर जाने वाली मछलियां मार्ग में कहीं ऊंचाई से नदी की धारा गिरने से झरना बना होने पर अपनी शक्ति भर उस ऊंचाई को फांद कर ऊपर की धारा में उल्टा जाने का भगीरथ प्रयत्न करती हैं। ठीक ऐसा ही दृश्य प्रयागवासियों ने मोरी के द्वार से छोटे से झरने रूप में पानी गिर कर गंगा की धारा में मिलते जाने के समय देखा था। डॉ. ई.एस. रसेल ने इस बात का समर्थन किया है कि मछलियां जल-प्रवाह के उल्टे तैरती हैं, किंतु काड तथा अन्य मछलियों के लंबे देशाटन का अवलोकन कर उनका कथन है कि अंडा देने के पूर्व काड मछली इस सर्व-मान्य सिद्धांत का ही अनुसरण करती है और स्पिट्सबर्गेन या अन्य स्थलों की ओर नार्वे की ओर से उत्तराभिमुख जाती धारा के उल्टे तैरती

नार्वे तक पहुंचती हैं, किंतु अंडे तथा उनसे उत्पन्न इल्लियां धारा के अनुकूल प्रवाहित होकर दक्षिण से उत्तर की ओर जाती हैं और नार्वे से स्पिट्सबर्गेन, बियर द्वीप आदि तक पहुंचती हैं। यह ध्यान में रखने की बात है कि कोई समुद्र धारा मछली को भूमि की दृष्टि से उसकी आपेक्षिक स्थिति का ज्ञान नहीं करा सकती। मछली किसी स्थिर वस्तु को देख या अन्य प्रकार से अनुभव कर भूमि की तुलना में अपेक्षित स्थिति तथा दिशा का ज्ञान प्राप्त कर सकती है। उदाहरणतः समुद्र के पेटे के निकट तैरते हुए वह दिशा का कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकती है। एक बात यह भी संभव हो सकती है कि जल के तापमान या खारेपन में क्रमागत उतार या चढ़ाव से ही वह अपनी यात्रा-दिशा निर्धारित कर लेती हो। यह तथ्य है कि तापमान तथा खारेपन की क्रमागत न्यूनाधिकता का अनुभव मछली को सूक्ष्म रूप में भली-भांति हो सकता है। काड के उत्तर भाग में अपेक्षाकृत शीत प्रदेशों में जीविकार्जन अर्थात् आहार प्राप्त करने जाने तथा संतानोत्पादन के लिए अपेक्षाकृत उष्ण जल-भाग की खोज में दूर की लंबी यात्रा कर नार्वे पहुंचने की यही मीमांसा की जा सकती है।

काड मछली के उत्तर दक्षिण देशाटन करने (अथवा ठीक शब्दों में समुद्राटन करने) की भांति अटलांटिक में ईल-मत्स्य को पूर्व-पश्चिम दिशा में बड़ी दूर तक समुद्राटन करने का उदाहरण रखते पाया जाता है। ईल मछली की कथा बड़ी ही विचित्र है। यूरोप में बसंत के आगमन पर प्रतिवर्ष एक प्रकार के क्षुद्र जल-जंतुओं का यूथ नदियों के मुहानों तथा निम्न जलभागों में संकुलित पाया जाता रहा। जंतु भी क्या था, सिलाई करने वाली सुई समान ही मोटा और दो इंच लंबा होता था। उसका शरीर दिव्य कांच की भांति लगभग पारदर्शी दिखाई पड़ता। संसार में तो लाखों योनियां हैं। उन्हीं में से यह भी कोई नगण्य जल-जंतु था किंतु वर्ष के एक भाग में एक विशेष जलखंड में उसका बाहुल्य अवश्य कुछ विस्मय उत्पन्न किया करता था। उस रहस्य को खोलने वाला कोई आधार प्राप्त नहीं था। आज यह अवश्य ज्ञात हो सका है कि ये अल्पवय ईल मत्स्य हैं जो इन जलभागों में अन्यत्र से आ पहुंचते हैं। उनका जनन क्षेत्र यूरोप में कहीं भी नहीं है। पहले तो केवल इतना ही देखा जाता कि ये अल्पवय लम्बोतरे मत्स्य शिशु नदियों की धारा में ऊपर की ओर चढ़कर उसकी सहायता नदियों की धारा तथा जल-धारा से संलग्न जलाशयों में पहुंचते और वयस्क होकर ईल मछली के नाम से ज्ञात होते। इससे कुछ विशेष अधिक बातें नहीं ज्ञात हो सकी थीं।

ईल के संबंध में यह विचित्र बात बहुत कम लोगों को ही ज्ञात था कि

ये ही वयप्राप्त ईल कुछ दिनों में किसी अंतर्भावना से प्रेरित होकर पुनः समुद्र की ओर चल पड़ते हैं। समुद्र में जाने की उनकी यह प्रेरणा इतनी प्रबल हो उठती है कि नदी नालों से असंबद्ध बने जलाशयों तक से भी वापस होकर समुद्र गमन का प्रत्येक संभव प्रयत्न करते हैं। किसी भी जलखंड में जा फंसे होने से वहां से निकल कर समुद्र की ओर जाने में कोई भी बाधा पार करने में वे कोई प्रयत्न उठा नहीं रखते। इस विचित्र व्यापार का क्या कारण हो सकता है, इस प्रबल यात्रा-भावना का कौन-सा अपरिहार्य कारण हो सकता है, यह संसार के लिए सदा से एक पहेली ही रही है।

यदि ईल ऐसे जलाशय में पड़ा हो जहां पहुंचने के लिए पहले जलमार्ग रहा हो परंतु ऋतु की विषमता से वह जलमार्ग सूख जाने से जलाशय का किसी नदी जलधारा से संबंध न रह गया हो, तो वहां से स्थूल मार्ग की यात्रा कर ही नदी की धारा में पहुंच जाने का प्रयत्न करते हैं। इस भीषण यात्रा के लिए वे ऐसा उपयुक्त अवसर ढूंढ़ते हैं जब आंधी तूफान का प्रकोप हुआ हो, धरती जलसिंचित हो रही हो। प्राकृतिक कोप द्वारा उत्पन्न इतनी क्षीण आर्द्रता के अवलम्ब पर भी ईल मत्स्य भूयात्रा पार कर लेने का साहस एकत्र करते हैं और अभियान प्रारंभ कर देते हैं। यह उनकी समुद्र-गमन की प्रचंड लालसा का ही परिणाम होता है। परंतु ईल कहीं कुएं में पड़ा हो या मनुष्य के हाथों हौजों या जलपात्रों में बंद हो जहां से उसका निकल सकना असंभव ही हो तो वह विवश होकर वहीं पड़ा रह जाता है। वहां से बाहर आने का कोई प्रयत्न कार्य-कर नहीं हो सकता। इस कारण वह निष्फल प्रयत्न नहीं करता। नदी से समुद्र में जाने की आयु के ईलों की अपेक्षा वह अधिक समय तक उन स्थानों में जीवित पड़ा रहता है।

प्रकृति विज्ञान के पर्यवेक्षकों ने बड़े ही यंत्र से ईल के अभियान करने के प्रयोजन तथा मार्ग का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इसके लिए अनेक वर्षों तक निरंतर पर्यवेक्षण तथा समुद्र यात्रा करते रहना पड़ा है। समुद्र के जलखंड से ईलों के नमूने भारी संख्या में स्थान-स्थान से लिए जाते रहे हैं। ईलों की गतिविधि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके शरीर की परीक्षा से उसकी आयु भी जान लेने का प्रयत्न किया गया है। मछलियों की भांति ईल में छिछड़े होते हैं, परंतु वे सूक्ष्म आवरण के नीचे ही होते हैं तथा एक दूसरे पर आरोहित नहीं होते, बल्कि सटे-सटे पृथक्-पृथक् रूप में शरीर के चारों ओर बिछे होते हैं। ऋतु के परिवर्तन से उन शल्कों (छिछड़ों) में भी वृक्ष के आड़े कटे तने की गोल-रेशाओं या मुद्रिकाओं की भांति चिह्न अंकित होते हैं जो उन ईलों की आयु व्यक्त कर सकते हैं। इस

ज्ञान से ईलों का रहस्य समझ सकने में विशेष सहायता मिली है।

ईल की आयु निर्धारित कर सकने के प्रमाणों से यह ज्ञात हो सका है कि मादा ईल, जिसका आकार नर ईल की अपेक्षा बड़ा होता है, साढ़े सात वर्ष के लगभग आयु की ओर जाने के लिए सन्नद्ध हो पड़ती है। अपेक्षाकृत छोटे आकार के नर उससे एक या दो वर्ष पूर्व ही समुद्र-यात्रा के लिए चल पड़ते हैं।

आयु की दृष्टि से ईलों के सात वर्ग बनाये जा सकते हैं जो नदी तालाबों आदि में रहते हैं। इनमें सात वर्ष की आयु हो जाने वाले वर्ग के ईल ही प्रतिवर्ष समुद्र गमन के लिए उद्यत होते हैं। शेष सभी वर्गों के ईल निर्द्वंद्व उन जलखंडों में ही पड़े रहते हैं। प्रतिवर्ष यही क्रम चलता है। प्रत्येक ईल छः वर्षों तक जीवनयापन करते हुए अपने से अधिक वय के ईलों का प्रस्थान चुपचाप देख लेता है। उस अभियान से स्वयं प्रभावित नहीं होता। अगले वर्ष यह स्वयं पूर्वगामी ईलों का अनुकरण करता है। इस प्रकार कुल ईल संख्या के सातवें या आठवें भाग को ही प्रतिवर्ष समुद्राटन के लिए प्रवृत्त पाया जा सकता है।

जब ईल समुद्र अभियान प्रारंभ करते हैं तो निराहार रहने का व्रत प्रारंभ कर देते हैं। उनको आहार की कोई आवश्यकता भी नहीं होती। सात वर्षों तक नदी तालाबों में ग्रहण किए आहार से उनके शरीर में यथेष्ट वसा (चर्बी) एकत्र हो चुकी रहती है। वह उसके मार्ग में शरीर रक्षा के लिए यथेष्ट होती है। रंगों में भी विलक्षण परिवर्तन होता है। उनका रंग धूमिल हो जाता है। उदर का सुनहला पीला रंग बदल कर रूपहला श्वेत हो जाता है। उसी समय नेत्र विशाल हो जाते हैं। यह सब समुद्र-यात्रा के उपयुक्त शरीर बना लेने की तैयारी ही होती है। अब उन्हें नदी-तालाबों के जल-वनस्पति, तथा कीच के कारण गंदले पेंदे की जगह अगाध जलराशि के समुद्र में प्रयाण करना होता है। समुद्र के स्वच्छ खुले जलखंड में उन्हें अनेक प्रबल शत्रुओं से बचते रहने के लिए अधिक दृष्टि-शक्ति की आवश्यकता होती है।

इतनी तैयारी कर चुकने पर जब ईल नदी की धारा किसी प्रकार पार कर मुहाने तक पहुंच जाने में सफल हो जाता है तो समुद्र के जल में अपना अभियान प्रारंभ कर देता है। वह कहां जाता है, क्या गंतव्य स्थल तथा यात्रा-उद्देश्य होता है, इसका वह कुछ आभास नहीं देता। केवल यही देखा जाता है कि वह पुनः नदी-तालाबों के जल में लौटकर पास नहीं आता। उसकी यात्रा जीवन की अंतिम यात्रा ही कही जा सकती है। यह अनंत की ओर यात्रा होती है।

वयस्क ईलों के महा अभियान का लक्ष्य न भी ज्ञात हो तो भी वैज्ञानिकों

ने उसकी गतिविधि का रहस्योद्घाटन करने के लिए एक दूसरा प्रमाण संग्रहित किया है। ईलों के न्यूनतम आयु के शिशु जहां पाए जा सकते हैं, वही जलखंड वयस्क ईलों के पहुंचने का लक्ष्य हो सकता है। यह देखा गया है कि यूरोप के समुद्र-तट से विदा होकर ईल दक्षिण पूर्व की ओर समुद्र-यात्रा कर सरमोसा समुद्र की ओर जाते हैं जो अमेरिका के फ्लोरिडा प्रदेश से पूर्व की ओर बहामा तथा बरमुडा द्वीपों के मध्य है।

इस तथ्य को ज्ञात करने में बड़ा प्रयत्न करना पड़ा है। इटली में मसीना जलप्रणाली सिसली द्वीप को इटली से पृथक् करती है। यहां पर गहरे समुद्रों के विचित्र जलजंतु प्रायः ऊपरी तल पर दिखाई पड़ जाते हैं जो कभी छिछले जलखंडों में नहीं दिखाई पड़ सकते। अतएव समुद्री जीव-जंतुओं के अध्ययन के लिए वह एक उपयुक्त क्षेत्र है। यहीं पर ग्रैसी तथा कैलेंड्रुकियो नाम के दो वैज्ञानिकों ने विलक्षण ईल के जीवन का कुछ अध्ययन प्रारंभ किया। उनको एक क्षुद्रकाय रंगहीन जलजंतु मिला जो दोनों बगल चपटा, पत्ती की तरह था तथा छोरों की ओर नोकीला था। सिर छोटा सा था। जबड़ों में तीव्र दांत थे जिससे वह छोटे जल-जंतुओं को खा सकता था। कुछ समय में वह कायापलट कर छोटा रूप धारण कर गोल बनता गया। दांत भी गिर गए। फीतेनुमा मत्स्य के स्थान पर अब वह ईल का अल्पायु रूप बन गया।

इस तरह इल्लियां अन्यत्र भी पाई जाती रही किंतु कुछ बात समझ में नहीं आती। अंत में अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक परिषद् ने इस ओर ध्यान देकर ईलों के संबंध में खोज करने का भार डेनमार्क पर डाला। वहां डॉ. श्मिट ने शोधकार्य प्रारंभ किया। उनको जल-नौका द्वारा जहां तक यात्रा कर जाल डालना संभव हुआ, केवल एक ही आकार के शिशु ईल मिलते। ऐसा तो किसी प्रकार होना उसी समय संभव था जब उन क्षेत्रों में कहीं भी इसका जनन-स्थान न हो। अनेक स्थानों में सैकड़ों बार पतले छेदों के जाल डाल डालकर भी किसी निष्कर्ष पर न पहुंचने और ईल की उत्पत्ति का जल-खंड ज्ञात न होने पर डॉ. श्मिट ने बड़ा जलयान लेकर दूर सागर की यात्रा कर शोध करना प्रारंभ किया और पश्चिमी द्वीपसमूह तक आ पहुंचे। इस यात्रा में उन्हें प्रत्येक स्थान पर शिशु ईल प्राप्त होते अतएव उसकी उत्पत्ति का भेद खुलने ही वाला था कि प्रथम महायुद्ध छिड़ गया और इस शोध कार्य को स्थगित करना पड़ा।

डॉ. श्मिट के जलयान को विपत्ति का भी सामना करना पड़ा। वह तट पर तूफान द्वारा फेंक दिया गया। किसी प्रकार ईलों के शिशुओं का स्थान-स्थान

पर से लिया हुआ भंडार जिन बोतलों में पृथक् था, वे बच सकीं। वापस आकर डॉ. श्मिट ने जब यात्रा के भिन्न-भिन्न स्थानों के समुद्र खंडों के इन नमूनों का अध्ययन किया तो उन्हें ज्ञात हुआ कि यूरोप से जितनी ही अधिक दूरी के समुद्र में प्राप्त शिशु ईल का नमूना है, वह क्रमागत रूप से उतना छोटा है। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य था जिससे व्यक्त होने लगा कि पश्चिमी द्वीप समूहों के समुद्र में कहीं ईल के अंडे दिए जाते होंगे और उन अंडों से उत्पन्न इल्लियां या शिशु यूरोप की ओर प्रस्थान करते होंगे। इस कारण यूरोप के निकट होते जाने पर उनका आकार भी बड़ा होता जाता होगा। कितने ही घोर प्रयत्नों के पश्चात् यह सत्य उद्‌घाटित हो सका था।

प्रथम महायुद्ध समाप्त होते ही 1920 में एक बार जलयान पर डॉ. श्मिट ने सीधे पूर्वी द्वीप समूहों तक यात्रा की और बहामा द्वीप के उत्तर समुद्र में ईल के न्यूनतम आयु के शिशु भारी संख्या में जालों द्वारा प्राप्त किए। यहीं ईल की जन्मभूमि थी जो यूरोप से चार हजार मील दूर स्थित थी, किंतु इतनी दूरी के जल खंड में उत्पन्न होकर असंख्य शिशु ईल यूरोप की नदियों के मुहाने में प्रति वर्ष वसंत में पहुंचा करते हैं।

कठिनाइयों का समाधान होने के मार्ग में ही एक विषम समस्या यह भी खड़ी हुई कि एक जल-भाग से लिए गए नमूने में पश्चिमी द्वीप समूहों में एक दूसरे प्रकार की इल्ली प्राप्त हो सकी जो ईल की साधारण इल्ली से भिन्न थी। आज उसका मर्म स्पष्ट ज्ञात हो सका है। ईल की दो जातियां होती हैं। एक तो यूरोपीय तथा दूसरी अमेरिकीय। कुछ थोड़े से जलभाग में तो दोनों जातियों के ईल की मिश्रित इल्लियां पाई जा सकती हैं, उसके पश्चिम ऐसी सीमा है जहां से पश्चिम के उस समुद्र-भाग में केवल अमेरिकीय ईल की इल्लियां मिलती हैं तथा पूर्व के क्षेत्र में एक सीमा के पूर्व के उसी जल क्षेत्र में यूरोपीय ईल की इल्लियां होती हैं। एक विशेष क्षेत्र में इन ईलों का जननक्षेत्र है। उस क्षेत्र में ही अमेरिकीय ईल की इल्लियां किसी अज्ञात प्रेरणा से पश्चिम की ओर केवल एक सहस्र मील का मार्ग पार कर अमेरिका के स्थलवर्ती जलखंडों, नदियों, झीलों आदि में पहुंचती हैं, परंतु यूरोपीय ईल की इल्लियां एक समान जलखण्ड में ही उत्पन्न होकर पूर्व की ओर तीन-चार हजार मील की समुद्र यात्रा कर यूरोप पहुंचने में प्रवृत्त होती हैं। शिशु रूप में इतनी विशाल समुद्र यात्रा के लिए प्रवृत्ति उत्पन्न करने का क्या कारण हो सकता है, यह विज्ञान के लिए एक गहन रहस्य की बात ज्ञात होती है। इस यात्रा में यूरोपीय ईल की इल्लियों को तीन वर्ष लगता

है। अमेरिकीय इल्ली को एक वर्ष लगता है।

सबसे न्यून आयु की इल्ली चौथाई इंच लंबी प्राप्त हो सकी है। लंबाई में आधे इंच की और वृद्धि होने तक वे अधिक गहरे तल में रहती है। आकार में वृद्धि हो जाने पर जलतल से 12 फैदम से 25 फैदम (1 फैदम=6 फीट) की गहराई तक रहती हैं। इतनी ही गहराई के नीचे रहते हुए वे समुद्र यात्रा भी करती हैं। ईल की इल्लियों का मार्ग निर्देशक साधन समुद्र की ऊष्ण-जल धारा कही जा सकती है जिसे गल्फ स्ट्रीम कहते हैं। इसकी मंद जलधारा के थपेड़ों से ही वे कदाचित् अपना मार्ग इंगित समझती हैं। प्रथम वर्ष की यात्रा में तो वे पश्चिमी अटलांटिक तक ही पहुंचती हैं। उनका आकार एक इंच रहता है। दूसरे वर्ष उनकी लंबाई दूनी, लगभग दो इंच हो जाती है और वे मध्य अटलांटिक पहुंच चुकी रहती हैं। तीसरे वर्ष उनका आकार बढ़ कर तीन इंच लंबा हो गया होता है और वे यूरोप तक पहुंच गई होती हैं।

यूरोप पहुंचने पर ईल के रंग में परिवर्तन होता है। इल्ली रूप में वे पारदर्शी तथा रंगहीन रहते हैं। धीरे-धीरे त्वचा रंगीन होने लगती है। इसका कारण उसकी त्वचा में काले या गहरे भूरे रंग के तारे समान अत्यंत सूक्ष्म बिंदुओं का उत्पन्न होना है। सिर के ऊपर ये बिंदु विशेष घने होते हैं। खुले समुद्र में तो गहराई में रहने के कारण इल्ली सूर्य के ताप से बची रहती है, परन्तु अब उसे गहरे समुद्र की रक्षा प्राप्त नहीं रहती। समुद्र में उसकी पारदर्शिता शत्रुओं से उसे अदृश्य भी रखे रहती है। नदी के अपेक्षाकृत छिछले जल में यह रंगीन त्वचा सूर्य की कुछ विशेष किरणों से कदाचित् बचाती है और जल-वनस्पतियों के मध्य वह रंगीन रूप से छिप भी सकती है। ईल के जन्म धारण करने तथा आहार क्षेत्र में अभियान की यह विचित्र कहानी है। पुनः समुद्र में जाने की कथा भी वैज्ञानिक शोधों से कदाचित् अधिक स्पष्ट रूप से किसी दिन वर्णित कर सकना संभव हो।

प्रशांत महासागर (पैसिफिक) की सालमन मछली की कई जातियों में समुद्राटन या पर्यटन का अवलोकन का विचित्र परिणाम निकाले गए हैं। 1928ई. में रिच तथा होम्स नामक वैज्ञानिकों ने यह व्यक्त किया कि वयस्क राजा सालमन मछली मुख्य कोलंबिया नदी में दो समयों में प्रवेश करती है। एक तो वसंत में, दूसरे वर्षा के अंत में। बसंत ऋतु में नदी में प्रवेश करने वाली सालमन 100 मील तक कोलंबिया नदी में चढ़ने के पश्चात् दक्षिण मुड़ कर बिल्लामेट्टे नदी में प्रवष्टि कर जाती है। वर्षा के अंत में नदी में प्रवेश करने वाली सालमन सीधे पूर्व दिशा में कोलंबिया नदी में बढ़ती जाती है। समुद्र में पुनः वापस आने

के पूर्व उन मछलियों को चिन्हित करने से निम्न निष्कर्ष प्राप्त हुए –(1) जो मछलियां बिल्लामेट्टे तथा कोलंबिया नदी में पली होती हैं, वे पुनः इन नदियों में ही प्रवेश करती हैं। बहुसंख्यक सालमन उन छोटी सहायक नदियों से ही पुनः प्राप्त की जाती हैं जहां की शिशु मछलियों में से कुछ पहले चिह्नित हुई थीं। (2) जो शिशु बिल्लामेट्टे नदी की मछली के अंडों से उत्पन्न होते हैं किंतु उनका जनन तथा पालन ऊपरी कोलंबिया नदी में हुआ रहता है, वे कोलंबिया नदी में ही ऐसी ऋतु में वापस आते हैं जो बिल्लामेट्टे नदी में सालमन के प्रवेश करने का होता है।

सालमन की दूसरी जातियों के संबंध में भी वैज्ञानिकों ने प्रयोग किए। फोर्स्टर नाम के वैज्ञानिक ने फ्रेजर नदी की एक छोटी सहायक कुलटुस नदी में ओचोरहिंचस नर्का नाम की जाति की सालमन मछली के नवजात शिशुओं को चिह्नित कर छोड़ दिया। बाद में जब वयस्क सालमन पुनः पकड़ी गई तो कुल 967 सालमन में से 87 प्रतिशत कुलटुस नदी से ही प्राप्त हुई। शेष 13 प्रतिशत समुद्र में मछली पकड़ने के क्षेत्र से मिली। कोई भी चिह्नित सालमन किसी अन्य जनन क्षेत्र से नहीं प्राप्त हुई। इन प्रयोगों को दुहरा कर सालमन के जीवन-क्रम का ज्ञान प्राप्त किया गया है।

ऐसा ज्ञात होता है कि मीठे (अलवणीय) जल में रहने पर अल्पवय मछली में कोई निर्दिष्ट रूप की क्षेत्रीय भावना होती है जो जल खंड के रूप, तापमान, ओषजनप्रसार या रासायनिक रचना पर आधारित रहती हो। यह भी कल्पना होती है कि मछलियां इन वातावरणों तथा जल खंड के नमूनों से परिचित और अभ्यस्त-सी हो जाती हैं। अतएव एक निश्चित जनन-क्षेत्र के निकटवर्ती ऐसे स्थलों में आ पहुंचती हैं। किंतु इन्हें मछलियों की वृत्तियों के संबंध में निश्चित तथ्य नहीं कहा जा सकता। अभी तक मूल जनन-क्षेत्रों में मछलियों के वापस आने के मार्ग की दिशा, दूरी आदि के संबंध में अधूरा ही ज्ञान प्राप्त हो सका है। प्रिचर्ड नामक वैज्ञानिक ने गुलाबी सालमन (ओंचोरहिंचस मोर-बुस्चा) के संबंध में बैंकूवर के निकट खोज की है। वैकूवर द्वीप के निकट मारिसन क्रीक से 45 मील उत्तर के समुद्र से जो मछली चिह्नित कर छोड़ दी गई वह डेढ़ मास पश्चात् मारिसन क्रीक के 115 मील दक्षिण लोपेज द्वीप के निकट पकड़ कर चिह्नित की गई वह मारिसन क्रीक में सवा महीने बाद पुनः प्राप्त हुई। इन प्रमाणों से यह विदित होता है कि गुलाबी सालमन की यह जाति अपने जनन क्षेत्र की नदी के मुहाने से यथेष्ट अधिक दूर तक समुद्र-यात्रा करती है तथा अन्य जनन-क्षेत्रों में प्रवेश करने का

भी अवसर पाती है।

अटलांटिक की सालमन मछली के विषय में निरीक्षण कार्यों के परिणाम उल्लेखनीय हैं। हंट्समैन नाम के वैज्ञानिक ने यह निष्कर्ष निकाला है कि जो अधेड़ सालमन अपने जनन-क्षेत्र की नदी में वापस आते हैं, वे पुनः समुद्र में उस क्षेत्र से बहुत अधिक दूर नहीं जाते जहां तक उसकी जनन क्षेत्रीय नदी के जल का भौतिक या रासायनिक प्रभाव हो सकता हो। अतएव स्थलखंडीय जल में प्रवेश करने की यात्रा प्रारंभ करने पर वह स्वभावतः अपने जनन-क्षेत्र तक पहुंचती है, किंतु जो मछलियां बहुत दूर तक समुद्राटन करती हैं उनके पुनः जनन क्षेत्र में वापस आने के प्रमाण सुलभ नहीं हैं। सालमन में अपने जनन स्थान को स्मरण रखने की वृत्ति मानने में कुछ बाधाएं भी ज्ञात होती हैं। यदि एक ही जनन-क्षेत्र ऐसा हो जहां उसकी भौतिक आवश्यकताएं पूर्ण हो सकती हैं तब तो जन्म स्थान स्मरण रखने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अनेक जनन क्षेत्रों में घूम-फिर कर वह अपनी आवश्यकता के अनुकूल एकमात्र जनन स्थल तक अंततः पहुंच ही सकती है। इन कारणों से रिच तथा होम्स नाम के वैज्ञानिकों के निष्कर्षों को असत्य बता कर ह्वाइट तथा हंट्समैन का कथन है अटलांटिका के सालमन में वसंत तथा वर्षांत ऋतु के समयों में विभिन्न जलखंड की यात्रा का कारण मछलियों के अंग की विशेष रचना नहीं हो सकती, बल्कि धाराओं का विशेष रूप ही हो सकता है।

उभयचर सरीसृपों तथा उभयचरों में, भी देशाटन वृत्ति देखी जाती है। किंतु मछलियों तथा पक्षियों समान अधिक नहीं पाई जाती। इनका यात्रा-चक्र भी जनन क्षेत्र से आहार क्षेत्र तथा इसके विपरीत होता है। पक्षियों के नियमित प्रवास या देशाटन के संबंध में हम यहां नहीं लिखना चाहते। उसके संबंध में पक्षियों की पुस्तकों में पढ़ने योग्य सामग्री है, किंतु कुछ स्थलजीवी या जलजीवी स्तनपायी जंतुओं का विशेष उल्लेख करने की अवश्य आवश्यकता है। उनकी कुछ प्रवास यात्रा या महायात्रा का वर्णन तो अत्यंत आश्चर्यजनक है। साधारण रूप में शीत या उष्णता की विषम ऋतु होने पर थोड़ा-बहुत स्थानांतर तो संसार भर में एक साधारण घटना है। पहाड़ी देशों या ध्रुवीय क्षेत्रों में हिम का प्रसार होने पर अपेक्षाकृत उपयुक्त वातावरण में जंतु प्रवास कर अपनी उदर पूर्ति तथा जीवन रक्षा करते हैं। परंतु इस अभिप्राय के अतिरिक्त भी यात्राओं के अद्भुत उदाहरण पाए जाते हैं।

रोमीय सील जलजीवी स्तनपायी है। इनकी यात्रा का विवरण विचित्र है। मादा तथा अल्पायु नर शीतकाल में दक्षिणी कैलिफोर्निया तक जाकर निवास करते

हैं, परंतु वयस्क सील का निवास अलास्का की खाड़ी या अल्यूशियन द्वीप समूहों के निकट होता है। संतानोत्पादन काल में वयस्क नर सील उत्तर की प्रबिलीफ द्वीप समूह तक प्रवास करने चले जाते हैं जो अल्यूशियन के उत्तर छोटे चट्टानी द्वीप हैं तथा निकटतम भूखंड से दो सौ मील दूर हैं। ऐसे पृथक् रूप में भूखंड के असंबद्ध छोटे स्थल के जनन क्षेत्र में मादा सील भी तीन हजार मील की यात्रा कर पहुंच जाती है। ये मादाएं पहले से ही गर्भवती रहती हैं और इस जनन क्षेत्र में पहुंचने के कतिपय दिनों के अंदर ही शिशुओं का जनन करती हैं शिशुओं को दूध पिलाना बंद करने के पश्चात् ही वे पुनः गर्भ धारण करती हैं और दक्षिणी की यात्रा प्रारंभ करती हैं। इनके प्रवास चक्र का रहस्य नहीं खुल सका है। पता नहीं उसका क्या कारण है और किस प्रकार वह संपन्न होता है।

ह्वेल भी लंबे स्थानों तक प्रवास करने पहुंचते हैं। उत्तरी अमेरिका में ह्वेल की कई जातियां ग्रीष्म काल ध्रुवीय समुद्रों में बिताती हैं। उनका शीतकाल दक्षिण में निम्न कैलिफोर्निया के निकटवर्ती समुद्र में व्यतीत होता है। किंतु इस विशालकाय जलजीवी स्तनपायी जंतु की गतिविधि का निरीक्षण कर सकना बड़ा कठिन कार्य है। चमगीदड़ों के भी प्रवास करने की बात सुनी जाती है। परंतु उसके यथेष्ट स्पष्ट रूप नहीं ज्ञात हो सका है। उसके शीत ऋतु में निवास-क्षेत्र का विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं होता। किंतु अमेरिका के प्रवासी चमगीदड़ों को दूर के समुद्रों में जहाजों पर तथा बरमुडा द्वीप में पाया जाता है।

ऋत-वैषम्य या जनन तथा आहार क्षेत्रों के लिए प्रवास की बात छोड़ कर कुछ स्तनपायी जंतुओं में किसी-किसी समय आकस्मिक रूप से प्रवास की भीषण वृत्ति फूट पड़ती पाई जाती है। ऐसे प्रवास अपेक्षाकृत अनियमित अवधियों के पश्चात् होते पाए जाते हैं। लेमिंग नाम के एक कुतर कर खाने वाले स्तनपायी जंतु की ऐसी प्रवास-थकान उल्लेखनीय है।

लेमिंग एक कुतर कर खाने वाला छोटा स्तन पाई जंतु है। यह उपनिवेश रूप में पूर्वी स्कैंडिनेविया के ध्रुवीय स्टेपी भूभागों के ऊजड़ खंड में रहता है। साधारणतया यह वर्ष में दोबार संतान-उत्पादन करता है। एक बार चार या पांच शिशुओं को जन्म देता है। कुछ अनियमित अवधि, दो-तीन या चार वर्षों पश्चात्, इनकी संख्या अत्यधिक हो जाती है। अधिक संख्या में शिशु-उत्पादन शक्ति की वृद्धि कदाचित् इसका कारण हो। जब ऐसे स्थिति आ पहुंचती है, तो लगभग संपूर्ण लेमिंगों का उपनिवेश नीचे उतर कर पश्चिमी घाटियों में पहुंचने लगता है। ये घाटियां पर्वतीय पठार से नीचे की ओर फैली हैं। यह प्रवास-क्रम उस

समय तक संचालित रहता है जब तक सभी लेमिंग समुद्र में प्रविष्ट नहीं हो जाते। अंत में वे समुद्र के जल में डूब मरते हैं।

लेमिंगों की सामूहिक रूप से जल समाधि प्रकृति की एक अघटनीय घटना है। सुना जाता है कि पौराणिक युगों के समय युधिष्ठिर के नेतृत्व में पांडवों ने हिमालय के हिम-शृंगों की यात्रा की थी और वहां से ही उन्होंने यह संसार परित्यक्त किया था। कह नहीं सकते, इस कथानक में कितना सत्य है। किंतु आज लेमिंग हमारे नेत्रों के ही सम्मुख बलात् समुद्र गर्भ में सामूहिक रूप में पहुंच कर जीवन उत्सर्ग रह-रह कर करते रहते हैं। आज के किसी पौराणिक कथाकार को ऐसी कथावस्तु दुर्भाग्यवश सुलभ नहीं होती, अन्यथा इन्हें भी कदाचित् कुछ आस्थाजन मान्यता मिलती।

कोलेट नाम के वैज्ञानिक ने लेमिंग की जीवन-कथा के संबंध में कई तथ्यों को निर्धारित किया है। उनके विचार से (1) लेमिंगों की अत्यधिक संख्या वृद्धि पर ही ऐसी प्रवास क्रिया अवलम्बित होती है। (2) इस कृत्य में उनके आहार की न्यूनता या अन्य कोई शरीरगत व्याघात प्रयत्क्ष कारण नहीं होता। कुछ सीमित संख्या के लेमिंग पीछे छूटे रह जानते हैं। वे ही पुनः वंशावृद्धि कर सकने में समर्थ हो सकते हैं। (3) इस प्रवास के कारण लेमिंगों की जातियों के स्थायी प्रवास क्षेत्र में वृद्धि नहीं होती। (4) अधिकांश प्रवासी लेमिंग मृत्यु को ही प्राप्त होते हैं। (5) प्रवास के कारण लेमिंगों में शारीरिक कृत्य में अंतर होता है। वे पहले जहां दब्बू, डरपोक जंतु बने रहते हैं, प्रवास के समय साहसी हो जाते हैं। कुछ कलहप्रिय भी हो जाते हैं।

हीये तथा अन्य वैज्ञानिकों ने स्प्रिंग बाक नामक दक्षिण अफ्रीका के किरण तथा अन्य शिकार के जंतुओं के संबंध में ऐसी घटना का उल्लेख किया था। बहुसंख्यक जंतु भारी पंक्तियां बना कर लगातार कई दिनों तक पश्चिम दिशा में चलते रहते हैं। मार्ग में ही अनगिनत मर जाते हैं, किंतु अंत में शेष जंतु समुद्र तट तक पहुंच जाते हैं। वहां जाकर वे भी मृत हो जाते हैं। ऐसे प्रत्येक महाअभियान से पुनः लौटना नहीं होता। यह भी एक विलक्षण घटना है जो दस वर्षों से लेकर बीस वर्षों तक की अवधि के पश्चात् पुनः घटित होती है।

11

हम और आकाश में हमारे पड़ोसी*

डा. सम्पूर्णानन्द

ऐसा प्रतीत होता है कि ज्योतिष के क्षेत्र में प्रवेश करते ही साधारण शब्दों का मस्तिष्क फिर जाता है। ऐसे नए-नए और लंबे-चौड़े अर्थ जोड़ लेते हैं कि बेचारे असली अर्थ मुंह देखते ही रह जाते हैं। इस निबंध के शीर्षक के 'हम' शब्द को ही लीजिए। माना कि 'हम' बहुवचन है, एक व्यक्ति के लिए नहीं आ सकता, परंतु अनेकता की भी कोई सीमा होती है। यहां तो यह शब्द 10-20 व्यक्तियों या दो-चार राष्ट्रों को नहीं, प्रत्युत सारी पृथ्वी को अपने भीतर समेट बैठा है। फिर पड़ोसी की शान तो और भी निराली है। इस समय मेरे सामने कोई कोश तो है नहीं, परंतु बोल-चाल में हम इसका जिस प्रकार व्यवहार करते हैं उसको सभी जानते हैं। यदि दो व्यक्ति एक दूसरे से इतने दूर रहते हैं कि इच्छा करने पर भी दस-पांच मिनट में एक-दूसरे के पास न पहुंच सके तो उनको पड़ोसी कहना कठिन प्रतीत होता है। पड़ोसी राष्ट्र या देश तो एक-दूसरे से बिल्कुल ही जुड़े होते हैं। यदि इस मूल अर्थ के साथ ही चिपका जाय तो हमारा अर्थात् पृथ्वी का कोई पड़ोसी रहा ही नहीं। अतः भाषा के साथ अन्याय करने का अपराध अपने ऊपर ओढ़ते हुए ऐसा कहना पड़ता है कि आकाश में जितने पिंड हमसे बहुत दूर नहीं हैं वे सब हमारे पड़ोसी हैं। यह तो व्याख्या का पहिला कदम है। कुछ और आगे चलकर 'हम' शब्द का और विस्तार हो जाता है और उसका व्यवहार सारे सौर परिवार के लिए सूर्य और उसके साथ बंधे हुए सभी ग्रहों-उपग्रहों के लिए करना होगा यह स्पष्ट ही है कि पड़ोसी शब्द का अर्थ भी हमें वैसे ही विस्तार से करना होगा। कुछ दूर के बाद तो उससे भी काम नहीं चलेगा और 'हम' शब्द के उदर में समूची आकाश गंगा चली जाएंगी। तब देखिए कि हमको

* त्रिपथगा, अक्टूबर 1955

पड़ोसियों की खोज में कहां जाना पड़ता है।

पहले अर्थ को ही, जो सबसे संकुचित है, लीजिए। हमारा सबसे निकट पड़ोसी चंद्रमा है। वह हमसे ढाई लाख मील दूर है। उसके बाद एक ओर शुक्र और दूसरी ओर मंगल है। शुक्र, 2,56,67,000 मील दूर और मंगल 4,88,33,000 मील दूर है। हमारे इस ग्रह-परिवार के स्वामी सूर्य की दूरी 9,29,07,000 मील है। पृथ्वी का व्यास 8,000 मील है। इसलिए पृथ्वी पर की कोई वस्तु किसी भी दूसरी वस्तु से 8,000 मील से अधिक दूर नहीं हो सकती। इसकी अपेक्षा चंद्रमा और दूसरे ग्रहों तथा सूर्य की दूरी बहुत प्रतीत होती है। परंतु ज्योतिष में तो यह दूरी खिलवाड़ समझी जाती है। ज्योतिषी को ऐसी लंबी दूरियां नापनी पड़ती हैं कि मीलों और कोसों से उसका काम नहीं चलता। उसके मापदण्ड को ज्योतिर्वर्ष कहते हैं। एक साल में प्रकाश जितनी दूर चलता है उसको ज्योतिर्वर्ष कहते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रकाश की गति एक सेकेण्ड में 1,86,000 मील है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक ज्योतिर्वर्ष 58,65,69,60,00,000 मील के बराबर होता है। अभी घबराइए नहीं। ज्योतिषी ऐसे पिंडों को जानता है, जिनकी दूरी हजारों ज्योतिर्वर्ष से भी अधिक है। जिन लोगों को अंकगणित का शौक हो वह मीलों में इसका अर्थ लगा सकते हैं। यह तो हमारे पड़ोसियों की दूरी हुई।

पृथ्वी पर पड़ोसियों का एक दूसरे के प्रति किसी न किसी प्रकार का भाव होता है, चाहे वह भाव राग का हो या द्वेष का। क्षेम-कुशल पूछने के लिए न सही, गाली देने के लिए या कम से कम घूर लेने के लिए, एक-दूसरे के सामने मिनट दो मिनट रुक जाते हैं। यहां आकाश में कोई एक क्षण के लिए रुकता नहीं, सब चलते रहते हैं। और कोई हमारा पड़ोसी हो या न हो, पर चंद्रमा को तो इस कोटि में रखना ही होगा। वह हमको छोड़कर जा नहीं सकता, किसी न किसी प्रकार हमारे साथ बंधा हुआ है। परंतु एक क्षण के लिए भी हमारे सामने रुकता नहीं और न हम चंद्रमा के लिए रुकते हैं। और फिर किसी की चाल सीधी-साधी नहीं। हमारे पड़ोसी चंद्रमा को लीजिए। जिस प्रकार कोई लट्टू अपनी धुरी पर घूमता है उसी प्रकार चंद्रमा अपनी धुरी पर घूमता है। धुरी पर घूमता जाता है और इसके साथ ही पृथ्वी की परिक्रमा भी करता जाता है। इस परिक्रमा में उसको लगभग सवा सत्ताइस दिन लगते हैं, परंतु पृथ्वी स्वयं चौबीस घंटे में अपनी धुरी पर घूमती है और एक वर्ष में सूर्य की परिक्रमा करती है। इसी प्रकार चंद्रमा अपनी धुरी पर घुमता है, पृथ्वी की परिक्रमा करता है और पृथ्वी के साथ-साथ सूर्य की परिक्रमा करता है। परंतु सूर्य भी स्थिर नहीं है। वह अपनी धुरी पर

25 दिनों में घूमता है और साथ ही आकाश में कई सौ मील प्रति सेकेन्ड की गति से बढ़ा चला जा रहा है। वह किसी बिंदु की परिक्रमा कर रहा है या यों ही सीधा चला जा रहा है, यह भी ठीक-ठीक कहना कठिन है। परंतु यह तो निश्चय ही है कि उसके साथ पृथ्वी आदि सब ग्रह चले जा रहे है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि चंद्रमा अपनी धुरी पर घूम रहा है, पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा है, पृथ्वी के साथ सूर्य की परिक्रमा कर रहा है और सूर्य के साथ बंधा हुआ न जाने कहां जा रहा है। किसी क्षण विशेष में चंद्रमा की जो गति है उसका वर्णन करना या चित्र खींचना कितना कठिन है, इस बात का अंदाजा इस कथन से कुछ हो सकता है। पृथ्वी पर रहने वाले कभी-कभी तो चलते है और कभी अपनी समझ में निश्चल हो जाते हैं, परंतु जिस समय वह अपने को निश्चल समझते है उस समय भी वह पृथ्वी की धुरी पर घूम रहे हैं, सूर्य की परिक्रमा कर रहे हैं और सूर्य के साथ किसी अनिर्दिष्ट स्थान की ओर चले जा रहे हैं।

जिन पड़ोसियों का व्यवहार इतना विलक्षण हो, उनका परिचय हमको कैसे मिलता है? यह तो स्पष्ट ही है कि हम उनको छू नहीं सकते, परंतु शास्त्रों में स्पर्श का अर्थ केवल छूना नहीं होता। स्पर्श के अंतर्गत वह सब प्रभाव भी आते हैं जो ताप, विद्युत् और चुंबक शक्ति से उत्पन्न होते हैं और ऐसे कई स्पर्श हमको अपने पड़ोसियों से प्राप्त होते हैं। सूर्य की उष्णता का तो हमको प्रत्यक्ष अनुभव है। चंद्रमा को हम अपेक्षा की दृष्टि से शीतल कहते हैं। बारीक यन्त्रों के द्वारा सूर्य आदि से आने वाले दूसरे स्पर्शों का भी ज्ञान होता है। आकाश में चलने वाले पिंडों के बीच शून्य है, अर्थात् किसी प्रकार की हवा नहीं है। इसलिए एक से दूसरे तक किसी प्रकार का स्वन, किसी प्रकार की आवाज, नहीं जा सकती। परंतु प्रकाश आता है। प्रकाश के द्वारा विज्ञान बहुत-सी बातों की जानकारी प्राप्त करता है। इनमें से कुछ बातें तो इतनी रोचक है कि उनका थोड़ा सा चर्चा करना नितांत आवश्यक है। हम आज इतना ही नहीं जानते कि सूर्य चमकता हुआ गोला-सा पिंड है, वरन् यह तो जानते हैं कि सूर्य में कौन-कौन से पदार्थ हैं। सूर्य का प्रकाश हमको यह भी बतलाता है कि वहां हाइड्रोजन, हीलियम, कारबन, लोहा, पारा आदि बहुत से वह तत्व विद्यमान हैं जो हमारी पृथ्वी पर भी मिलते हैं। और इसी प्रकार का ज्ञान हमको सूर्य से भी अधिक दूर पड़ोसियों की बाबत प्राप्त है। सूर्य पर कितनी गर्मी है, इसका भी हमको ज्ञान है। कई दूसरे तारों पर कितनी गर्मी है, इसको भी हम जानते हैं। इनमें से कइयों को तो यहीं से बैठे-बैठे हमने तौल भी लिया है। प्रकाश की सहायता से यह काम कैसे होता

है, इसका थोड़ा सा दिग्दर्शन कराना आवश्यक प्रतीत होता है।

यदि किसी कोठरी को चारों ओर से इस प्रकार बंद कर दिया जाए कि एक छेद से सूर्य का प्रकाश आकर सामने दीवार पर पड़े—इतना ध्यान रहे कि दीवार साफ होनी चाहिए—तो दीवार पर भी सफेद रोशनी पड़ेगी। अब यदि रोशनी के मार्ग में शीशे का एक मोटा तिकोना टुकड़ा रख दिया जाय तो श्वेत प्रकाश के स्थान पर दीवार पर कई रंग दिखाई पड़ेंगे। रंगों के समुच्चय को रश्मि-पट्टिका (Spectrum) कहते हैं। यों तो रंग बहुत से होंगे, परंतु उनमें सात मुख्य माने जाते हैं। लाल, नारंगी, पीला हरा, आसमानी, नीला और बैंगनी। यह रंग-पट्टिका में इसी क्रम से देख पड़ते हैं। संलग्न फलक में पहला चित्र इस प्रकार की रश्मि-पट्टिका का है। यों तो सात रंगों का नाम लेते हैं, परंतु मूल रंग चार ही हैं—लाल, पीला, हरा और आसमानी। शेष रंग इनके मिश्रण से बने हैं। प्रकाश के अंशों को इस प्रकार अलग-अलग करने को रश्मि-विश्लेषण कहते हैं।

सूर्य या अन्य ऐसा पिंड, जिसका प्रकाश श्वेत हो, उससे कई प्रकार की किरण एक साथ चलती हैं। इन सबका वेग एक ही होता है, यानी 1,86,000 मील प्रति सेकेंड, जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। जिनको हम किरण कहते हैं, वह वस्तुतः लहरियां है, जिनकी आकृति इस प्रकार की है—
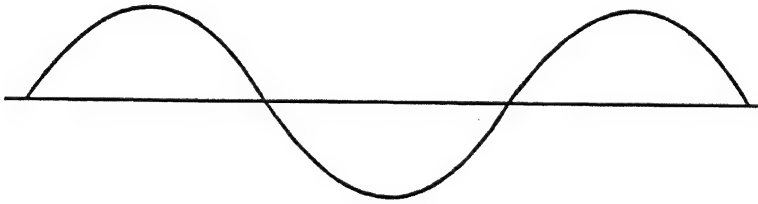
एक ऊंचाई से दूसरी ऊंचाई या एक नीचाई से दूसरी नीचाई की दूरी में ही इन, लहरियों की विशेषता है। किसी में यह दूरियां बहुत लंबी होती हैं और किसी में कम। लाल रंग की लहरियां सबसे लंबी होती हैं और लाल से बैंगनी की ओर बढ़ते ही लंबाई कम होती जाती है, लहरियां छोटी होती जाती हैं। जब यह लहरियां हमारी आंखों तक एक साथ पहुंचती है तो चक्षुरिन्द्रिय पर जो प्रभाव पड़ता है उसको हम श्वेत प्रकाश कहते हैं। रंग किसी लहरी में नहीं होता। जब लहरी का आघात-चक्षुरिन्द्रिय पर पहुंचता है तो हमको उस लहरी की लंबाई के अनुसार किसी रंग विशेष का अनुभव होता है। अस्तु, यहां तो एक सुंदर दृश्य देखने

मात्र की बात हुई। परंतु बात यहीं समाप्त नहीं होती। रश्मि-पट्टिका से हमको बहुत सी बातें ज्ञात होती है।

पट्टिका के अध्ययन करने के लिए एक यंत्र विशेष होता है, जिसको स्पेक्ट्रोमीटर कहते है। उसके द्वारा जब ध्यान से देखा जाता है तो रंग के बीच-बीच में काली रेखाएं दिखाई पड़ती हैं। जिस व्यक्ति ने उनका सबसे पहले अध्ययन किया था उसके नाम पर उनको फ्रौन हूफर (Fraun Hofer) की रेखाएं कहते हैं। फलक के दूसरे चित्र में इस प्रकार की पट्टिका दिखाई हुई है। सहूलियत के लिए इसमें बहुत थोड़ी सी रेखाएं दी गई है। वस्तुतः रेखाओं की संख्या बहुत बड़ी है, कहीं रेखाएं पास-पास हैं और कहीं एक दूसरे में दूर। बहुत परिश्रम करके रेखाएं गिनी गयी हैं और उनकी दूरी भी नापी गई है। कोई रेखा मोटी होती है और कोई पतली। इनकी आपेक्षिक मोटाई की भी गणना की गई है। बहुत दिनों तक इन रेखाओं का रहस्य समझ में नहीं आता था, परंतु अब यह भेद खुल गया है। लोहा, तांबा, कैलसियम, कार्बन, हाइड्रोजन आदि सौ के लगभग जितने भी तत्व हैं इनमें से कुछ तो स्वतः गैस के रूप में मिलते हैं, शेष कुछ गर्म होने पर गैस बन जाते हैं। मान लिया जाए कि लोहा गैस में परिणत कर दिया गया। अब यदि श्वेत प्रकाश उसके पीछे रखा जाय तो प्रकाश की रश्मियों को हमारी आंख तक पहुंचने के लिए उस गैस में से होकर आना पड़ेगा। ऐसी दशा में एक विचित्र चीज दिखाई पड़ेगी। फलक में पहले चित्र में श्वेत प्रकाश की जो रश्मि-पट्टिका दिखाई गई है उनमें किसी विशेष स्थान पर एक काली रेखा आ जाएगी। इसी प्रकार श्वेत प्रकाश के सामने हाइड्रोजन आदि दूसरे तत्वों के रखने से भी पट्टिका में स्थान-स्थान पर कालो रेखाएं पड़ती जाएंगे। एक और बात। मान लीजिए कि कहीं जलती गैस के रूप में लोहा है और उसके तथा हमारी आंखों के बीच में यदि जलते लोहे की यंत्र ला जाए तो भी पट्टिका में काली रेखा देख पड़ जाएगी और यही बाद दूसरे तत्वों के लिए भी होगी। इस प्रकार काली रेखा यह बतलाती है कि प्रकाश जहां से चला था वहां अमुक तत्व गैस के रूप में था। अब फलक की तरफ आइए। उसमें द्वितीय चित्र के पीछे उदाहरण के लिए दो-तीन तत्वों की रश्मि-पट्टिकाएं दी हुई हैं। उदाहरण के लिए, इसमें नीचे की पट्टिका पारे की है। उनकी काली धाराओं के स्थान को देखिए, और ठीक ऊपर की सूर्य-पट्टिका से मिलाइए। रेखा के नीचे रेखा यथास्थान मिल जाएगी। इस प्रकार वर्षो के बारीक अध्ययन का परिणाम यह हुआ है कि हम जानते हैं कि सूर्य में कौन से पदार्थ गैस के रूप में विद्यमान हैं और यही उपाय

और दूसरे पिंडों के लिए भी किया जाता है। शर्त इतनी ही है कि इतना प्रकाश तो आना ही चाहिए कि हमारे यंत्र पर उसका प्रभाव पड़ सके। इस एक यंत्र की बदौलत हमको अपने उन पड़ोसियों के संबंध में बहुत सी जानकारी हो गई जिनके पास तक जाना हमारे लिए असंभव है।

दूरबीक्षण (दूरबीन) के नाम से सभी लोग परिचित हैं। कुछ लोगों ने उससे काम भी लिया होगा। तारों के स्वरूप का तो उससे विशेष पता नहीं चलता, क्योंकि जहां दूरियां सैकड़ों हजारों और लाखों ज्योर्तिवर्ष में नापी जाती हैं वहां तारे दूरबीक्षण में भी अपने चेहरे नहीं दिखलाते, प्रकाश-बिंदु ही बने रहते हैं। हां, यह बात अवश्य होती है कि हमारे बहुत से पड़ोसी जो दूरी के कारण या संकोच के कारण छिपे से रहते हैं उनका साक्षात् हो जाता है। साधारणतः आंखों से आकाश में लगभग तीन हजार तारे दिखलाई पड़ते हैं। अच्छे दूरबीन से यह संख्या कई लाख तक पहुंचती है। तारे ही नहीं, और भी चीजें है जो हमारी आंखों से ओझल रहती हैं, उनका चर्चा आगे करेंगे।

तारों के चेहरे तो नहीं देख पड़ते, परंतु हमारे परिवार में जो ग्रह हैं उनमें से कई के चेहरे काफी साफ देख पड़ते हैं। चंद्रमा तो अब इतना साफ देखा जा सकता है कि उस पर की 200 गज़ ऊंची कोई वस्तु छिपी नहीं रह सकती। बुध और शुक्र सूर्य के इतने निकट हैं कि उन पर आंखें नहीं ठहरतीं। इसलिए उनके संबंध में अभी हमारी जानकारी कम है। परंतु मंगल, गुरु और शनि का तो बहुत अच्छा अध्ययन हुआ है। शनि के वलयों का दर्शन दूरबीक्षण द्वारा ही हुआ है। किस ग्रह पर जल है, कहां बर्फ है, कहां वायुमंडल में कौन सी गैस है, इन सब बातों को हम यहीं से बैठे-बैठे जानते हैं। हमारे पड़ोसी भले ही क्षण भर भी हमारे पास ठहरना पसंद न करें, परंतु हमने उनका काफी अध्ययन कर लिया है और करते जा रहे हैं।

हमने सूर्य से आनेवाली प्रकाश-रश्मियों का चर्चा किया। परंतु सूर्य से केवल प्रकाश ही नहीं आता, अनंत रश्मियां आती हैं। उनमें से कुछ का ग्रहण हमारी चक्षुरिंद्रिय करती है। वह प्रकाश-रश्मियां हैं। बहुत ही ऐसी लहरियां हैं जिनको ग्रहण करने के लिए हमारे पास कोई इंद्रिय नहीं है। हमको उनके अस्तित्व का पता भी नहीं है। लाल रंग देने वाली लहरियों से हमको गर्मी का अनुभव होता है। उनसे भी लंबी लहरियां वह हैं जिनका उपयोग रेडियो में होता है। कितनी प्रकार की लंबी लहरियां हैं और वह सब कहाँ है, हम नहीं मानते। इसी तरह प्रकाश-लहरियों से भी छोटी बहुत तो ऐसी लहरियां हैं जिनके अस्तित्व का पता

हमको उनकी रासायनिक क्रिया के द्वारा मिलता है। उन्हीं में से कुछ का उपयोग फोटो लेने में किया जा सकता है। वह रश्मि प्लेट पर जिस पदार्थ का लेप कराया जाता है उसमें रासायनिक परिवर्तन करती हैं। उनसे भी छोटी बहुत-सी ऐसी लहरियां हैं जो शरीर के लिए घातक हो सकती हैं। यदि उनका शरीर से प्रत्यक्ष स्पर्श हो जाए तो भयानक घाव हो जाएंगे और प्राण भी जाएंगे। परंतु प्रकृति ने कुछ ऐसा प्रबंध किया है कि हम उनमें से बहुतों से बच जाते हैं। हमारे वायुमंडल में लगभग पचास मील के ऊपर ओज़ोन (Ozone) गैस है। यह छत्री की तरह से पृथ्वी की चारों ओर से घेरे हुए हैं। सूर्य से आयी हुई बहुत सी घातक लहरियां इसके भीतर घुस नहीं सकतीं, उसी पार रुक जाती हैं। सूर्य ही नहीं, ऐसा पता लगता है कि इस बह्मांड में चारों ओर से बहुत सी लहरियां हमारी ओर आती हैं। यों तो वह चारों ओर फैलती होंगी, परंतु हमको तो उनका पता तभी चलता है जब कि उनका आक्रमण पृथ्वी पर होता है। यह कहां से आ रही हैं, ठीक नहीं कहा जा सकता। परंतु उनमें से अधिकांश तो घातक हैं। यह तो हमारे ओज़ोन की कृपा है कि हम उनसे बचे हुए हैं। उनमें से बहुत थोड़ी ऐसी हैं जो ओज़ोन की छत्री को पार करके नीचे के वायुमंडल तक पहुंच पाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे बहुत से पड़ोसियों ने हमारे प्राण लेने का ही बीड़ा उठा लिया है, परंतु धरती माता ने ऐसा कवच पहन रखा है कि उसका भेदन करना कठिन है। प्रसंगवश धरती की एक और कृपा का चर्चा करना भी आवश्यक है।

हमारे कुछ पड़ोसी तो हमारी ओर घातक किरणें फेंक कर संतोष करते हैं, परंतु ऐसों को भी कमी नहीं है जो हमारे ऊपर सशरीर आक्रमण करते हैं। हमारे चारों ओर लाखों छोटे-बड़े पिंड बिखरे पड़े हैं—तौल में एक तोला व दो तोला से लेकर, सौ दो सौ मन तक के। इन मित्रों को उल्का कहते हैं। जहां पृथ्वी इनके पास से निकली कि वह अपने को रोक नहीं पाते। सीधे उसके ऊपर टूट पड़ते हैं। यदि पृथ्वीतल तक पहुंच जाएं तो एक भी प्राणी जीता न बचे। परंतु उनमें से अधिकांश हमारे वायुमंडल में आते ही शहीद हो जाते हैं। हवा की रगड़ से जल उठते हैं और पृथ्वी तक उनकी राख ही पहुंच पाती है। साल में इस प्रकार के लाखों पिण्डों से हम टकराते हैं और वैज्ञानिकों का अनुमान है कि हजारों मन राख धीरे-धीरे पृथ्वी पर गिरती है। कुछ ही उल्काओं का आकार इतना बड़ा होता है कि जलते-जलते पृथ्वीतल तक पहुंच जाएं। उनमें कुछ तो ऊपर रह जाते हैं, और कुछ भारीपन के कारण दूर भीतर धंस जाते हैं। इनमें लोहा, कारबन और कुछ अन्य तत्वों के टुकड़े मिलते हैं। इस प्रकार यह गरीब

अपने प्राण देकर भी हमको हमारे पड़ोस का परिचय करा जाते हैं। अस्तु, इन रश्मियों से इतना तो पता चलता ही है कि विश्व में सर्वत्र वह शक्तियां काम कर रही है, जिनके प्रभाव से सूर्य से भांति-भांति की धातक रश्मियां निष्कासित होती हैं।

वैज्ञानिक प्रयोग के द्वारा हम यह जानते हैं कि कौन से तत्व कितने तापमान पर गैस के रूप में होते हैं। इस प्रकार जब हमको रश्मि-विश्लेषण के द्वारा सूर्य या किसी अन्य पिंड में किसी तत्व के गैस रूप में होने का पुष्ट प्रमाण मिलता है तो हम उस पिंड के तापमान का अनुमान कर सकते हैं।

पृथ्वी के वय का हिसाब तो भूगर्भ-शास्त्रियों ने लगाया है। उनका विश्वास है कि उसको बने 6 से 10 अरब वर्ष हुए। सूर्य तथा अन्य तारों तक भूगर्भ-शास्त्रियों की प्रत्यक्ष पहुंच ही नहीं हैं। परंतु ऐसे उपाय हैं जिनसे हम उनकी उम्र आंक सकते है। इसकी युक्ति समझने के पहले परमाणु के स्वरूप को थोड़ा समझ लेना चाहिए। पृथ्वी पर बहुत से ऐसे पदार्थ हैं जिनसे रसायन-क्रिया के द्वारा एक से अधिक प्रकार के पदार्थ निकलते हैं। हमारे चिर-परिचित जल से हाइड्रोजन और ऑक्सीजन नाम की दो गैसें निकलती हैं, अर्थात् हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के निकलने से जल बनता है। ऐसे मिले हुए पदार्थ को मिश्रित द्रव्य कहते हैं, परंतु कुछ ऐसे भी पदार्थ है कि जिनसे किसी भी रासायनिक क्रिया से कोई दूसरा पदार्थ नहीं निकलता। हाइड्रोजन ने हाइड्रोजन ही, ऑक्सीजन से ऑक्सीजन ही, लोहे, तांबे या पारे से लौहा, तांबा या पारा ही मिलेगा। ऐसे द्रव्य को तत्व कहते हैं। तत्व के सबसे छोटे टुकड़े को परमाणु कहते हैं। रसायन-शास्त्र की दृष्टि से तो परमाणु इकाई है, परंतु विद्युत्-शास्त्र उनका भी विश्लेषण करता है। प्रत्येक परमाणु के बीच में एक केंद्र होता है और उस केंद्र के चारों ओर एक या अधिक कण घूमते रहते हैं। केंद्र में धन विद्युत् और परिधि वाले कणों में ऋण विद्युत् होता है। सबसे हलका और सीधा परमाणु हाइड्रोजन है। इसमें एक कण केंद्र में और एक परिधि पर होता है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि केंद्र का कण बहुत भारी और परिधि का कण-समुदाय बहुत हलका होता है। अस्तु, हाइड्रोजन के अतिरिक्त जो दूसरे तत्व हैं उनके परमाणुओं में परिधि के कणों की संख्या अधिक होती है। यहां तक कि यूरेनियम के परमाणु में परिधि पर 237 कण होते हैं। परिधि के कणों की संख्या जितनी अधिक होती है उतना ही वह तत्त्व अस्थिर होता है। इसका तात्पर्य यह है कि कभी-कभी परिधि पर के कुछ ऋण-विद्युतयुक्त कण परमाणु को छोड़कर भाग जाते हैं। ऐसा होने पर भी परमाणु का रासायनिक

रूप ज्यों का त्यों रहता है। परंतु कभी-कभी विशेष अवस्थाओं में परमाणु का केंद्र ही भग्न हो जाता है। उसमें से कुछ कण टूट कर अलग हो जाते है; उस दशा में परमाणु का अस्तित्व ही बदल जाता है, वह किसी अन्य तत्त्व का परमाणु बन जाता है। यूरेनियम से सीसा नाम का धातु बन जाता है। यह परिवर्तन एक दिन में नहीं होता। लाखों वर्ष लगते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि यदि किसी स्थान पर यूरेनियम के बहुत से परमाणु हों तो उनमें से कौन-सा परमाणु इस प्रकार टूटेगा। परंतु यह निश्चित है कि जितना भी यूरेनियम हो उसका 1/637 भाग 1 करोड़ वर्षों में सीसे में बदल जाएगा यह बात एक उदाहरण से समझ में आ सकती है। किसी नगर विशेष में किस व्यक्ति की मृत्यु होगी, यह नहीं बतलाया जा सकता। परंतु स्वास्थ्य विभाग के विशेषज्ञ यह जानते हैं कि नगर के प्रति एक हजार व्यक्तियों में कितने व्यक्तियों की साल भर में मृत्यु होगी। यह आंकड़े वर्षों की परीक्षा के बाद ठीक पाए जाते हैं। अब यदि किसी स्थान पर यूरेनियम और सीसा दोनों साथ-साथ पाए जाएं तो दोनों की मात्रा देख कर यह हिसाब लगाया जा सकता है कि कितने दिनों से यूरेनियम बदलते-बदलते इस सीसे के रूप में परिणत हुआ है। पृथ्वी में जहां सूरेनियम की खानें हैं वहां इसके साथ ही सर्वत्र सीसा मिलता है। इस प्रकार पृथ्वी के वय का भी हिसाब लगाया जा सकता है और सूर्य आदि पिंडों की रश्मियों के विश्लेषण करने से उनमें यूरेनियम को देख कर इस बात की भी गणना की जा सकती है कि कब से उनके यूरेनियम टूट कर अपने को सीसे में बदलते रहे हैं। उनकी उम्र कम से कम इतने वर्षों की तो होगी ही। और भी युक्तियां है और सभी से प्रायः एक-सा वय निकलता है। और भी कई तत्व है। इन भारी तत्वों में जो टूटने की प्रवृत्ति है उसका उपयोग परमाणु बम में किया जा सकता है। जो बात प्रकृति में लाखों वषों में होती है उसकी मनुष्य कुछ क्षणों में करने का प्रयत्न करता है। यूरेनियम के परमाणु पर इस प्रकार के आघात पहुंचाए जाते हैं कि यह टूट जाए। जब कोई परमाणु इस प्रकार टूटता है, चाहे यह टूटना प्राकृतिक हो, चाहे मनुष्य के किसी क्रिया के द्वारा हो, तो जो शक्ति उसको स्थिर बनाए रखती है अर्थात् उसके केंद्र और परिधि के कणों को एक दूसरे से बांध कर रखती है उसका कुछ अंश बाहर निकलता है। वही शक्ति परमाणु बम को विस्फोटक बनाती है। सूर्य आदि पिंडों में इतना प्रचंड तापमान है कि वहां यूरेनियम और रेडियम जैसे तत्वों के परमाणु बराबर टूटते रहते हैं और हलके तत्वों की सृष्टि के साथ-साथ विस्फोटक शक्ति निरंतर निकलती रहती है।

एक और युक्ति से भी हमको अपने पड़ोसियों का कुछ पता लगता है। जो पिंड बहुत छोटे हैं या बहुत दूर होने के कारण इतने धुंधले हैं कि दूरबीक्षण यंत्र से भी उनको नहीं देखा जा सकता वह कैमरा पर अपनी फोटो छोड़ जाते हैं। कैमरा और स्पेक्ट्रोमीटर को मिलाने से उनकी रश्मियों का कुछ विश्लेषण भी किया जा सकता है।

यह तो खेद की बात अवश्य है कि हमारे पड़ोसी हमारे साथ यथोचित सहयोग नहीं करते, परंतु उनकी सहायता से वंचित होते हुए भी मनुष्य ने ऐसे उपाय निकाले हैं जिनके द्वारा उनके संबंध में बहुत कुछ जानकारी हो गई है। सच तो यह है कि हम इन दूरस्थ पड़ोसियों के संबंध में जितने दृढ़ निश्चय के साथ बहुत सी बातें बलता सकते हैं उतने पक्के विश्वास के साथ यह नहीं कह सकते कि सौ दो सौ मील नीचे खोदने पर हमारी पृथ्वी के गर्भ में क्या मिलेगा।

जीवनी

12

पेट्रोल महाराज*

नन्दलाल जैन

तुम लोगों ने मेरे नामरूप और गुणों के विषय में पर्याप्त उत्सुकता प्रकट की है : तुम्हारी यह जिज्ञासावृति तुम्हारे ज्ञान के अभिवर्धन का मूल है। तुम्हारी उत्सुक और जिज्ञासु वृत्ति से मैं बहुत ही प्रसन्न हूं और यही कारण है कि मैं आज अपना मूक रूप प्रच्छन्न कर तुम्हारे सामने अपनी आत्म कहानी सुनाने जा रहा हूं।

संसार में बहुत से परिवर्तन परिस्थितिवश होते हैं। मैं भी देख रहा हूं कि वर्तमान प्रजातंत्रीय युग में नेताओं और वक्ताओं की ही बोलती है। जिसके पास वाणी है : जो अपने भावों को, अपनी बात को जितनी ही अच्छी भाषा में दूसरों के समक्ष प्रस्तुत कर सकता है, वहीं प्रसिद्ध यश और लाभ लूटता है : उसकी महत्ता और उपयोगिता बढ़ती है। तुम लोग कहोगे कि यह बात केवल सजीव जगत् में ही है, पर ऐसा कहना इसलिए माना है कि तुम अभी मूकों की भाषा ही नहीं जानते, उसे समझ कैसे सकते हो? तुमने देखा होगा कि बहुत से मनुष्य विभिन्न पशु-पक्षियों की बोलियों का अनुकरण करते हैं और उन्हें समझने का अभ्यास भी करते हैं। जैन धर्म में भगवान् की वाणी सभी प्राणियों के लिए मुखरित होती है : उनकी वाणी मानव भाषा-नहीं—प्राणिमात्र की भाषा में प्रकट होती है। उसे दिव्य ध्वनि कहते हैं—उसका आशय गणधर लोक विभिन्न प्रकार के प्राणियों को उनकी भाषों में समझाया गया है। इसी प्रकार हम निर्जीवों की भी वाणी होती है, भाषाओं होती है और उसे गणधर मानव ही समझ पाते हैं। वर्तमान में दुनियां के प्रगति का साज श्रृंगार इन्हीं मानवों की कृपा पर निर्भर है। यदि ये मानव हमें समझना बंद कर दें और हमारी बात आप से न कहें, तो मैं यह दावे के साथ कह सकता हूं कि आप लोगों ने अबतक जितनी प्रगति की है वह

* विज्ञान, नवंबर 1955

स्तब्ध हो जावेगीं और आप एक नए अंधकार युग में अपने को पावेंगे।

हमने अपनी वाणी के प्रसार के लिए इच्छा, मनन और प्रयोगशील वैज्ञानिक मानव पाया है। हम उसी से बोलते हैं, उसी के साथ अठखेलियां करते हैं और उसे ही अपनी महत्ता और उपयोगिता का मान कराते हैं वही हमारा माध्यम है तो हमें आपकी सेवा के लिए उपयोगी बताकर हमारा आकर्षण और महत्त्व बढ़ाता है। वही सब देशों में सब लोगों के लिए हमारी बात कहता है : हमारी सेवाओं से मानव को लाभान्वित होने के लिए प्रेरित करता है।

परंतु मैं आज अपने गणधर के बावजूद भी तुम लोगों के बीच में बोल रहा हूं। क्योंकि मैं जानता हूं कि बालक ईश्वर के प्रतिरूप हैं। वह ईश्वर जिसने सब को बनाया है, जिसने सबकी वाणी दी है और जिसने सबके समझने की शक्ति दी है। वह सबकी वाणी बोल सकता और समझ सकता है। तुम उसी के प्रियतम रूप हो, क्या तुम मेरी वाणी, मेरी भाषा नहीं समझ सकोगे?"

तुम तो जानते हो कि यदि संसार में यातायात हमारा हो जाए, तो मानव की प्रगति रुक जावेगी और वह पुनः उसी अंधकार युग में अपने को देखेगा, जिसमें से अपने मस्तिष्क की सहायता, अन्वेषणप्रियता और परिश्रम से अब तक इस स्थिति पर पहुंच सका है। एक समय था जब मनुष्य केवल पैदल चलकर ही काम चला लेता था। पर चलने के लिए शरीर में बल चाहिए। कहीं भूखा आदमी लंबी दौड़ चल सकेगा? पैदल यातायात की प्रक्रिया मनुष्य की आदिम स्थिति रही है, जब वह समूहों में रहता था और जंगलों में अपने खाद्य खोजा करता था। धीरे-धीरे अग्नि, कृषि और उपकरणों के विकास के साथ मानव में सामाजिकता का प्रादुर्भाव हुआ; और अब दूर देश व स्थानों की दौड़ लगानी पड़ती थी; तब अपनी सीमित शक्ति का उसे भान हुआ और उसने अपने निकटवर्ती पशुओं की सहायता से यातायात प्रारंभ किया। पशु मनुष्य से अधिक शक्तिशाली था। यद्यपि ऊंट सरीखे कुछ अच्छे पशु भी थे लेकिन उनकी रफ्तार इतनी कम थी कि मनुष्य उससे संतुष्ट न हो सका। धीरे-धीरे बैलगाड़ियों का अभ्युदय हुआ। घोड़ा गाड़ी, बैलगाड़ी आदि उसके अन्य रूप विकसित हुए पर हमसे यातायात के साधनों में विशेष प्रगति इसलिए नहीं हो सकी कि इन सब साधनों की गति बहुत ही सीमित रही है। मानव मस्तिष्क में इस सीमा से फिर बिलोड़न हुआ, और औद्योगिक क्रांति के युग का आरंभ हुआ, जिसमें यंत्रों का आविष्कार हुआ पहियेदार गाड़ियों की शुरुआत हुई और फिर साइकिल, मोटर, रेल वायुयान और जेटों का प्रादुर्भाव और विकास क्रमशः होता जा रहा है। साइकिल और बैलगाड़ियों

में मनुष्य या पशु अपनी असली शक्ति के उपयोग करता रहा, जो बहुत ही सीमित था। अतः मानव को शक्ति के अन्य स्रोत खोजने के लिए विवश होना पड़ा। जब मनुष्य को अपने चारों ओर किसी भी प्रकार की शक्ति के स्रोत का पता न चला, तो उसने प्रकृति माता की शरण ली और भूगर्भ में गया, वहां मानव ने देशा कि कोयला जलने पर निकली हुई गर्मी से पानी उबलने लगता है। यदि इस उबाल को नियंत्रित किया जा सके, तो यंत्रों को चलने में सहायता मिलेगी। बस फिर क्या था? मानव ने कोयले की शक्ति का स्रोत खोज लिया और उससे जल-वाष्प बनाई और रेलगाड़ी चला दी। पर मानव इस शक्ति के स्रोत से संतुष्ट न हुआ, क्योंकि उसे तो आरामदेह यातायात के साधन चाहिए। और कोयले की शक्ति से ऐसे साधनों को चलाने में पर्याप्त पेचीदगी का अनुभव किया जा रहा था। मानव ने सोचा एक बार और क्यों न भूगर्भ में गोता लगाया जावे? उसने जो गोता लगाकर प्रकृति देवी से प्रार्थना की, प्रकृति ने मानव की उत्कट जिज्ञासा और अनुसंधान कर्म की लगन से प्रसन्न होकर अपने बरदान के रूप में मुझे उसकी सहायतार्थ प्रस्तुत कर दिया।

और जब से मैं मानव के हाथ आया हूं, मानव ने यातायात के साधनों की वृद्धिकर अपनी सभ्यता में आश्चर्यजनक प्रगति कर ली है। यही नहीं, उसने मेरे प्राकृतिक रूप को परिष्कृत करने की प्रक्रिया में ऐसे ऐसे नवीन पदार्थ प्राप्त कर लिए हैं, जिनके बिना आज मानव की सभ्यता लंगड़ी हो जावे। अब मैं यातायात के लिए ही केवल शक्ति प्रदान नहीं करता, आपके घरों में प्रकाश दीप जलाता हूं, आपके यंत्रों को सुचारु रीत्या संचालित होते रहने के लिए उनकी तैल-मालिश करता हूं, आपके शरीर पर होने वाले कीटाणुओं के आक्रमण की तीव्रता समाप्त कर आपके स्वास्थ्य और सौंदर्य की शुद्धि करता हूं।

मैं बहुत पुराने समय से मनुष्य के हाथ रहा हूं। बेबीलोन की सभ्यता के आदिम युग में लोग मुझे प्रकाश दीप के लिए ईंधन के रूप में काम में लेते थे। लगभग 2500 वर्ष पूर्व राजा हीरोडोटिस के जमाने में डायोडोडोरस ने सिसिली के झीलों के तट पर मुझे प्राप्त किया था। अरस्तू और प्लाइनी ने अपनी पुस्तकों में मेरा उल्लेख किया है। रूस देश के बाकू तैल क्षेत्र की ज्वालाएं और उनकी पूजा संसार प्रसिद्ध है। बर्मा और चीन निवासी लोग भी मेरे गैस को जलाते रहे हैं। बर्मा में मेरा नाम ही रमून का तेल' है। अमरीका में, कनाडा में और अन्य देशों में लोग मुझे केवल जलाने के लिए काम में लेते रहे हैं।

अपने सीमित ज्ञान, अनुभव तथा आवश्यकताओं के कारण मानव मेरा

उपयोगी रूप उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध तक नहीं जान पाया। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में वैज्ञानिक प्रगति के कारण दृष्टिकोण की विशालता और आवश्यकताओं की पूर्ति में आने वाली बाधाओं का अनुभव हुआ। भूगर्भ से कोयले को सुनियोजित रूप में प्राप्त करने की युक्तियां प्रयोग में लाई गई और सन् 1859 में कर्नल ड्रेक ने मुझे भी भूगर्भ से औद्योगिक मात्रा में प्राप्त करने का सर्वप्रथम प्रयोग सफल किया था। कर्नल ड्रेक के पूर्व जर्मनों ने मुझे शुद्ध करने की विधि भी ज्ञान कर ली थी। इस प्रकार मेरे उत्पादन, शोधन और फिर विविध उपयोजनाओं का प्रारंभ हुआ और इन एक सौ वर्षों में ही मैंने इतने क्षेत्रों में मानव को प्रगति दिलाई है कि मैं नाम भी नहीं गिना सकता हूं।

मेरा जन्म कब हुआ, मैं नहीं जानता। कैसे हुआ, यह भी मैं नहीं बता सकता? परंतु मेरे गणधर बढ़े चतुर हैं और उनकी आंखें तथा मस्तिष्क बहुत सूक्ष्म हैं उन्होंने पृथ्वी और भूगर्भ की परीक्षा की है, उस पर पाए जाने वाले समस्त जीव वनस्पति के भग्नावशेष का सूक्ष्मतम निरीक्षण किया है और तब मुझे बताया कि यह पृथ्वी तो अधिक से अधिक 2-5 अरब वर्ष पुरानी है धीरे-धीरे उस पर वनस्पतियों ने जन्म लिया, जीवधारी आए और आज से लगभग 5 लाख वर्ष पूर्व मानव भी अवतरित हुआ। मानव तो भूतल पर अवतरित हुआ और मैं भी उसके और पूर्व भूगर्भ में। बात यह हुई कि जैसे आजकल बरसात के दिनों में नदियों में भीषण बाढ़ आती है, तो किनारे के पेड़-पौधे, खेती, नगर और पशु बह जाते हैं और धीरे-धीरे पानी की रेत के जमने पर कहीं उसी में रह जाते हैं उसी प्रकार प्राचीन काल में भी होता था : और भी अधिक भीषणता से। पेड़ पौधे और जीव-जंतु इसी प्रकार हर समय पृथ्वी की सतह पर जमते गए और हर वर्ष उनपर मिट्टी की तह जमती गई। वह तह जमती-जमती आज मीलों ऊंची हो गई है। यदि एक भारवाही पशु को आवश्यकता से अधिक बोझ लाद दिया जावे, तो उसकी क्या दुर्गति होगी, यह आप सोच सकते हैं। इसी प्रकार मीलों-लंबी ऊंची मिट्टी की तह का भार पड़ जाने के कारण उन जमे हुए पेड़-पौधों और जंतुओं का भी क्या हाल हुआ होगा? वे बेचारे पिच गए, उनका पानी निकल गया, सूख गए, सूख-सूख कर काले पड़ गए। कहने का अर्थ यह है कि कोयला बन गए। इसी प्रक्रिया में अनंत भार के दाब और तज्जन्य ताप के कारण इनके कुछ भागों ने परस्पर विच्छेदित होकर मेरा रूप धारण कर लिया। पृथ्वी के गर्भ में पर्याप्त मात्रा में धातवीय यौगिक पाए जाते हैं, उन पर भीषण ताप और दाब का प्रभाव पड़ा और उन्होंने भी मेरा रूप धारण कर लिया, दबे हुए जीवधारियों

के शरीर ने भी इसी परिस्थिति में मुझे जन्म दिया। तुम्हें मालूम है कि संसार के सर्वप्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री ऐग्लर, श्री मेंडलीफ और श्री ट्राइब ने अपने निरीक्षणों एवं कुछ प्रयोगों द्वारा मेरे प्रादुर्भाव की यह कहानी अच्छी तरह ज्ञात कराली है। इस प्रकार संचित प्राणि-शरीरों, वनस्पतियों एवं धातवीय यौगिकों ने पृथ्वी माता की गोद में मुझे जन्म दिया है।

यह तो मैं बता ही चुका हूं कि मेरा जन्म इस भूतल पर मानव के प्रादुर्भाव के पहले ही हुआ है, और मैं भूगर्भ में संचित होता रहा हूं, मेरी उपस्थिति का ज्ञान मानव को मेरे जन्म से बहुत बाद में हुआ है।

जनमते समय मेरा रंग-रूप काला, मटमैला, बदबूदार और गाढ़े तेल सरीखा बहने वाला होता है। मैं अकेला नहीं जनमता, मेरे साथ इतने लोग जनमते हैं कि स्वयं मैं भी नहीं जानता कि कितने लोग हैं। वैज्ञानिक लोग कहते हैं कि तीस हजार साथी तक भी साथ जनमते हैं। मानव प्राकृतिक रूप में मेरी सेवाओं से लाभ नहीं ले सकता। क्योंकि तुम्हीं सोचो, बच्चे में कितनी और कैसी अव्यवस्थित शक्ति होती है। मानव ने देखा कि मैं भूगर्भ में अपार मात्रा में संचित हूं और जलाने के काम आ सकता हूं। अभी तक तिल आदि वनस्पतियों के तेल ही दीपकों में काम आते थे, जो कृषि और यांत्रिक पेचीदगी से प्राप्त हो सकते थे। मानव ने सोचा क्यों न मुझे ही भूगर्भ से प्राप्त करने की विधियां खोजी जावें। मैं भूगर्भ में पांच हजार फीट से पचास हजार फीट तक की गहराई में संचित होकर हिलोरें लेता रहता हूं। उसने जमीन में सुराख करने के यंत्र और नलियों व चूषकपंपों की सहायता से मुझे भूतल पर ला बैठाया। मनुष्य ने देखा कि जमीन में सुराख करते समय एक जलने वाली गैस भी निकलती है, जो और कुछ नहीं, मेरा ही कम दबा हुआ एक अवयव है, जो पृथ्वी के काफी ऊपरी तल में होता है। तुम जानते हो गैस को दबाव डाल कर द्रव बनाया जा सकता है; दाब कम करने पर द्रव पुनः गैस बन जाता है। पृथ्वी के ऊपरी अंतस्तल में दाब कम होने से गहरे अंतस्तल की अपेक्षा मैं द्रव की अपेक्षा गैस तम रूप में रहता हूं; और पृथ्वीतल पर आते-आते दबाव के बिल्कुल ही घट जाने से पूर्ण गैसीय रूप में सनसनाता हुआ निकलने लगता हूं। मानव पहले तो मेरे इस ज्वलनशील रूप से घबड़ाता था और इसे हवा में उड़ा देता था; पर अब उसने इसको एकत्रित कर उपयोग करना प्रारंभ कर दिया है जिससे मानव को कृत्रिम रबर, प्लास्टिक और अन्य उपयोगी पदार्थ प्राप्त होने लगे हैं।

अपने जन्म के समय तो मैं भूगर्भ के सछिद्र भागों में भी उत्पन्न होता

था, परंतु भूगर्भ के निचले सतहों की ओर मैं बहने लगा और उन उन स्थानों में एकत्रित होने लगा, जहां ऐसी चट्टाने थीं जिनमें मैं और नीचे की ओर नहीं बह सकता था। मेरा यह संचय भूगर्भ में ठीक ऐसे ही स्थलों में हुआ जैसे भूतल पर कुओं में पानी का संचय होता है। यही कारण है कि जहां मैं पाया जाता हूं, और जहां से मुझे मानव नलियां लगा कर भूतल पर ले आता है, उन स्थानों को मेरा ही कूप कहा जाता है। मेरा जन्म इन कूपों में नहीं हुआ, परंतु भूगर्भ की सछिद्रता ने हमें इन अप्रवेश्य स्थानों में अपना निवास बनाकर संगठित रूप में रहने के लिए प्रेरित किया।

हां और मैं भूगर्भ में निरंतर जन्म लेता रहता हूं; तभी तो मैं तुम लोगों की इतनी अधिक सेवा करता रहता हूं।

जब मनुष्य ने मुझे भूगर्भ से प्राप्त किया, तो मैं बड़ा ही भद्दा, बदबूदार, कुछ काला-भूरा सा, कुछ गाढ़ा-सा द्रव था। मेरे रूप को मनुष्य ने घृणाव से देखा और सोचा कि मैं जितना उपयोगी हूं, उतना ही सुंदर होता, तो कितना अच्छा होता? मैंने भी भौतिक दुनियां की चकाचौंध के साथ अपने रूप की तुलना की, और ऐसा लगा, ''मानव मुझे भूगर्भ में ही पड़ा रहने देता, तो अच्छा था''

अभी आप लोग जानते होंगे कि मैं अपने इस प्रकृति रूप में ही आपके मोटर और हवाई जहाज चलाता हूं। पर यह आपकी भ्रांति है : यदि मैं इसी रूप में ऐसा करने लगूं, तो कुछ ही समय में आपके साथ आपका वाहन भी बेकार हो जाय। यही कारण है कि मेरे प्राकृतिक और शक्तिदायी रूप के भिन्न-भिन्न नाम आप लोगों ने अपनी सुविधा के लिए रख दिए हैं। प्राकृतिक रूप को आप को 'पेट्रोलियम' कहते हैं और शक्तिदायी रूप को मुख्यतः पेट्रोल कहते हैं। इसी प्रकार मेरे बहुत से रूपों का आप लोगों ने भिन्न-भिन्न नामकरण कर लिया है, डीजल ऑयल, मोबिल ऑयल, किरासिन तेल, नेप्था आदि, पिच और वेसलीन इत्यादि। आप पूछेंगे कि केवल एक ही द्रव के रूप तो मैं पृथ्वी पर आता हूं और इतनी बड़ी जनमती सेना कहां से बना ली? बात यह है कि पृथ्वी तल या भूगर्भ में प्रकृति देवी की अपार लीला है। उसकी कार्यप्रणाली का रहस्य क्या किसी ने पाया है? वह ऐसी वस्तुओं का निर्माण करती है जिसकी बनावट आज का चतुर वैज्ञानिक भी अब तक नहीं जान सके हैं। गागर में सागर वाली कहावत प्रकृति देवी के लिए पूर्णतया चरितार्थ होती है। मेरे प्राकृतिक रूप में भी बहुत से दीर्घकाय अणु रचना वाले पदार्थों को विच्छेदन संयोजन की प्रक्रियाओं द्वारा अगणित पदार्थों का सागर मुझ में भर दिया गया है। प्रकृति की यह जादूगरी

मनुष्य ने अच्छी तरह समझ ली है, जिसका परिणाम है कि जो देखो, तुम्हें मेरा रूप ही अपने सामने मिलेगा।

वैसे सच पूछा जावे, तो मेरी शरीर-रचना पृथ्वी पर विद्यमान कुछ ही तत्वों द्वारा हुई है। कार्बन, हाइड्रोजन ऑक्सीजन, नाइट्रोजन व गंधक इत्यादि। पर भूगर्भ में अत्यंत ही दाब और ताप के कारण उनमें ऐसे रासायनिक संयोगों की कड़ियां बन गई हैं कि नित नए यौगिक प्राप्त करने के बाद भी मानव कहता है—अभी उसने मेरी जांच नहीं कर पाई है। साधारणतः रसायन शास्त्री बताते हैं कि मेरा प्राकृतिक रूप खुली और आवृत श्रृंखला वाले भिन्न-भिन्न पदार्थों से बना है। इन पदार्थों में कई गैसीय हैं, कई द्रव है जिनमें गैस घुले रहते हैं, और कई ठोस हैं जो द्रवों में घुले रहते हैं, मेरी अंतःरचना में से प्रमुखतः कार्बन और हाइड्रोजन के भिन्न-भिन्न यौगिक की बहुलता हैं, जिनमें ज्वलनशीलता, और शक्तिप्रदत्ता पाई जाती है; ऑक्सीजन युक्त यौगिक या अन्य प्रकार यौगिक अपेक्षाकृत कम हैं।

नाटक

अंध विश्वास*

गोविन्द वल्लभ पंत

[पहला दृश्य–रोम का न्यायालय। ऊंचे मंच पर न्यायाधीश, उसके नीचे उसका लेखक। एक ओर गैलीलियों के तीन आरोपक, दूसरी ओर गैलीलियो और उसके दो साथी, एक सिपाही। गैलीलियो की बगल में एक पुस्तक और एक दूरबीन है।]

पहला आरोपक : मैं रोम साम्राज्य के नागरिकों का प्रतिनिधि, मैं नागरिकता के नाम पर इस बूढ़े पर आरोप लगाता हूं कि इसने नागरिकता के विरुद्ध प्रचार किया है। इसने साम्राज्य की उज्ज्वल भावना कलुषित कर दी।

न्यायाधीश : वेश-भूषा और मुख की भाव-भंगिमा से तो इसके ऐसी कोई बात नहीं दिखाई देती। आयु में भी यह उसकी चपलता का अतिक्रमण कर चुका है। इतना सौम्य और धैर्यवान् कौन है यह बूढ़ा?

पहला आरोपक : इसके सब गुण अभी खुल जावेंगे। यह सत्तर वर्ष का बूढ़ा...

न्यायाधीश : लेखक? अंकित करो इसका नाम-धाम?

(लेखक लिखता रहता है।)

पहला आरोपक : यह पिसा का रहने वाला, इसका नाम गैलीलियो है। यह पदुआ के विश्वविद्यालय में गणित-शास्त्र का प्राध्यापक है।

न्यायाधीश : बात क्या है? ऐसे वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध के विरुद्ध तुम जो आरोप लेकर आए हो, वह जल्दीबाजी, अविचार या किसी

---

* त्रिपथगा, नवंबर 1955

व्यक्तिगत शत्रुता का फल तो नहीं है? *(दूसरे आरोपक से)* और तुम कौन हो?

दूसरा आरोपक : मैं पोप का प्रतिनिधि हूं। उनकी धार्मिकता और निष्पक्षता में भी क्या कोई संशय हो सकता है। इस बूढ़े पर उनके भी आरोप हैं।

न्यायाधीश : तब तो कुछ? *(मुट्ठी बांध कर कुछ क्षण बड़े गहरे विचार में धंस जाता है, फिर प्रकृतिस्थ होकर तीसरे आरोपक से)* और तुम?

तीसरा आरोपक : मैं उसी विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र का आचार्य हूं। मुझे भी बहुत-कुछ कहना है।

न्यायाधीश : हे वृद्ध महाशय, मैंने तुम्हाने ऊपर लगाए जाने वाले आरोपों को अभी नहीं सुना है। तुम्हारे आदर के लिए मैं तुम्हें बोलने का अवसर देता हूं।

गैलीलियो : धन्यवाद! मैं चोर, डाकू, या नर-घाती नहीं हूं। न मैंने पराई वस्तु पर दृष्टि गड़ाई है, न किसी की धरोहर दबाई है। मेरे हृदय में भगवान का उतना ही डर बैठा हुआ है जितना पवित्र पोप के, और मैं न्याय का ऐसा ही पक्षपाती हूं, जैसे आप। फिर मैं नहीं जानता, सारी आयु देश की सेवा करने का बदला-इस पकी अवस्था में मुझे न्यायालय तक घसीट लाने में, क्यों दिया गया?

न्यायाधीश : घबराओं नहीं, अच्छी तरह सोच-विचार कर ही न्याय किया जाएगा। मैं पहले आरोपक से पूछता हूं। कम और स्पष्ट शब्दों में अपने आरोप का आशय प्रकट करें।

पहला आरोपक : यह बूढ़ा प्राचीन आचार्यो और पंडितों को मूर्ख कह कर उनकी पगड़ी उछालता है। उसकी शिक्षा से राष्ट्र के नवयुवकों को धर्म और प्राचीन गौरव के लिए कोई श्रद्धा नहीं रह गई है।

न्यायाधीश : उदाहरण और सबूत देकर बात स्पष्ट करो।

पहला आरोपक : इसने विश्वविद्यालय विचारक और वैज्ञानिक अरस्तू के सिद्धांतों के खंडन किया है। उसने लिखा है, अगर ये चीजें एक साथ ही ऊपर से गिराई जाए तो जो भारी होगी वह पहले और जो हल्की होगी वह बाद को भूमि पर गिरेगी।

न्यायाधीश : क्यों?

गैलीलियो : अरस्तू की विद्या के आगे में अपना मस्तक झुकाता हूं। मनुष्य से भूल होनी संभव है। अगर में उनकी भूलों को आगे भी हाथ जोड़ता रहूं तो मैं संसार को धोखा देता हूं और ज्ञान को आगे बढ़ने से रोकता हूं। मैं विद्वान न्यायाधीश का मत जानना चाहता हूं।

न्यायाधीश : अरस्तू ने क्या भूल की?

गैलीलियो : मैं अपने तमाम विरोधियों को पिसा की ऊंची मीनार पर ले गया था। मैंने वहां से दस पौंड और एक पौंड के दो तोप के गोले एक ही साथ नीचे गिराए। दोनों एक ही साथ भूमि पर गिर पड़े, न्यायाधीश महादेय!

पहला आरोपक : इसने कोई चालाकी की।

गैलीलियो : वह प्रयोग जो चहो, कितनी ही बार दुहराया जा सकता है। प्रत्येक दशा में उसका परिणाम एक ही रहेगा।

न्यायाधीश : *(दूसरे आरोपक से)* तुम्हें क्या कहना है?

दूसरा आरोपक : यह बाइबिल पर कलंक लगाता है। इसने सृष्टि की कथा पर लोगों का अविश्वास बढ़ाया है। इसने धरती को सृष्टि का केंद्र मानना छोड़कर सूर्य को माना है। यह सूर्य के बदले पृथ्वी को घूमनेवाली बताता है। इसके कारण धर्मशास्त्र और भगवान पर दिन-दिन लोगों की श्रद्धा घटती जा रही है।

न्यायाधीश : क्यों जी, तुम क्यों मान्य सत्य को उलट रहे हो?

गैलीलियो : मैं यह दूरबीन बनाकर दूरी को निकट ले आया हूं। मैंने गणित लगाया है। और भी *(दूरबीन के साथ किताब दिखाकर)* इस पुस्तक में कोपर-निकस के सिद्धांत हैं। उसने आज से चार सौ साल पहले यह सिद्ध किया था कि धरती सूर्य की परिक्रमा करती है।

न्यायाधीश : ये दोनों चीजें न्यायालय में जमा कर लो।

(लेखक दोनों चीजों को ले लेता है)

न्यायाधीश : देखो, तुम्हारा गणित हर एक नहीं समझ सकता। तुम्हें सीधी सादी प्रजा को धर्मशास्त्र के विश्वासों से डिगा देना उचित नहीं। *(तीसरे आरोपक से)* तुम्हें क्या कहना है?

तीसरा आरोपक : *(एक किताब निकालकर)* इसने यह पुस्तक लिखी है और इसके विष भरे सत्यों का यह जनता में प्रचार करता फिरता है। अधिक बोलकर मैं श्रीमान् का समय नष्ट नहीं करूंगा। यह तमाम विश्वविद्यालयों के बड़े-बूढ़े विद्वानों को चिढ़ाता और जो इसकी हां-में-हां नहीं मिलाते उनकी हंसी उड़ाता है।

न्यायाधीश : यह पुस्तक भी जमा कर ली जाए।

(लेखक उस पुस्तक को भी ले लेता है।)

न्यायाधीश : क्यों जी, तुमने ऐसी भ्रष्ट पुस्तक क्यों लिखी?

गैलीलियो : भ्रम के अंधकार को नष्ट करने के लिए मैंने यह दीपक जलाया है। यदि प्रकाश अपराध है तो निस्संदेह मैं दंडनीय हूं।

न्यायाधीश : चुप रहो, तुम्हें बाइबिल के विरुद्ध किसी बात का प्रतिपादन नहीं करना होगा।

गैलीलियो : बाइबिल एक धार्मिक पुस्तक है। मैंने गणित के सत्य को प्रमाणित किया है।

न्यायाधीश : बाइबिल से बढ़कर दूसरा सत्य कहीं नहीं। सूर्य जहां से उदय हो रहा है, उसे वहीं से होने दो।

गैलीलियो : सूर्य उदय नहीं होता। धरती के चलने से ही वह भ्रम जागता है। जैसे दौड़ती हुई गाड़ी में पेड़ और मकान भागते हुए जान पड़ते हैं।

न्यायाधीश : चुप रहो, संसार के अन्य विद्वानों की वाणी का आदर करना सीखो।

गैलीलियो : कोपरनिकल यही कहता है।

न्यायाधीश : कोपरनिकस का सिद्धांत अगर सत्य होता तो वह संसार में फैल जाता। वह मर गया, तुम क्यों उसकी हड्डियां खोदते हो? अगर वह जीवित होता तो हम उसे भी पकड़कर कारागार में डाल देते।

गैलीलियो : मैं उसी के सत्य को लेकर पैदा हुआ हूं, उसके दंड के लिए भी प्रस्तुत हूं।

न्यायाधीश : यह हठधर्मी छोड़ो, मुझे तुम्हारे बुढ़ापे पर दया करनी है।

गैलीलियो : सत्य ही सदा संवर्द्धन के योग्य है। मेरा बुढ़ापा आपकी दया पाकर भी यौवन की दिशा न पकड़ेगा। वह तो चला ही गया।

न्यायाधीश : अब तुम्हारा स्वभाव समझ में आया। पोप की मान-रक्षा, पादरियों की पदवी और नागरिकों की बात रखने के लिए मुझे तुम्हें जेल में भेजना ही पड़ेगा।

गैलीलियो : आप जो भी चाहें करें।

न्यायाधीश : देखो, तुम समझदार हो—समझ से काम लो। अगर तुम यह कह दो कि सूर्य धरती के चारों ओर घूमता है, तो तुम्हें छोड़ दिया जाएगा।

(गैलीलियो अपने दोनों साथियों से परामर्श करता है।)

गैलीलियो : नहीं, मैं नहीं कहूंगा। मुझे फांसी लग जाए, मैं सत्य का गला न घोटूंगा।

न्यायाधीश : जिस बात को सब लोग मानते हैं, वही सत्य है। क्या तुमने देखा है धरती को सूर्य के चारों ओर जाते हुए?

पहला आरोपक : मान क्यों नहीं जाते, क्यों इस बुढ़ापे को अधिक जर्जरित कर रहे हो?

दूसरा आरोपक : जेल में कठिन परिश्रम करना पड़ेगा।

तीसरा आरोपक : यह विद्या का सारा घमंड चूर-चूर हो जाएगा।

न्यायाधीश : कहो मैंने भूल से कहा कि धरती सूर्य के चारों ओर घूमती है। वास्तव में सूर्य धरती की परिक्रमा करता है।

(गैलीलियो के दोनों साथी उसका हाथ खींच कर कुछ देर मंत्रणा करते हैं।)

गैलीलियो : *(छाती पर हाथ रखकर वह बेचैनी से कहता है।)* वा-वास्तव में सू-सूर्य धरती की परिक्रमा करता है। मैं-मैंने भूल की जो अन्यथा कहा।

न्यायाधीश : *(प्रसन्न होकर लेखक से)* लिखा तुमने?

लेखक : हां सरकार।

न्यायाधीश : अच्छा जाओ, अपने इस वक्तव्य पर तुम जब तक स्थिर रहोगे तब तक तुम मुक्त हो।

(गैलीलियो अपने दोनों साथियों के साथ सिर लटकाकर चला जाता है।)

पहला आरोपक : बाइबिल की जय!

दूसरा आरोपक : पोप की जय!!

तीसरा आरोपक : धर्म की जय!!!

गैलीलियो : *(अपने खींचकर ले जानेवाले साथियों के हाथ छुड़ाते हुए आता है और हाथ उठाकर घोषणा करता है।)* नहीं, सूर्य अटल और स्थिर है। मैं अपने शब्द वापस लेता हूं। मेरा वक्तव्य काट दिया जाए—मेरा वक्तव्य काट दिया जाए।

न्यायाधीश : वक्तव्य नहीं, क्षण-क्षण बदलने वाली ऐसी जीभ काट दी जाएगी। पागल मत बनो।

गैलीलियो : सत्य को प्रकाशित होने दो। आने वाली संतान इसका निर्णय करेगी, गैलीलियो पागल नहीं था। लाओ मेरी दूरबीन और मेरी किताब।

न्यायाधीश : तुम्हारी दूरबीन तोड़कर फेंक दी जाएगी और किताब फाड़कर जला दी जाएगी।

गैलीलियो : वे फिर उपज जाएंगी, उनका बीज मेरे मन में है।

न्यायाधीश : *(सक्रोध उठकर)* पकड़ लो, इस विधर्मी को जेल में ठूंस दो अभी।

(सिपाही गैलीलियो को बंदी करता है, परदा गिरता है)

दूसरा दृश्य

(कई वर्ष बाद। अंधेरा कारागार। सींखचों के बाहर एक रोमन सिपाही पहरा दे रहा है। भीतर अंधेरे कोने में गैलीलियो सो रहा है। धीरे-धीरे सूर्योदय होता है और उसकी किरण कारागार में चमकने लगती हैं)

सिपाही : *(सींखचे बजाकर)* बंदी! बंदी! क्या आज नहीं उठोगे? अब तो सूर्योदय हो गया।

गैलीलियो : *(उठाकर माथे पर हाथ मारता है)* सूर्य उदय नहीं होता है सिपाही। यह पृथ्वी है, जो उसके सामने से हट जाती है।

सिपाही : तो इससे क्या अंतर पड़ता है? खरबूजा छुरी पर या छुरी खरबूजे पर। मतलब उजाला हो जाने से है।

गैलीलियो : अरे भाई, इसी अंतर पर तो यह मौत से भयानक दंड पाया है।

सिपाही : बूढ़े बाबा! क्या कर दिया तुमने? इस उमर में किसका ताला तोड़ डाला?

गैलीलियो : *(हंसता है)* संसार में कोई नहीं मेरा, संसार की किसी कामना का नहीं मैं। ताला क्यों तोडूंगा किसी का? *(इधर-उधर टटोलता हुआ)* पहरेदार, तुम कहते हो प्रभात हो गया?

सिपाही : इसमें क्या शक है!

गैलीलियो : धूप दिखाई देने लग गई?

सिपाही : और नहीं तो क्या?

गैलीलियो : तब क्या आज दूसरी आंख भी फूट गयी?

सिपाही : तुम जानो।

गैलीलियो : *(आकाश की ओर देखकर)* हे भगवान, क्या पाप किए मैंने?

सिपाही : तुम तो कहते थे, तुमने कोई पाप नहीं किया।

गैलीलियो : अवश्य कुछ पीसकर खिला दिया गया मुझे।

सिपाही : अभी और कितना समय बाकी है?

गैलीलियो : आयु और दंड दोनों साथ ही समाप्त होंगे।

सिपाही : आजीवन कैद है—बड़ी भारी सज़ा!

गैलीलियो : और मैं अपने ही शब्दों में बंदी हूं। वे कहते हैं उन्होंने मुझे मृत्यु दंड न देकर दया की है।

सिपाही : अर्थात्?

गैलीलियो : अगर मैं अपने शब्द वापस ले लूं तो वे मुझे तुरंत ही छोड़ देंगे।

सिपाही : शब्द में क्या रखा है? वापस ले क्यों नहीं लेते?

गैलीलियो : सिपाही, यह मिट्टी का शरीर थोड़े मनुष्य है। उसके भीतर यह बोलने वाला शब्द ही तो। मैं झूठ बोल कर जीवित रहने की इच्छा को धिक्कारता हूं।

सिपाही : तुम्हारे कोई नहीं?

गैलीलियो : एक लड़की पहले ही मर गई। दूसरी जब तक जीवित रही यही कहती थी कि मैं अपने शब्द बदल दूं।

सिपाही : फिर क्यों नहीं मुक्त हो जाते?

गैलीलियो : और सारे जगत को असत्य में बांध दूं? सिपाही, मौत अटल है। जैसे मेरी आंखों का प्रकाश उड़ गया, ऐसे ही एक दिन

धुकधुकी से निकल कर यह सांस भी निकल जाएगी और मैं जहां का-तहां पड़ा रह जाऊंगा।

सिपाही : मरना तो सभी को है।

गैलीलियो : मेरी एक अंतिम इच्छा पूरी कर दोगे? मेरी कब्र के ऊपर यह लेख लिखा देना कि यह मनुष्य धरती को चलनेवाली कहने के लिए कारागार में सड़ा दिया गया था।

सिपाही : रोम का क़ानून कहता है—कैदखाने में मरने वाले की कब्र पर कोई लेख नहीं दिया जा सकता।

गैलीलियो : ओह! इस अंधविश्वास का कब अंत होगा?

सिपाही : कैसा अंधविश्वास?

गैलीलियो : इस समय मेरे-जैसे अंधे का विश्वास! लेकिन कभी तो इस पर प्रकाश चमकेगा। *(टटोलता हुआ फिर धरती पर गिर पड़ता है।)*

रिपोर्ताज

जड़ी-बूटियां और जहरीले पौधे*

आर.एस.चौपड़ा

प्रसन्नता की बात है कि भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् कृषि विषयों के अतिरिक्त तत्संबंधी अन्य विषयों पर ध्यान देने लगी है, मसलन वह जड़ी-बूटियों तथा जहरीले पौधों की भी व्यावहारिक गवेषणा कर रही है।

संसार की सभी प्रकार की जलवायु, ऋतु और मिट्टी भारत में पाई जाती है। 130 डिग्री फा. तापमान (मैदानों में) से लेकर—46 डिग्री फा. तापमान (काश्मीर डूस में) तक प्रतिवर्ष 430 इंच वर्षा (आसाम के चेरापूंजी में) से लेकर 5 इंच से भी कम वर्षा (राजपूताना की मरुभूमि में) तक और हिमालय की जन-वन विहीन गगनचुम्बी पर्वत-मालाओं से लेकर दक्षिण की दलदली भूमि तक, विभिन्न प्रकार की स्थितियां यहां मिलती हैं। इसलिए संसार में अपने आकार-प्रकार के किसी भी देश की अपेक्षा भारत में सबसे अधिक प्रकार की वनस्पतियां मिलती है।

जड़ी-बूटियों का सर्वेक्षण

भारतीय वनस्पति के बारे में पहले कभी काफी लिखा जा चुका है, परंतु देश के आर्थिक विकास में उसके उपयोग पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। भारतीय कृषि गवेषणा परिषद् ने यह काम अपने हाथ में लिया। उसने पहले वनस्पति का व्यवस्थित रूप से सर्वेक्षण इन पंक्तियों के लेखक से कराया और लाभदायक पौधों के नमूनों को इकट्ठा किया। इसका ठीक-ठीक पता लगाया गया कि भारत के किस भाग में कौन से पौधे स्वतः उगते हैं। अब यह काम प्रायः पूरा हो चुका है और इस विषय की एक पुस्तक 'ग्लौसरी आव इंडियन मेडीसिनल-प्लाण्ट्स'

* विज्ञान, जनवरी 1955

छप रही है। इसमें पौधों के पैदा होने का स्थान, उनका वैज्ञानिक तथा देशी नाम उनके उपयोग आदि का वर्णन किया गया है।

सर्वेक्षण से अनेक जड़ी-बूटियों का पता चला है जिनमें से अनेक संसार के विभिन्न देशों में दवा में काम आ रही है।

विदेशी दवाइयों का स्थान ले सकती हैं।

विदेशों से आनेवाली मंहगी दवाइयों में जो औषधें पड़ती हैं, लगभग उन्हीं के समान गुणवाली जड़ी-बूटियां भारत में भी पाई जाती हैं। विदेशी औषधों के स्थान पर ये जड़ी-बूटियां काम में लाई जा सकती हैं। कुछ का वैज्ञानिक परीक्षण किया जा चुका है और वे चिकित्सा में काम आ रही हैं। इन एवजी औषधों की सूची छप गई है और औषधि निर्माता उन्हें तैयार कर रहे हैं।

जहरीले पौधे

देश में बहुत से नशीले और जहरीले पौधे होते हैं। इनमें से कुछ दवाई के भी काम आते हैं। परिषद् ने खोज से पता लगाया है कि लगभग 700 ऐसे पौधे हैं जो मनुष्यों, पशुओं, कीटों, मछलियों आदि के लिए जहरीले होते हैं। परिषद् ने इस विषय पर एक पुस्तक प्रकाशित की है जो दो भागों में है। इसका पहला भाग प्रकाशित हो गया है।

मनुष्य के लिए जो पौधे जहरीले होते हैं उनके बारे में हमारी जानकारी काफी हो गई है और अनेक पौधों का उपयोग दवा बनाने में किया जा रहा है। पशुओं के लिए जहरीले पौधे भी वे खा जाते हैं, जिनके कारण काफी प्राणहानि होती है। कुछ पौधे ऐसे होते है जिन्हें खाने से पशु कम दूध देने लगते है या उनका दूध जहरीला हो जाता है।

चारे के काम आने वाले कुछ ऐसे ही पौधे हैं जो हानि करते हैं। जैसे, खेसारी दाल मनुष्यों और पशुओं को दुबला-पतला कर देती है। ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। परिषद् की आर्थिक सहायता से इन पौधों की काफी जांच की जा चुकी है। इस समय उत्तर पश्चिमी हिमालय में उगने वाले 150 से भी अधिक जहरीले पौधों को संग्रह किया जा चुका है और उनकी जांच की जा रही है।

कीटाणु भगाने और मारने वाले पौधे

कुछ पौधे कीड़ों के लिए विषैले होते हैं। कीटाणु-नाशक कृत्रिम दवाइयों की अपेक्षा इन पौधों से बनी दवाइयां मनुष्य और पशुओं को कम हानिकारक होंगी। पाइरेथम, देरिस, तमाखू, टेफ्रोज, पिकरस्मा, लर्कसपुर, बेराट्रम आदि के पौधे कीटाणु-नाशक होते हैं। कई अन्य पौधों की अभी खोज करनी बाकी है। कुठ की जड़, युकलिप्टस के पत्तों का सत्त, पुनचौली, नीम आदि कीड़े भगाने के काम आते है। ऐसे पौधों के विषय में अभी काफी खोज की जरूरत है।

जड़ी-बूटियों का उत्पादन

भारत और विदेशों में जड़ी-बूटिओं के बारे में रुचि बढ़ रही है। इनमें से अनेक, जैसे राउओल्फिया सर्पन्टाइन, बेलेडोना आदि का अंधाधुंध उपयोग होने के कारण उनके समाप्त होने की नौबत आ गई है। जड़ी-बूटियों के उगने के अनेक स्थान अब पाकिस्तान में चले गए हैं। इससे भी काफी नुकसान हुआ है।

परिषद् की भारतीय जड़ी-बूटी समिति ने जड़ी-बूटियों के उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए गवेषणा योजनाएं चालू की हैं। काश्मीर में पाइरेथम, बेलेडोना आदि की परीक्षा के लिए खेती हो रही है। मद्रास में अगार्ट की खेती हो रही है और उसे बाजार में बेचा भी जा रहा है। पहले इसे बाहर से मंगाना पड़ता था।

परिषद् का एक विभाग, लाभदायक विदेशी पौधों को देश में उगाने का प्रयत्न करता है। सिन्कोना और इपेकाकुहां के पेड़ भारत में 19वीं शताब्दी में लाए गए थे और इनसे बड़ा लाभ हो रहा है। पाइरेथम भी कश्मीर, नीलगिरि, आसाम तथा अन्य स्थानों में पैदा किया जा रहा है। इससे कीड़े मारने की बहुत तेज दवा बनती है। परिषद् ने कश्मीर में अनेक परीक्षण केंद्र बनाए हैं जहां लैवेंडर, पुदीना, लिकरिस आदि की खेती करने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। दक्षिण अफ्रीका में पैदा होने वाले 'स्ट्रोपेन्थस कोम्ब' और आस्ट्रेलिया के 'दोबेसिया माइओपराडस' के बीजों को भी भारत के विभिन्न स्थानों में उगाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

भारतीय कृषि गवेषणा परिषद् की आर्थिक सहायता से इन पंक्तियों के लेखक ने देशी जड़ी-बूटियों के संबंध में शोध का काम किया है। यह काम देश-वासियों के हित के लिए आवश्यक है।

चिन्तनपरक

औद्योगिकरण की कुछ समस्याएं

डॉ. आत्माराम, डी.एस-सी.

आज देश के सम्मुख एक बड़ी समस्या है और वह है देश के औद्योगीकरण की। हमारी सरकार, कुछ पूंजीपति एवं संस्थाएं इस दिशा में प्रयत्नशील भी हैं, किंतु एक प्रारम्भिक कठिनाई हमारी प्रगति के मार्ग को कहीं कहीं रोक देती है और वह औद्योगिक क्षेत्रों के कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण की।

दूसरे उन्नति शील देशों में इस प्रकार का कार्य करने के लिए जो व्यक्ति रखे जाते हैं उनका वर्गीकरण वैज्ञानिकों (Scientists) टेकनालाजिस्ट (Technologist) और टेक्नीशियन्स (Technicians) में किया जा सकता है। फिर भी इन तीनों वर्गों में बड़ा अंतर है। हमारे देश में एक ही व्यक्ति से इन तीनों कार्यों के लेने का प्रयत्न किया जाता है किंतु तीनों व्यक्तियों के कार्य अलग अलग प्रकार के होने के कारण कोई भी कार्य उचित रूप से संपन्न नहीं हो पाता। इन तीनों वर्गों के कार्य-भेद का नीचे लिखी पंक्तियों में स्पष्टीकरण किया गया है।

(1) वैज्ञानिक (Scientist) इस वर्ग के व्यक्ति साधारण नियमों के अंतर्गत निहित-ज्ञान का अर्जन और प्रसार करते हैं और इस प्रकार के सिद्धांतों का विशुद्ध रूप से अभ्यास भी करते हैं। औद्योगिक विकास में उनके आविष्कारों की क्या उपरोगिता होगी इसका विचार उनके लिए एक गौण वस्तु है। इस वर्ग के सारे व्यक्तियों का कार्य क्षेत्र उनकी अनुसंधानशाला ही रहती है। अनुसंधानशाला के बाहर उन सिद्धांतों का क्रियात्मक उपयोग किस प्रकार से हो यह दूसरे वर्ग का कार्य है।

टेकनालाजिस्ट–इस वर्ग के लोगों को विज्ञान के प्रारंभिक सिद्धांतों का ज्ञान

---

* विज्ञान, सितंबर 1957

आवश्यक होता है। वैज्ञानिकों की भांति वे केवल प्रारंभिक सिद्धांतों में ही न उलझकर उन सिद्धांतों के क्रियात्मक उपयोग को ढूढ़ते हैं। इन प्रारंभिक सिद्धांतों की सहायता से किसी औद्योगिक व्यवसाय में किस प्रकार से वृद्धि हो, बनाए गए पदार्थों को पहले से अच्छे गुण-धर्म का कैसे बनाया जाएं इस दिशा में इस वर्ग के लोगों का सारा ध्यान रहता है। इस प्रकार से यह वर्ग शुद्ध विज्ञान के सिद्धांतों का उपयोग कर देश को आगे बढ़ाने में सहायता करता है। इस वर्ग के लोगों को शुद्ध विज्ञान में स्नातक होना आवश्यक है। इतनी प्रारंभिक शिक्षा के बिना साधारण सिद्धांतों का प्रतिपादन करना इनके लिए असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य होगा और आगे की प्रगति में रोड़ा अटकावेगा। इस वर्ग के लोगों के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे यह जानें कि फैक्ट्री में काम कैसे होता है और उस काम को स्वयम् करने की क्षमता प्राप्त करें। उदाहरण के लिए हम शीशे के व्यवसाय को लें। एक टेकनालाजिस्ट इस बात पर विशेष ध्यान देगा कि शीशे गुण-धर्म किस प्रकार से अच्छा किया जा सके, बालू में कौन-कौन सी वस्तुएं किस किस परिणाम में घटा बढ़ा कर मिलाई जाए जिससे बने हुए शीशे का स्वरूप पहले से अधिक सुंदर हो और वह पहले की अपेक्षा अधिक टिकाऊ और उपयोगी बन सके उसका यह कार्य नहीं कि वह स्वयम् ही शीशे की वस्तुओं का निर्माण करे। यह निर्माण कार्य तीसरी कोटि के व्यक्तियों के हिस्से में आता हैं जिन्हें टेक्नीशियन कहा जाता हैं। इस प्रकार के टेक्नालाजिस्ट अपनी अनुसंधानशाला में कार्य करता है। और अपने परिश्रम से अर्जित ज्ञान की परीक्षा तत्संबंधी फैक्ट्री में करता है।

टैक्नीशियन–इस वर्ग के लोगों के लिए विज्ञान की काम चलाऊ शिक्षा की काफी है। इनके लिए यह आवश्यक नहीं कि वे सैद्धांतिक पहलू को समझें। उन्हें काम करना आना चाहिए। जिस प्रकार की आज्ञा मिले उसे पूरा करें। उदाहरण के लिए टेक्नीशियन को आशा मिलती है कि वह वस्तुओं का निर्माण करे। वह अपना कार्य प्रारंभ कर देगा। यदि कांच के बर्तन में रवे पड़ जाते हैं तो वह टेक्नीशियन का दोष नहीं। इस की जिम्मेवारी तो टेक्नालाजिस्ट पर है। यह टेक्नालाजिस्ट का काम है कि वह कांच के इस प्रकार के दोषों को दूर करने के लिए उपयोग में आने वाले कांच में आवश्यक पदार्थों की मात्रा कम या अधिक करे या उनमें आवश्यकतानुसार किसी नए पदार्थ का समावेश कर दे। टेक्नीशियन तो केवल देखेगा कि उसके द्वारा बनाई गई वस्तुओं का स्वरूप ठीक हो। उसे केवल शिल्प संबंधी कौशल प्राप्त होना चाहिए। इस वर्ग के लोगों का कार्य क्षेत्र

और प्रशिक्षण का स्थान फैक्ट्री है।

सरकार लोगों को व्यावहारिक शिक्षा के लिए विदेशों में भेजती है। वे लोग विदेशों में जाकर बड़े परिश्रम और अध्यवसाय से सारी शिक्षा ग्रहण करते हैं। यदि उन्हें शिक्षा समाप्ति पर उसी देश में कार्य करने के हेतु छोड़ दिया जाए तो संभवतः वे अपने कार्य में एक आदर्श रख दें किंतु पुनः भारत आने पर उन्हें अच्छी सफलता नहीं मिल पाती। इसके मुख्य कारण हैं–(1) जिस प्रकार के वातावरण में इन व्यक्तियों ने प्रशिक्षा प्राप्त की उससे विभिन्न और कभी-कभी विपरीत वातावरण में इन्हें कार्य करना पड़ता है। (2) कार्य के सुगमतापूर्वक संचालन के लिए उन्हें आवश्यक सुविधाएं नहीं मिलती। (3) कार्य विभाजन ठीक नहीं किया जाता और एक श्रेणी के व्यक्तियों को अपना कार्य न करके दूसरे वर्ग के लोगों के कार्य को भी करना पड़ता है। इस प्रकार भारत लौटने पर उन्हें पग पग पर असुविधा होती है और कार्य संचालन में बाधा पड़ती है। ये लोग विदेशों की कार्य पद्धति की सराहना करते और देश की व्यावहारिक अवस्थाओं को कोसते हुए नहीं थकते। परिणाम स्वरूप कार्य में शिथिलता आ जाती है। और उनकी योग्यता के उचित उपयोग से देश वंचित रह जाता है। यदि हम विदेशों का पल्ला छोड़कर व्यावहारिक प्रशिक्षण अपनी ही फैक्ट्रीयों में देना प्रारंभ कर दें तो कुछ समय के पश्चात ये कठिनाइयां दूर हो जावेंगी और वहां के प्रशिक्षित लोग अधिक लगन के साथ काम कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त विदेश भेजने का व्यय भी बचेगा।

औद्योगिक उन्नति में एक और बहुत बड़ी बाधा है। और वह है व्यवसायी वर्ग की अर्थ पिशाचता और उनमें राष्ट्रीय चरित्र का अभाव प्रत्येक व्यवसायी अधिक से अधिक धन जनता से ऐंठ लेना चाहता है। उसका उद्देश्य अच्छी कोटि की वस्तुओं का निर्माण न करके इन वस्तुओं द्वारा अधिक से अधिक धन-प्राप्ति ही रहता है। परिणाम यह होता है कि पहले से अच्छी कोटि की वस्तुओं का निर्माण नहीं हो पाता और आगे की प्रगति रुक जाती है। अधिकांश बड़े से बड़े व्यवसायी आज भी देश की उन्नति को प्रधानता न देकर अपने लाभ का ही ध्यान रखते हैं। ये लोग सच्चे रूप में उद्योग वादी नहीं कहे जा सकते। रूस से जो लोग स्टील फैक्ट्री बनाने के लिए भारत आए हैं उनसे बात करने पर स्पष्ट पता लगा है कि उन्हें अपने कार्य की श्रेष्ठता में विश्वास है। इनमें देश प्रेम की उत्कट भावना है। इसी वस्तु की भारत में आज कमी है। यही समय है जब हम स्वयम् को छोड़कर सारे देश के लिए विचार करें और सच्चे राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करें। हम स्वदेशी की ओर आज अपने विचार केंद्रित करें और देश

के सर्वांगीण विकास के हेतु कार्य करें।

देश में आज डिजाइनरों (Designers) का सर्वथा अभाव है। इसी कारण से हमें विशेष रूप से विदेशों का मुखापेक्षी होना पड़ता है। जैसे एक स्टील प्लान्ट के लिए एक ऐसी भट्टी (Furnace) की आवश्यकता है जिसमें दो टन लोहा गलाया जा सके, किंतु इस प्रकार की छोटी भट्टी के निर्माण के लिए भी हम आज डिजाइन नहीं बना सकते और इसके लिए अन्य देशों की ओर सहायता के लिए हाथ फैलाते हैं। आज इस बात की आवश्यकता है कि हमारे बीच से ही ऐसे डिजाइनर तैयार हों जो प्रत्येक प्रकार के उद्योग के काम में आने वाली मशीनों की डिजाइनें बना सके। जब तक इस प्रकार का प्रबंध नहीं होगा, हमें दूसरों का मुखापेक्षी होना ही पड़ेगा।

कांच उद्योग ने भारत में पर्याप्त उन्नति की है। स्वदेशी आंदोलन के पूर्व कांच की चूड़ियां और अन्य कांच की वस्तुएं प्रायः विदेशों से आया करती थीं। स्वदेशी आंदोलन के समय से, विशेष कर देवियों से, हमें बड़ी सहायता मिली। इन लोगों ने स्वदेश निर्मित भट्टी-चूड़ियों को सगर्व पहना और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया। परिणाम स्वरूप देशी वस्तुओं की मांग बढ़ती गई और अधिक अभ्यास और अनुभव की वृद्धि के फलस्वरूप अच्छी वस्तुओं का निर्माण भारत में ही होने लगा। आज हम लगभग 3 करोड़ रुपए की चूड़ियां बनाते हैं। इसके अतिरिक्त 4 करोड़ रुपए का अन्य कांच का सामान भी हम बनाने लगे हैं। जहां पहले हमें विदेशों से कांच का माल मंगाना पड़ता था, वहां आज हम कांच की निर्मित वस्तुओं को विदेशों में भेजने लगे हैं। कांच उद्योग ने बड़ी अच्छी प्रगति की है

विश्व युद्ध के पश्चात प्रत्येक वस्तु का मूल्य पहले की अपेक्षा 4 या 5 गुना हो गया है, किंतु यदि हम कांच की साधारण उपयोग की वस्तुओं को लें तो पता चलेगा कि उन वस्तुओं का मूल्य आज भी या तो वहीं है या उससे कम है जो हमें इन वस्तुओं के खरीदने में विश्व युद्ध से पूर्व देना पड़ता था। यह इस उद्योग की स्वस्थ प्रगति की ओर संकेत करता है। यह ठीक है कि हमें कुछ बहुत बढ़िया शीशे का सामान मांगना पड़ता है। आज कांच उद्योग के सम्मुख समस्या है देश के प्रत्येक परिवार में दैनिक उपयोग की कांच की वस्तुओं को पहुंचाना। यदि कांच उद्योग इस कार्य में सफल होता है तो यदि हम कुछ लाख रुपए का कांच का बढ़िया सामान विदेश से मंगवा लें, तो कोई विशेष हानि न होगी।

आज आवश्यकता है कि हमारे देश के लोग इसी देश की पूंजी से निर्मित भद्दी वस्तुओं का उपयोग अधिक धन व्यय करके भी करें और विदेशों से आयात की हुई देखने में सुंदर और अधिक टिकाऊ वस्तुओं को कम मूल्य पर भी न खरीद कर अपने उद्योगों का संरक्षण करें जिससे वे उद्योग आगे बढ़ सकें। यदि जनता का सहयोग अन्य भारतीय उद्योग धन्धों को मिला तो ये कांच-उद्योग की भांति किसी भी देश के समकक्ष हो सकेंगे और देश की सर्वांगीण उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।

16

बीजरहित फल*

दर्शनानन्द, एम.एस-सी., (कृषि)

खाने वाले फलों का बीजरहित होना व्यापारिक दृष्टिकोण से फलों की किस्मों का बहुत बड़ा गुण है। अधिक तथा बड़े बीज वाले फलों को यदि बीजरहित बना दिए जाएं या उनके बीजों को छोटे, पतले तथा नरम बना दिए जाएं या उनकी संख्या में केवल कमी ही हो जाएं तो भी हाट में उनका मूल्य बहुत अधिक बढ़ सकता है। उदाहरणार्थ अनार के दानों को खाने में विशेष असुविधा होती है। यदि इस फल में केवल बीजों की कमी ही हो जाए तो भी यह असुविधा बहुत घट जाए। इसी प्रकार शरीफा, खरबूजा, तरबूजा, अमरूद तथा जम्बिरी जाति के फलों (Citrus fruits) में भी बीजों के कम करने की आवश्यकता है। यह बीजहीनता का प्रभाव है कि संतरे की किस्म वाशिंगटन नेवेल की प्रसिद्धि इस विस्तृत संसार में चारों ओर फैली हुई है। इसी कारण द्राक्षाफल (Grape-fruit) की किस्म मार्श सोडलेस की भी प्रसिद्धि हो गई है। अंगूर, अंजीर, केला, तथा अनन्नास का तो बीजरहित होना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि केले की कुछ किस्मों में छोटे-छोटे बीज पाए जाते हैं और उनको जब खाने के प्रयोग में लाते हैं तो उनके बीज दांतों के नीचे पड़ कर स्वाद तथा खाने के आनंद को नष्ट कर देते हैं। यही हाल अंजीर तथा अंगूर के फल का भी है।

फलों में बीजहीनता उत्पन्न करने के ढंग

फलों में बीजहीनता दो ढंगों से होती है—

1. स्टीनॉसपर्मोकार्पी (Stenospermocarpy) द्वारा।
2. पार्थिनोकार्पी (Parthenocarpy) द्वारा।

---

* बागबान, फरवरी 1958

1. स्टीनॉसपर्मोकार्पी—इस ढंग से जो फल बीजरहित होते हैं उनमें स्त्रीलिंग चक्र (Gynoecium) का गर्भाधान होने के पश्चात् भ्रूण (Embryo) का गर्भपात हो जाता है। जो फल भ्रूण के गर्भपात के पूर्व ही बढ़ना प्रारंभ हो जाता है पर बढ़ते-बढ़ते प्रौढ़ावस्था पर पहुंच कर अंत में बीजरहित हो जाता है।

भ्रूण का गर्भपात कई कारणों से होता है। जब वृक्ष पर फल लगने के पश्चात् वायुमंडल का तापक्रम इतना कम हो जाता है कि पाला पड़ने लायक हो जाए तो भ्रूण का गर्भपात हो जाता है। इस प्रकार का उदाहरण सेब, नाशपाती, तथा आड़ू में पाया गया है।

कभी-कभी भ्रूण का गर्भपात सेचन तथा गर्भाधान के लिए जो पराग की आवश्यकता पड़ती है, उनकी किस्मों पर भी निर्भर करता है। आलूबुखारे की किस्मों में इस प्रकार का उदाहरण पाया गया है। अंगूर भी भ्रूण का गर्भपात हो जाने के कारण ही बीजरहित होता है।

2. पार्थिनोकार्पी—साधारणतः फलों की बाढ़ डिम्ब (Ovule) का गर्भाधान होने के पश्चात् ही होती है। परंतु कुछ दशा में फल बिना गर्भाधान का उत्तेजन प्राप्त किए ही बढ़ने लगते हैं। इस क्रिया को पार्थिनोकार्पी कहते हैं। पार्थिनोकार्पी द्वारा फलों का प्रजनन केला, अनन्नास, शहतूत, अंगूर, टमाटर, बैंगन, कुछ संतेरे की किस्मों तथा कुकुरबिटेसी कुल के कुछ फल जैसे खीरा इत्यादि में पाया गया है।

पार्थिनोकार्पी दो प्रकार की होती हैं—

अ—वानस्पतिक (Vegetative)

ब—उत्तेजनिक (Stimnlative)

अ—वानस्पतिक या स्वत्विक पार्थिनोकार्पी के लिए फलों में सेचन या अन्य प्रकार को उत्तेजना को आवश्यकता नहीं पड़ती। केला, पतीता, बैंगन, जापानी परसिमॉन, शहतूत तथा अंजीर में वानस्पतिक पार्थिनोकार्पी पाई गई है। इस प्रकार की पार्थिनोकार्पी दो भागों में बांटी गई है।

1. ऑब्लीगेट (Obligate)—जब डिम्ब टेढ़े-मेढ़े होते हैं तो ऐसी दशा में यदि सेचन हो भी जाए तो भी गर्भाधान नहीं होता और फल बिना गर्भाधान की उत्तेजना प्राप्त किए ही प्रौढ़ावस्था पर पहुंच जाते हैं।

2. फेकल्टेटिव (Facultative)—इसकी विशेषता यह है कि फलों में यदि सेचन कर दिया जाए तो गर्भाधान हो जाता है जिसके कारण फलों में बीज भी पैदा हो जाते हैं। इसलिए इस ढंग से बीजरहित फल प्राप्त करने के लिए सेचन

से बचाव करने की आवश्यकता पड़ती है।

ब—उत्तेजनिक या एटोनॉमिक पार्थिनोकार्पी में कुछ विशेष प्रकार की उत्तेजना द्वारा यह संभव हो सकता है कि फल बिना गर्भाधान के उत्पन्न हों और साथ ही साथ बीजरहित भी हों। ऐसी उत्तेजना को निम्नलिखित भागों में बांट सकते हैं।

1. यांत्रिक साधन (Mechanical means)—इसमें बधिया, कुचलाव या भीतरी मार (Contension), पिन से कोंचने तथा गर्भनालमुंड (stigma) में सचेतनता (Irritation) उत्पन्न करने की क्रियाएं सम्मिलित हैं। इन क्रियाओं द्वारा बिना सेचन के ही कुछ सीमा तक गर्भाशय के सेल (Cell) के बढ़ने की संभावना रहती है।

सोकोल्सकाया (Sokolskaya–1940) ने पार्थिनोकार्पी पर कुछ प्रयोग किए। उन्होंने संतरे, नीबू, तुरंज तथा द्राक्षाफल (Grape fruit) की कलियों के मुंडों को एक दिन खुलने के पूर्व धीरे से दबा दिया। ऐसा करने से फल बीजरहित हो गए। दबाने के कारण फूल की यानि नली (Style) गर्भाशय के जोड़ से टूट जाती है जिसके द्वारा कुछ उत्तेजना प्राप्त होने के कारण फल बनने और बढ़ने लगते हैं और वह बीजरहित भी हो जाते हैं। जिन-जिन वृक्षों की कलियों में यह कार्यवाही की गई उनमें फलों की उपज भी अधिक हुई।

हॉफमेयर (Hofmeyer–1938)—के अनुसार पतीते के फूलों को थैली में बांध देने से 10% फलों द्वारा उत्पन्न फल पार्थिनोकार्पिक होते हैं।

2. कृत्रिम सेचन (Artificial pollination)—कुछ ऐसे भी फल हैं जिनमें बीज नहीं पैदा होते फिर भी उनमें सेचन की आवश्यकता पड़ती है। सेचन से स्त्रीलिंग चक्र के पराग नली के बढ़ने के कारण उत्तेजना प्राप्त होती है। यह क्रिया इस प्रकार से होनी चाहिए कि पराग नली गर्भाशय तक बढ़ जाए पर गर्भाधान न होने पाए। इस प्रकार का उदाहरण युरोपियन अंगूर तथा कुकुरबिटेसी कुल के फलों के कुछ किस्मों में मिलार्डेट (Millardet-1901) द्वारा पाया गया।

यसूदा (Yasuda-1930) ने इस प्रकार के प्रयोग सॉलोनेसी तथा कुकुरबिटेसी कुल के फलों पर किया और निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुंचे—

सेचन के पश्चात् पराग नली से कुछ रासायनिक पदार्थ निकलते हैं जो गर्भाशय की भीतरी दीवारों में प्रसरण कर जाते हैं और इसके कारण फल बनने लगते हैं।

यदि पराग नली बढ़ कर केवल पुष्प के योनि नली के पेंदे तक ही इस प्रकार पहुंच जाए कि उसके रासायनिक पदार्थों का प्रसरण हो जाए किंतु गर्भाधान

न होने पाए तो भी इस प्रकार से उत्पन्न हुए फल बीजरहित होंगे।

गर्भ-नाल मुंड को कच्चे, अधिक पके या बेमेल (Incompatible) पराग-कणों द्वारा सेचन करने से या इस प्रकार के पराग का सत प्रयोग करने से भी फल बीजरहित होते हैं।

3. हॉरमोन का प्रयोग—हॉरमोन एक रासायनिक पदार्थ है जिसका प्रयोग करने से फलों तथा पौधों की बाढ़ घट-बढ़ सकती है। फलों को पीजरहित बनाना भी हॉरमोन के सारे उपयोगों में से एक है। इसका प्रयोग करने से फूलों के स्रीलिंग चक्र उत्तेजित हो जाते हैं जिनके कारण उत्पन्न हुए फल बीजरहित होते हैं। हॉरमोन का प्रयोग करने का बिल्कुल वही सिद्धांत है जो पराग नली से निकले हुए रासायनिक पदार्थों द्वारा स्त्रीलिंग चक्र को उत्तेजित करने का है।

गस्टफ्सन (Gnstafson-1939) के कथनानुसार जो फल पार्थिनोकापिक ढंगों से उत्पन्न होते हैं उनमें गर्भाशय के भीतर ऑक्सीजन (auxin) की मात्रा इतनी पर्याप्त रहती है कि फल बिना गर्भाधान के ही उत्पन्न हो जाते हैं।

हॉरमोन का प्रयोग प्रायः पानी के घोल के साथ फव्वारे का छिड़काव करके या लेनोलिन मलहम को पुष्पों के स्त्रीलिंग चक्र के अंगों पर लगा कर सकते हैं।

गस्टफ्सन (Gustafson-1936) ने इन्डॉल एसिटिक एसिड (Indol acetic acid) इन्डॉल प्रोपियॉनिक एसिड (Indol Propionic acid) इन्डॉल ब्यूटाइरिक एसिड (Indol butyric acid) तथा फिनाइल एसिटिक एसिड (Phenyl acetic acid) का प्रयोग लेनोलिन मलहम के रूप में पुष्पों के गर्भनाल मुंड पर तथा योनि नली को तोड़ कर गर्भाशय के मुंड पर लगा दिया और इस प्रकार से टमाटर, बैंगन तथा टेढ़ी गर्दन वाले स्क्वाश में कुछ पार्थिनोकार्पिक फल प्राप्त हुए। साधारण फलों से इन फलों के माध्य भार में कुछ कमी थी।

लकविल (Luckwill-1940) के अनुसार टू-फोर-डी (2-4-D) का प्रयोग करने से टमाटर में पार्थिनोकार्पी हो सकती है किंतु फल का आकार बहुत टेढ़ा-मेढ़ा होता है तथा गूदे से भली भांति भरा हुआ नहीं होता। पर बीटा नेप्थॉक्सी एसिटिक एसिड (B-Napthoxy acetic acid) का प्रयोग करने से यह अवगुण दूर हो जाते हैं। इस प्रकार से पैदा किए हुए टमाटर के फलों में शकर की मात्रा बीज वाले टमाटरों से अधिक हो जाती है।

यह उत्तेजनिक पार्थिनोकार्पी ही है जिस पर कि अनुसंधान-कर्त्ताओं के विशेष ध्यान की आवश्यकता है जिससे कि बीज वाले फलों की ऐसा बनाया जा सके कि वे बिना गर्भाधान के ही बढ़े और साथ ही साथ बीजरहित भी हों। उत्तेजनिक

पार्थिनोकार्पी के भागों में हॉरमोन के प्रयोग से फलों को बीजरहित बनाने का कार्य आजकल विशेष ध्यान प्राप्त कर रहा है और उद्यान-विज्ञान (Horticulture) में अनुसंधान एक बहुत ही महत्वपूर्ण विषय है।

4. जेनेटिक संघटन को छेड़ना (Disturbing the genetic Consitution)—जिन फलों को बीजरहित बनाने का कार्य हॉरमोन द्वारा नहीं हो सकता उन्हें अनेक जेनेटिक प्रकृति को बदल कर ट्रीप्लाएड (Triploid) बना देना, बीजरहित बनाने का एक दूसरा साधन है। क्योंकि ट्रीप्लाएड पौधों के बीज पदार्थ (Germ Cells) इतने टेढ़े-मेढ़े रहते हैं कि उनमें बीज पैदा होने की संभावना ही नहीं रहती। एक बार जब एक ट्रीप्लाएड मिल जाता है तो वानस्पतिक उपायों से उसकी उत्पत्ति करके सफलतापूर्वक बढ़ा सकते हैं। ट्रीप्लाएडी कोल्चिसीन (Colchicine) तथा क्ष—रश्मि (X-ray) का प्रयोग करने से भी होती है।

कभी-कभी वृक्षों में कुछ कारण वश उत्परिवर्तन (Mutation) हो जाने के कारण भी फल बीजरहित हो जाते हैं।

फलों को बीजरहित बनाने के विभिन्न प्रकार के ढंगों को दिए हुए रेखा-चित्र द्वारा भी भली-भांति समझ सकता जा रहा है—

पार्थिनोकार्पी और बीजहीनता में अंतर तथा संबंध

पार्थिनोकार्पी उस क्रिया को कहते हैं जिसमें फल बिना गर्भाधान का उत्तेजन पाए या कभी-कभी सेचन का उत्तेजन पाए बिना ही पौढ़ावस्था पर पहुंच जाते हैं। ऐसे फल प्रायः बीजरहित होते हैं, पर यह आवश्यक नहीं है कि सर्वदा वे बीजरहित ही हों। क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि सेचन का उत्तेजन मिले बिना ही फल बढ़ गए हों और उनमें साधारण तथा स्वस्थ बीज, जिनके अंकुरण की शक्ति भी पूरी-पूरी बनी रहती है, पार्थिनोजेनेसिस (Parthenogenesis) द्वारा उत्पन्न हो गए हों। ऐसे फल पार्थिनोकापिंक तथा पार्थिनोजेनेटिक साथ ही साथ कहलाते हैं। पार्थिनोजेनेसिस की क्रिया स्ट्रोबेरी (Strawberry) की कुछ किस्मों में साधारणतः पाई जाती है। बहुत से पार्थिनोकार्पिक फलों के भीतर कुछ ऐसे बीज भी रहते हैं जिनका या तो गर्भपात हो गया हो या कम बढ़े हुए हों। ऐसा भी पाया गया है कि बीज ऊपर से देखने में स्वस्थ तथा साधारण प्रतीत होते हैं पर उनमें अंकुरण की शक्ति कदापि नहीं रहती।

फलों की बीजहीनता पार्थिनोकार्पी से पृथक है क्योंकि फल ऐसी अवस्था में भी बीजरहित हो सकते हैं जब कि स्त्रीलिंग चक्र का गर्भाधान हो चुका हो

फलों में बीजहीनता (Seedlessness in fruits)
स्टीनॉसपर्मोकार्पी (Stenospermocarpy)
पार्थिनोकार्पी (Parthenocarpy)
वानस्पतिक या स्वात्विक (Vegetatine)
उत्तेजनिक (Stimulative)
ऑब्लीगेट (Obligate)
फेकल्टेटिव (Facultative)
यांत्रिक ढंग
(Mechanical means)
बनावटी सेचन
(Artificial pollination)
हॉरमोन का प्रयोग
(Hormone treatment)
जेनेटिक संघन को छेड़ना
(Disturbing the genetic constitution)
कच्चा पराग
(Immature Pollen)
अधिक पका पराग
(Over mature Pollen)
बेमेल का पराग
(Incompatible Pollen)
पानी के घोल के साथ फव्वारे
का छिड़काव (Water solution spray)
लेनोलिन मलहम
(Lanolin paste)
बधिया
(Castration)
भीतरी मार या कुचलाव
(Contusion)
पिन से कोंचना
(Pin pricks)
गर्भनाल मुंड को उत्तेजित करना
(Irritation of stigma)
ट्रीप्लाएड गैमेट पैदा करना (Production of tripliod gaments)
उत्परिवर्तन (Mutation)
प्राकृतिक (Natural)
क्ष-रश्मि (X-ray)
कोल्चिसीन (Colchicine)

और उसके पश्चात् भ्रूण का गर्भपात हो गया हो जिसके कारण फल बीजरहित हो गए हों।

इस प्रकार हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुंचते हैं—

(1) पार्थिनोकार्पी द्वारा उत्पन्न हुए फल सदैव बीजरहित नहीं होते। इतना अवश्य है कि ऐसे फल प्रायः बीजरहित होते हैं।

(2) बीजरहित फल पार्थिनोकार्पी द्वारा उत्पन्न हो सकते हैं। पर यह आवश्यक नहीं है कि वे सदैव पार्थिनोकार्पिक ही हों।

बीजहीनता तथा पार्थिनोकार्पी के लाभ और हानियां

लाभ—कुछ ऐसे फल हैं जैसे अनार, यदि बीजों की कमी ही हो जाए तो भी बहुत अच्छी हो क्योंकि ऐसा हो जाने से उनको खाने में सुविधा तथा सरलता होगी।

यदि फल बीजरहित होने लगें तो फल उत्पाद बनने वाले कारखानों में समय की बहुत वचत को जाए क्योंकि लगभग सभी उत्पादों को बनाने में बीज निकालने की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार जो समय तथा मेहनत बीज निकालने में व्यय होते हैं उनकी बचत करके तथा उनको अन्य दूसरे कार्यों में लगाकर बहुत बड़ा और आर्थिक लाभ किया जा सकता है।

हाट में बीजरहित फल महंगे बेचे जा सकते हैं। यदि बीज वाले केले तथा अनन्नास के फल बाजार में आएं तो उनका दाम बहुत कम प्राप्त होगा क्योंकि खानेवाली जनता की रुचि इस प्रकार के फलों की ओर कम रहती है। बीजरहित अंगूर का भी महत्व इस दृष्टि से बहुत अधिक है क्योंकि उनको विशेष क़र सुखाने के कार्य में लाते हैं।

फल जब बीजरहित होते हैं जो बीज के उत्पन्न होने तथा बढ़ने में भूमि के लवण तथा खनिज पदार्थ पर्याप्त मात्रा में वृक्षों को जड़ों द्वारा व्यय हो जाते है। यदि यह बिना बीज के रहे तो वही खनिज पदार्थ तथा लवण बीजों के बढ़ने में न लगकर फलों के गूदे के गुणों को बढाने में व्यय हो सकते है और इस प्रकार के फलों के और अधिक पौष्टिक होने की संभावना रहती है।

यदि फलों की किस्मों की विशेषता बीजरहित होने की है तो वृक्षों में खाद इत्यादि की आवश्यकता उनती नहीं पड़ेगी जितनी की बीजवाली किस्मों में पड़ती है।

यदि फल उगानेवाले के बाग में ऐसे फलों की किस्में लगी हैं जो पार्थिनोकार्पी द्वारा उत्पन्न होती हैं, तो किस्मों में सेल्फ़ या क्रास अनफ्रूटफुलनेस के होने से

जो असुविधाएं होती हैं उनका निवारण हो जाता है। और उगानेवाली की अपने फलों की उपज हर दशा में निश्चित रहती है, क्योंकि सेल्फ या क्रास अनफ्रूटफुलनेस, किस्मों के पराग-कण द्वारा गर्भाधान से संबंध रखता है। किंतु पार्थीनोकार्पिक फलों में गर्भाधान का कोई प्रश्न ही नहीं रहता, इस कारण उपज निश्चित रहती है। उदाहरणार्थ लुकाट के फल सवयं बांझ (Self sterile) होते हैं। इस कारण लुकाट के बाग में दो किस्मों का लगाना आवश्यक है ताकि एक किस्म का पराग दूसरे स्त्रीलिंग चक्र को प्राप्त हो सके। यदि इस फल में किसी प्रकार से पार्थिनोकार्पी लाई जा सके तो उद्यान-विज्ञान (Horticulture) की एक बहुत बड़ी समस्या का निवारण हो जाए।

यदि फल की किस्म में पार्थिनोकार्पी वानस्पतिक ढंग से होती है तो पराग की कमी, या पराग एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जानेवाले साधनों की कमी या असुविधाओं इत्यादि के होते हुए भी फलों की उपज में सफलता होने की पूरी-पूरी संभावना रहती है। क्योंकि इस प्रकार की पार्थिनोकार्पी में सेचन या किसी अन्य प्रकार की उत्तेजना की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

हानियां–बीज न रहने से फल अधिक नरम हो जाते हैं। जिसके कारण अधिक समय तक ठीक अवस्था में नहीं रखे जा सकते और शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

बीजरहित होने से आम तथा आड़ू, जैसे फलों का एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में दब कर नष्ट हो जाने की संभावना अधिक हो जाती है, क्योंकि फल ढीले वयन वाले हो जाते हैं। रसीले आमों में यदि बीज बिल्कुल न रहे या बहुत ही छोटा या पतला रहे तो ऐसे फलों का एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना कठिन ही नहीं बल्कि असंभव-सा हो जाता है।

ऐसे फलों को, जिनमें कि खानेवाला भाग केवल बीजों का ही होता है जैसे काजू, अखरोट, चिरौंजी, पिस्ता तथा बादाम इत्यादि, यदि बीजरहित हो जाएं तो बहुत बड़ी व्यापारिक हानि होगी। क्योंकि ऐसे फलों में केवल बीज ही व्यापारिक महत्त्व रखते हैं।

प्रायः बीजरहित फल उसी किस्म के बीजवाले फलों से डील में छोटे तथा भार में कम होते हैं। अनुसंधानकर्ताओं द्वारा ज्ञात हुआ है कि बीजरहित खजूर साधारण बीज वाले खजूरों से डील में आधा से लेकर तिहाई तक हो जाते हैं। इसी प्रकार ज्ञात हुआ है कि बीज वाले गूजबेरी का मध्य भार पांच ग्राम के लगभग होता है। पर बीजरहित गूजबेरी का मध्य भार केवल तीन ग्राम रह जाता है।

फल लगने से लेकर प्रौढ़ावस्था तक पहुंचने के बीच का समय बीजरहित फलों में अधिक हो जाता है। मनसॉन (Munson-1852) ने खीरे के गर्भनाल मुंड का कुकुरबिटेसी कुल के अन्य स्पेसीज के पराग से सेचन किया और इस प्रकार से जो बीजरहित खीरे मिले उनमें से कुछ को प्रौढ़ावस्था पर पहुंचने में साधारण बीजवाले खीरों से दो महीने अधिक लगे और शेष को भी कुछ न कुछ समय बीजवाले फलों से अधिक लगे।

जिन फलों की वानस्पतिक उत्पत्ति (Vegetative propagation) में कठिनाई होती है, जैसे कटहल इत्यादि, उनको बीजरहित बनाने में हानि होती है क्योंकि ऐसे फल केवल बीजों द्वारा ही सरलतापूर्वक उगाए जा सकते हैं।

जिन फलों की उत्पत्ति डंठल लगाने (Cutting) तथा अंटा बांधने (Goottee) से नहीं हो पाती और जिनमें ग्रैफ्टिंग (Grafting) करने या चश्मा बांधने (Budding) की आवश्यकता पड़ती है, उनको बीजरहित बना दिया जाए तों रूट-स्टाक (Root stock) उगाना लगभग असंभव-सा हो जाएगा और उस फल की उत्पत्ति आगे नहीं हो सकती इस प्रकार की हानि ऐसे फलों में अधिक होगी जिनमें कि उसी फल के रूट-स्टाक की आवश्यकता पड़ती है जैसे आम और आड़ू। लीची को बीजरहित बनाने में कोई हानि इस प्रकार की नहीं है क्योंकि इसकी उत्पत्ति अंटा बांध कर सरलतापूर्वक हो जाती है।

इस प्रकार फलों के बीजरहित होने में लाभ भी है और हानि भी है। फिर भी बीजहीन होना फलों का बहुत बड़ा गुण माना गया है।

बीजहीनता की हानियों का निवारण

यदि बीजहीनता की हानियों का निवारण करना चाहें तो उसके लिए केवल एक ही उपाय है और वह यह कि जिन फलों में बीज न रहने की आवश्यकता प्रतीत होती है और उनमें यदि बिना किसी हानि के बीजहीनता उत्पन्न कर सकते हैं, उन्हीं को केवल बीजरहित बनाने का प्रयत्न किया जाए। उदाहरणार्थ अनार की उत्पत्ति ठंडल से तथा लीची की अंटा बांध कर भली-भांति कर सकते हैं। इस कारण इनको बीजरहित बनाने में कोई हानि नहीं है क्योंकि इस प्रकार से उत्पादन करने में किसी रूट-स्टाक इत्यादि की आवश्यकता नहीं पड़ती।

जिन फलों के केवल बीज खाए जाते हैं उनको बीजरहित बनाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

जिन फलों की उत्पत्ति में रूट-स्टाक की आवश्यकता पड़ती है पर साथ

ही साथ उनमें बीजहीनता की भी आवश्यकता प्रतीत होती है जैसे लुकाट, अमरूद, मोटे तथा बड़े बीजवाले आम इत्यादि, उनमें कुछ ऐसे पदार्थ जैसे हॉरमोन इत्यादि का प्रयोग करके डंठल गाड़ कर तथा अंटा बांधकर उनको इस प्रकार सफल बना दें कि उनको फिर सरलतापूर्वक बढ़ा सकें तो कुछ बाधाओं का निवारण हो जाए।

यदि हॉरमोन इत्यादि का प्रयोग करने पर भी अंटा या डंठल द्वारा उत्पत्ति सफल नहीं होती तो अन्य किस्म के फल के रूट-स्टाक की खोज करके उनका स्टैंडर्डाइजेशन (Standardisation of root stock) किया जा सकता है। इस प्रकार से जिन फलों में केवल बीजू रूट-स्टाक का प्रयोग करने से अभी तक सफलता मिली है उनमें दूसरे फलों या किस्मों के रूट-स्टाक का प्रयोग करके फिर उदाहरणार्थ लुकाट की उत्पत्ति चश्मा बांध कर तथा ग्रैफ्टिंग द्वारा होती है जिसमें कि रूट-स्टाक उसी के बीज से तैयार करते हैं। अन्य देशों में बीही (Quince) का स्टाक प्रयोग करने से लुकाट की ग्रैफ्टिंग में सफलता प्राप्त हुई है पर उत्तर प्रदेश में श्री सी. पी. सिंह के अनुसार बीही का स्टाक बिल्कुल असफल रहा है। इसलिए लुकाट में किसी ऐसे स्टाक की खोज हो जिस पर सफलतापूर्वक ग्रैफ्टिंग की जा सके तो इसमें बीजहीनता उत्पन्न करने के लिए प्रयत्न किया जा सकता है।

यह उद्यान-विज्ञान के अन्य महत्वपूर्ण अनुसंधान के विषयों में से एक है।

17

पुराने साहित्य में अंतरिक्ष यात्रा*

शिवमोहनलाल निगम तथा *डॉ. यतेन्द्र पाल वार्ष्नी*

अंतरिक्ष यात्रा की धारणा, बिना ग्रहों की उपस्थिति की कल्पना किए, आना बहुत असंभव थी। यद्यपि बुध, शुक्र, मंगल, वृहस्पति तथा शनि आदि ग्रहों का पता विद्वानों को बहुत पहले से ही था परंतु इन्हें सदैव घूमने वाले नक्षत्रों का ही स्थान मिल पाया था। यही नहीं तत्कालीन दार्शनिकों ने इनके संबंध में विभिन्न मत भी दिए। इन सबमें पैथागोरस के अनुयाइयों का अनुमान वास्तव में सत्य था। उन्होंने पृथ्वी भी एक ग्रह है, की शिक्षा देना भी प्रारंभ कर दी थी। फिर भी इन विचारों को अमान्य ही समझा गया जबकि इनकी सत्यता के लिए कई तथ्य उपस्थित किए जा सकते थे। इसी कारण से प्राचीन काल में इस यात्रा की संभावनाओं पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

सूर्य तथा चंद्रमा के बड़े आकारों ने वहां की भौतिक स्थिति के विषय में कल्पना करने के लिए विद्वानों को उत्साहित किया और चंद्रमा भी पृथ्वी की तरह एक ग्रह है, का विचार लोगों में आया। यह विचार इसके पूर्व भी पैथागोरस के अनुयाइयों द्वारा रखा जा चुका था। चंद्रमा के विषय में कल्पनाओं की शृंखला टूटी नहीं बल्कि वहां सृष्टि भी रही होगी—का भी अनुमान उस समय किया गया। इधर साहित्यकारों को कल्पना करने के लिए आधार मिल गया। अतः उन्होंने इस विषय पर कई कहानियां लिख दीं।

सबसे पहली कल्पना सामोस के लुसायन की True History थी जिसमें नायक का जहाज एक जल स्तम्भ द्वारा चंद्रलोक पहुंच गया। इसी लेखक ने पुनः दूसरी पुस्तक में अपने नायक को उसके दो पर लगाकर चंद्रलोक पहुंचाने का प्रयत्न किया। इसके पश्चात् लगभग 1500 वर्षो तक साहित्य जगत् इस विषय में शांत

* विज्ञान, जनवरी 1959

रहा। आधुनिक काल आया जिसमें वैज्ञानिक यंत्रों द्वारा प्राप्त तथ्यों ने पृथ्वी को ब्रह्माण्ड का केंद्र मानने से इंकार कर दिया। यहीं से साहित्यिक कल्पनाओं का आधार बदल गया। प्राचीन काल के पर्यवेक्षण आंख द्वारा किए गए थे जिनकी अब कल्पना भी कठिन है। आज से करीबन 300 वर्ष पूर्व एक दूरदर्शक यंत्र की रचना गैलेलियो द्वारा हुई—और इससे उन्होंने चंद्रमा में स्थित पहाड़ियों तथा पर्वतों का भी पता लगाया। उनका यह प्रयास केवल चंद्रमा के लिए ही नहीं था वरन् उन्होंने अन्य ग्रहों के संबंध में भी कुछ तथ्यों का पता लगाया। जिस प्रकार पृथ्वी के चारों ओर चंद्रमा घूमता है उसी प्रकार बृहस्पति के चारों ओर चार बहुत छोटे छोटे उपग्रह घूम रहे हैं यह तथ्य भी उन्हीं के प्रयासों से प्राप्त है। पूर्व के ज्योतिषियों द्वारा इन ग्रहों की दूरियों की गणना भी हो चुकी थी परंतु इस यन्त्र द्वारा अंतरिक्ष की गहराइयों का सच्चा साक्षात्कार और भी सरल हो गया। यही थे वे तथ्य जिनका आधार लेकर साहित्यिक कल्पनाओं ने करवट बदली।

वैज्ञानिक आधार पर कल्पनाओं की रचना का प्रारंभ केपलर ने किया। केपलर उस समय के प्रमुख ज्योतिषी थे तथा उन्होंने आकाशीय पिण्डों की गति के नियमों का भी निर्धारण किया था। उस काल के लोगों का जादू पर अधिक विश्वास था और यही कारण था कि उन्होंने अपनी कल्पना Somnuim के नायक को कुछ जादुयी साधन द्वारा चंद्रलोक पहुंचाने की कोशिश की। जिसके कारण तत्कालीन विद्वान को जादू का सहारा लेना पड़ा था। इनका चंद्रलोक वर्णन दूर दर्शक यन्त्र द्वारा प्राप्त तथ्यों पर आधारित था तथा इन्होंने वहां पर वातावरण तथा सृष्टि की उपस्थिति को माना।

केपलर के इस प्रयास ने अन्य लेखकों को भी इस दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा दी। 4 वर्ष बाद ही विशेष गाडविन की कल्पना Man in the Moon साहित्य क्षेत्र में आई। इसमें इन्होंने कठिनाइयों का ध्यान न देते हुए अपने नायक को लट्ठों के बेड़े, जो गोकि प्रशिक्षित बत्तखों द्वारा खींचा गया था, पर ही बिठाकर चंद्रलोक पहुंचाने की कोशिश की। परंतु विशेष बात यह थी कि वहां पर भार के अदृश्य होने तथा पृथ्वी के अपेक्षा गुरुत्वाकर्षण कम होने की कल्पना दी। वह कल्पना महत्वपूर्ण इसलिए है कि गुरुत्वाकर्षण संबंधी वैज्ञानिक तथ्य इसके 50 वर्ष पश्चात् न्यूटन द्वारा ज्ञात किए गए थे। कुछ वर्षों बाद ही सन् 1640 ई. में विशेष विलकिन्स ने भी एक पुस्तक Discourse Concerning a New World लिखी जो कि कोरी साहित्यिक कल्पना न थी वरन् वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर वहां की भौतिक परिस्थितियों पर डाला गया प्रकाश था। इसके द्वारा उन्होंने

'उड़ने वाले रथ' की कल्पना वैज्ञानिकों के सामने रखी। इस प्रकार के लेखकों में सबसे सराहनीय साइरनो हैं जिन्होंने अपनी सन् 1656 ई. में प्रकाशित पुस्तक `Voyage to the Moon and Sun' के द्वारा 'राकेट' जैसे यन्त्र की संभावनाओं की ओर संकेत किया। इस प्रकार की तत्कालीन रचनाओं में फोन्टेनली की सन् 1686 ई. में प्रकाशित पुस्तक तथा सन् 1752 ई. में वाल्टायर की `Mirome as' आदि भी उल्लेखनीय हैं।

अंतरिक्ष यात्रा 19वीं शताब्दी के आरंभ से ही और भी कठिन दिखने लगी क्योंकि विज्ञान ने इस विषय पर काफी तथ्यों का पता लगा लिया था फिर भी इन पर विजय पाने के लिए विज्ञान शांत था। जहां गुब्बारे की खोज वायुमण्डल की यात्रा के विचार को सुदढ़ बनाती थी वहां यह भावना कि काफी ऊंचाई पर बिना किसी वाह्य सहायता के व्यक्ति का जीवन असंभव हैं, हतोत्साह कर देती थी। यह कहानी अब उतनी सरल न थी जितनी कि गाडविन तथा विलकिन्स के लिए हो चुकी थी। वैज्ञानिक एक क्षण के लिए रुका भी पर साहित्यकारों की कल्पनाओं को मुड़कर एक क्षण देखने के लिए भी समय न था। उन्हें गुरुत्व विपरीत कार्य कर ने वाले पदार्थ का स्वप्न दिखने लगा। 'इस बीच बर्ने ने `Earth to the Moon के नायक को किसी तोप द्वारा प्रक्षेप (Project) से ही चंद्रलोक पहुंचाने की कोशिश की। वह चंद्रमा के पास चक्कर लगाकर पुनः पृथ्वी पर वापस आ गया। शायद यह इस यात्रा के प्रथम प्रयास के भविष्य का संकेत दे रहा हो। इसमें वर्ने ने अपने नायक पर पड़ने वाले दिखावटी (Apparent) हजारों टन के भार की सच्चाई को साधारण हंसी में टाल दिया क्योंकि यह उसकी कल्पना की सफलता के लिए आवश्यक था।

इससे भी अधिक आश्चर्यजनक कल्पना एच.जी. वेल्स ने की। पूर्व के लेखकों ने तो केवल गुरुत्व के विपरीत कार्य करने वाले पदार्थ का स्वप्न मात्र देखा था, पर इन्होंने Cavorite जो कि गुरुत्व के विपरीत कार्य करता था, की खोज कर डाली। अपने नायक को एक गोले, जिसके चारों ओर यह पदार्थ लगा था, के अंदर बिठाकर चंद्रलोक भेजा। वह जिस दिशा में जाना चाहता था उसी ओर की खिड़की खोल लेता था। आश्चर्यजनक विचार यह था कि गुरुत्व के विपरीत कार्य करने वाला पृथ्वी पर कैसे पाया जा सकेगा। हालांकि आश्चर्यपूर्ण कल्पनाएं सत्यता को स्थान नहीं देती फिर भी संकेत अवश्य देती हैं। गुरुत्व के विपरीत कार्य का विचार कोई असंभव विचार नहीं।

इन कल्पनाओं में भले ही सत्यता न रही हो परंतु वैज्ञानिकों के समक्ष समय

समय पर आवश्यक दृष्टिकोण अवश्य रखा जो आज भी वैज्ञानिकों को प्रेरणा दे रहे हैं। यही छोटी-छोटी रचनाएं हैं जिन्होंने वैज्ञानिकों की अंतरिक्ष की सत्यता का पता लगाने में रत रहने के लिए प्रोत्साहन दिया। आज भी वैज्ञानिक का इस दिशा में अथक प्रयास इन स्वप्नों की सच्चाई का रूप देने में कोई कमी नहीं रख रहा है और शायद वह समय दूर नहीं जब ये स्वप्न साधारण व्यक्ति की समझ में आ जाने वाली सत्यता का रूप धारण कर लें।

18

भारत में विमान-विद्या*

सुरेन्द्रनाथ गोयल

अंतरिक्ष यात्रा के क्षेत्र में रूस तथा पश्चिमी देशों में हुई तात्कालिक खोजों ने प्रगति के कुछ प्रकट तत्वों को सामने रख दिया है। हमारे शास्त्र-साहित्य के लिए यह कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। बहुत सी आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धियां हमारे प्राचीन लेखों में वर्णित भौतिक विज्ञान के विचारों में पाई जाती हैं। राजा भोज ने (11वीं शताब्दी के) अपने 'समरांगण सूत्रधार' के 31वें अध्याय में बताया है कि किस प्रकार वायुयान बनाना चाहिए, किस तरह ऐसा वायुयान इंजिन बिठाकर उड़ाना चाहिए और ऐसे इंजिनों में पारे का किस प्रकार प्रयोग किया जाए। तर्क-वितर्क द्वारा आधुनिक वैज्ञानिक जगत में बहुत कुछ स्पष्ट हो चुका है। हम अब जानते हैं कि बिना गर्मी की समता करने वाले पदार्थों के कोई भी वायुयान तेज तथा ऊंचा नहीं चल सकता। ऐसे धातु का आविष्कार होना है जो हल्के होने पर भी शक्तिशाली हों और तीव्र अग्नि में भी न जलें।

तेज से तेज जेट इंजिन या अन्य प्रकार के राकेट भी शून्य आकाश तक पहुंचने में समर्थ नहीं अतः इसमें भी आविष्कार की आवश्यकता है। सूर्य-किरण से निकाली हुई शक्ति ही खेटयान के लिए सर्वोत्तम है, यह अभी रूस से खबर आई है। ऐसे यान 20-20 हजार ही नहीं कई हजारों मील की गति से चंद्रलोक में नहीं, दूर-दूर के ग्रह-देश में जा सकेंगे। अब देख लीजिए कि जहां भारत इतना पीछे था अब सब के सब उसके सूक्ष्म ज्ञान की खोज में हैं जिसके बिना मनुष्य की सबसे बड़ी अभिलाषा खेटयान या लोक लोकांतर में देह सहित भ्रमण करना पूरी नहीं हो सकती। हमारे देश के साहित्य में व वेद शस्त्र में वायुयान व खेटयान के संबंध में बहुत कुछ लिखा है, विद्युत यंत्र इत्यादि के साथ-साथ और बहुतेरी

---

* विज्ञान, अक्टूबर 1959

गूढ़ बातें लिखी पड़ी हैं।

इससे यह विश्वास दृढ़ होता है कि भारतीय तथा विदेशी पुरातत्व वेताओं ने, जिन्होंने वैदिक साहित्य संबंधी प्राचीन लेखों का अध्ययन किया है और इसे साक्ष्य रूप में माना है, जो कुछ भारत के वैदिक पौराणिक गौरव के बारे लिखा है कुछ यथार्थता लिए हुए हैं। इसमें विश्वास करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि प्राचीन वैज्ञानिक विचार आधुनिक वैज्ञानिकों तथा जनता के व्यापार में असल रूप में सप्रमाण प्रकाशित हों, केवल तुलनाओं की सीमा में न रहें। इससे सिद्ध होता है कि वैदिक विज्ञान आधुनिक भौतिक विज्ञान के अद्भुत आविष्कारों में भाग ले सकता है। समय का ख्याल करते हुए हमको यह समझ लेना चाहिए कि आध्यात्मिक, ज्योतिष तथा आयुर्वेदिक के साथ साथ वैज्ञानिक विषय में जांच करना आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक है।

वास्तव में वेद और शास्त्र का तात्पर्य तो अध्यात्मिक मार्ग में मोक्ष तथा आनंद का मार्ग दिखाना ही है किंतु अब यह देश धीरे-धीरे भौतिक समृद्धि और वैज्ञानिक प्रगति में सक्रिय रूप से भाग ले रहे हैं। व्यापार, उद्योग और निर्यात जिन पर हमारी पंच-वर्षीय योजना का एक बड़ा भाग निर्भर है, आधुनिक विज्ञान के पूर्ण सहयोग के बिना अधिक उन्नति करने में सफल न होगा। अतः दो चीजें आवश्यक हुई। प्रथम तो यह कि मजदूर, सभी कर्मचारी आध्यात्मिक और आधिभौतिक तथ्यों को अपने जीवन में स्थान दें और जल, स्थल और दूसरों आकाश क्षेत्र में बढ़ने के लिए अपने वैज्ञानिक व शास्त्री दोनों आविष्कार विभागों में तत्वज्ञान की खोज करें। आजकल वह समय आ गया है कि मनुष्य 'आदर्शवाद' और 'चिह्न वाद' के स्थान पर अर्थ व भौतिकवाद को अपनाए और सत्यरूप से कर्मयोगी बनें। यह सौभाग्य की बात है कि वैदिक विज्ञान में निहित सिद्धांत शांतिमय समृद्धि की ओर ले जाते हैं। उनके सफलता प्राप्ति के साधन सभी विनाशक उपायों के विपरीत हैं। अतः आधुनिक विज्ञान और प्राचीन हिंदू विज्ञान के पारस्परिक संपर्क से दोहरा लाभ है जो यह एक इसी देश का न होकर सारे संसार का हो सकता है। पूर्व शताब्दियों में मिशनरियों द्वारा ले जाए गए भारतीय हस्तलेखों की टीकाओं द्वारा विदेशी वैज्ञानिकों ने भी इस 'दैवी खोज' का लाभ उक्त कहे ढंग के आधार पर खूब उठाया है।

वैज्ञानिक तत्त्वज्ञान की खोज सराहनीय है। इसका वास्तविक उद्देश्य वेद-पुराण-तंत्र इत्यादि की छिपी हुई सत्यता व वैज्ञानिक बातों की खोज करना है। कुछ हस्तलिखित पुस्तकें व श्लोक बनावटी तथा काल्पनिक भी सिद्ध हुए हैं, ऐसा भी हो सकता है, परंतु फिर भी खोजक प्रवृत्ति को बढ़ाना सब शास्त्रीगण

व पोथीखानों के लिए उचित है। इसके अतिरिक्त शांति, विश्वास और सहनशीलता का एक सुनिश्चित अंश उन खोज करने वालों में होना चाहिए जो इन सब विषयों की महान खोज पर पहुंचने में प्रयत्नशील हैं। ज्योतिष-विज्ञान, आयुर्वेद और विदेशी व भारतीय पुरातत्व वेत्ताओं के प्रमाण तो विश्व में प्रसिद्ध हो ही गए, इसमें संदेह नहीं। एक बात और कही गई है कि हस्तलिखित पाल-पत्तियों के आधार पर वायु, और थल मशीन बनाने की संभावना नहीं करनी चाहिए। ठीक, परंतु वैज्ञानिक महत्व का क्रांतिकारी विचार जो अत्यंत गूढ़ है, विभिन्न रूप से हमारी शास्त्र भाषा में निहित हैं जो आधुनिक विज्ञान को संकेत देने में अत्यंत उपयोगी हैं। इसका विश्वास किए बिना, खोज आरंभ या सफल न होगी। हमारे पास बाणभट्ट, भोज और आधुनिक तथा प्राचीन अनेक साहित्यिक प्रमाण तो हैं ही, अब मुख्य उद्देश्य यह है कि गम्भीर रूप से तत्वज्ञान के लिए ब्राह्मण, संहिता और तंत्र साहित्य में भी गहरी पहुंच होनी चाहिए। कुछ सूचियां प्राप्त हुई हैं जो विभिन्न साहित्य की प्रतीक हैं। शतपथ व जैमिनीय ब्राह्मण में सूर्य किरण वा विश्वोत्पत्ति संबंधी, व जैन शास्त्रों में अणु-संबंधी तत्वज्ञान है, उसका उपयोग करना है। ऐसे ही और भी शास्त्र हैं। भरद्वाज ऋषि का एक वैज्ञानिक प्रकरण दक्षिण में स्व. सुवराया शास्त्री द्वार प्राप्त हुआ था। इसके प्रथम 500 सूत्र एक वकील द्वारा 1916 में नकल किए गए थे। उसमें इस प्रकार की वैज्ञानिक बातें लिखी हैं जो उस समय सब की पहुंच से बाहर थीं। यहां तक कि अधिक उन्नतिशील पश्चिमी वैज्ञानिक भी उन्हें उस समय समझ नहीं सकते थे। उनमें से कुछ आविष्कार द्वितीय महायुद्ध के बाद ही प्रकाश में आए हैं। इन सूत्रों का भाषांतर करना एक कठिन कार्य है। चिन्हवाद और रहस्यवाद में आवृर्त्तित है। हमने अन्य भावुकों के विषय में भी सुना है जिन्होंने वैज्ञानिक ज्ञान के गूढ़ तत्व की व्याख्या की है, जिनमें से अधिकांश तो छपे ही नहीं और न साधारण खोज से मिल ही पाते हैं। ऐसे महान रत्नों का अब यह भारत देश अपनी संस्कृति के आधार पर पूरा-पूरा आदर करेगा।

अतः स्नातक और सहायकों से सक्रिय सहायता के लिए प्रार्थना की जाती है कि वे अब स्वतंत्र देश की आर्थिक उन्नति के लिए, भौतिक के तत्व-विचार इस तरह से सूचित करें कि अंग्रेजी में व्यवहार करने वाले आधुनिक वैज्ञानिकों को उपयोगी रूप में प्राप्त हों। विमान शास्त्र तो एक बड़ी समस्या है। इसके संबंध में ज्ञान संग्रह करने में रुचि की आवश्यकता है। जब विदेशी राज था, तब तो गांवों-गुफाओं में जाकर मिश्नरी तरह-तरह के ग्रन्थ व ज्ञान विदेशों को पहुंचा गए। उन देशों के ऐसे गूढ़ तत्व ज्ञान से खेटयान, राकेट इत्यादि आविष्कारों

में चमत्कारी संकेत अवश्य मिला होगा। अब तो और भी खोज करनी है। परंतु भारत को कई सालों तक पीछे ही रहना पड़ेगा क्योंकि यहां तो छोटी मोटी मशीन भी विदेश से आती हैं या उनके नमूने पर ही बनती हैं। अद्भुत उन्नति की संभावना फिर भी है। वह तब ही हो सकती है जब लोह शास्त्र, रसशास्त्र, मणि ज्ञान इत्यादि जो भारतीय पोथीखानों की खान हैं, बाहर निकल कर प्रयोग में आएं। इन गूढ़ बातों के उपयोग के लिए यह आवश्यक है कि शास्त्री व मंत्री महापुरुष अब भारतीय वैज्ञानिकों के निकट पहुंच जाएं और उन्हें विश्वास दिलावें। उनके समझने में अवश्य समय लगेगा। ऐसे उपयोगी प्रयत्न के लिए गवर्नमेंट के पास व आविष्कार, उद्योग विभागों के पास रुपए की कमी नहीं। केवल विश्वास, साहस और प्रयत्न की आवश्यकता है। शास्त्री दूर से स्वयं न आ सकें तो पत्र व्यवहार से ही वैज्ञानिक विभागों का हाथ पकड़ें। पारस से सोना बनाने के लिए आजकल न किसी को रस-ज्ञान है न संभावना रही है। विज्ञान के लिए इतना आवश्यक है कि आविष्कार विभाग में पूरी पूरी जांच करवाई जाय। पहले तो ऐसी चीजें दिखाने में तंत्री लोगों को राज का भय रहता था परंतु देश की उन्नति के लिए अब जनता व गवर्नमेंट को भौतिक विज्ञान व तत्वज्ञान की पूरी-2 मांग है। इसमें संदेह नहीं, शिक्षा विभाग ने तो हाल ही में हस्तलिखित पाल-पत्ती इत्यादि की रक्षा के लिए एक नोट प्रकाशित करवा दिया और शास्त्री व पोथीखानों को ढाढ़स दिया है।

विमान विद्या के निर्देश

1. बाल्मीकि रामायण में पुष्पक विमान का वर्णन आया है—यस्य ततू पुष्पकं विमानं कामगं शुभम्। इत्यादि बाल्मीकि रा. अरण्य. 48/6

तस्य मध्ये भवनस्य संस्थितो महद् विमानं मणिरत्न चित्रितम्। इत्यादि

(वाल्मीकि रा. सुंदर. 8/1-2

इन वचनों में पुष्पक विमान का 'यामि विहायसम्' तथा 'दिवंगते वायुपथे प्रतिष्ठितं' इन शब्दों से आकाश में वायु मार्ग पर उड़ने का वर्णन और 'कृतं स्वयं साध्विति विश्वकर्म्मृणा' इस कथन से उसका विश्वकर्म्मा के द्वारा बनाया जाना प्रकट होता है। इसी प्रकार विमान की चर्चा राजा भोज के लिए 'समरांगण सूत्रधार' ग्रन्थ में भी हैं—

लघु दारुमयं महाविहंग दृढसुश्लिष्टनुं विधाय तस्य।
उदरे रसयन्त्रमादधीत ज्वलना—धारमधो स्य चाग्निचूर्णम्।। इत्यादि

(समरांगण। यन्त्रविधानाध्याय। 31/95-97)

मुद्रित पुस्तक में 'अग्निपूर्णम्' पाठ दिया है परंतु यह भी सम्मति है कि यह 'अग्निचूर्णम्' पाठ है, क्योंकि ज्वलनाधार रखने को कहा है सो क्या इसका उत्तर 'अग्निचूर्णम्' से नहीं मिलता है और अग्निचूर्णम् का वर्णन अस्त्रविद्याप्रकरण में शुक्रनीति में किया गया है। वह सूखी बैटरी ही ज्वलनाधार हो सकती है अतएव हमने 'अग्निचूर्णम्' पाठ रखा है। 'समरांगणसूत्रधार' ग्रन्थ ने पारे को गर्म करने के लिए 'अग्निचूर्ण' नाम से सूखी बैटरी का काम लिया है। आजकल के विमानों में सूखी बैटरी को विद्युत-चिंगारी से पैट्रोल बनाने के उपयोग में लिया जाता हैं।

2. अब लीजिए सिद्धांतशिरोमणेः गोलाध्यायः में मध्यगति-वासना का अनुभाग। इस भूलोक वातावरण के बारे में पश्चिम देशों में तो पृथ्वी की गति के संबंध में गैलिलीयो से पूर्व कुछ पता नहीं था, जब लोग कहा करते थे कि सूरज घूमता है और जमीन सीधी है। और वातावरण के संबंध में तो उनको अब जाकर कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ है परंतु सिर्फ इतना ही कि भू-वायु (जिसका मतलब है कि जहां कुछ भी है, जिसमें कि पंख वाले जहाजों का उपयोग हो सकता है और जिसमें अतिवेग की गतिवाले पदार्थ या राकेट सूक्ष्मांश (फ्रिक्शन) से गरम होकर पिघल भी सकते हैं।) भू-वायु 12 योजन पर्यन्त है। गोलाध्याय का विवरण देखिए—

भूवायुरावह इह प्रवहस्तदूर्ध्वः स्यादुद्धदस्थदनु संवहसंज्ञकश्च।
अन्यस्ततो पि सुबहः परिपूर्वकों स्माद्धाहृयः परावह इमे पवनाः प्रसिद्धाः।।1।।

भूवायु, आवाह, उसके ऊपर प्रवह, उसके ऊपर उद्वह, संवह, सुबह और परावह ये सात प्रकार के पवन प्रसिद्ध हैं।।1।।

भूमेर्वहिर्द्वादशयोजनानि भूवायुरत्राम्बुदविद्युदाद्यम्।
तदूर्ध्वगो यः प्रवहः स नित्यं प्रत्यग्गतिस्तस्य तु मध्यसंस्था।।2।।

पृथ्वी से 12 योजन पर्यन्त भूवायु उसमें मेघ और बिजली आदि हैं, उसके ऊपर प्रवाह नित्य पश्चिम की ओर मध्यगति से चलता है।।2।।

नक्षत्रकक्षाखचरैः समेतौ रस्मादतस्तेन समाहतो यम्।
भपंजरः खेचरचक्रयुक्तो भ्रमंत्यजस्र प्रवाहानिलेन।।3।।

यह भपंजर ग्रहसहित नक्षत्र कक्षा और खेचर चक्रयुक्त होकर प्रवह वायु द्वारा चालित होता हुआ निरंतर भ्रमण करता है।।3।।

3. (क) यदृच्छया प्रवृतानि भूतानि स्वेन वर्त्मना,
नियभ्यास्मिन्नयति यतद्यन्त्रमिति कीर्तितम्।।

(समरांगण सूत्रधार 31 वें अध्याय से)

(ख) स्वयं वाहक मेकं स्यात्सकृत्प्रेर्य तथापरम्।
अन्य दन्तरितं वायूं बाह्यभन्यत्वदूरतः।।
स्वयं वायूमिहोत्कृष्टं हीनं स्यादिरत्रयम्।
तेष्यु रशकन्ति दूरस्यं अलक्ष्यं निकटस्थितम्।।

(ग) एका स्वया गतिश्चित्रे न्या वाहकाश्रिता।
अरघट्टाश्रिते कीते दृश्यते द्वयमप्यदः।।

(घ) अलक्षता निर्वहत्य लघुत्वं अब्द हीनता।
शब्दे साध्ये तदाधिक्यं अशैथिल्य सगाढ़ता।।
वहनीषु रामस्तासु सौश्लिष्टयं चास्खलद्गतिः।
यथा मिष्टार्थ कारित्वम् लय तालानुगामिता।। इत्यादि

(ङ) यन्त्रणां घटना पोत्र्या, गुप्त्यर्थ नाज्ञतावंशात्।
तत्रहे तुरयं रोयो व्यक्ता नैते फलप्रदाः।।

अर्थ—यन्त्रों के बनाने की विधि के न लिखने का कारण अज्ञानता या छिपाना नहीं है। उसका कारण यह है कि पूरा लिखने पर भी फलप्रद नहीं होता अर्थात् पूरा विवरण देने पर भी कोई बनाने में समर्थ नहीं होता। व्यर्थ ग्रन्थ का कलेवर भी बढ़ जाता है। यन्त्रों की क्रिया सदा प्रत्यक्ष ही ठीक होती है। उसी ग्रन्थ में अन्यत्र एक बहुत आवश्यक बात लिख कर सब शंकाओं का समाधान कर दिया गया है—

उक्तानि अत्र बीजानि।

अर्थात् इस ग्रन्थ में बीज रूप से यन्त्रों का वर्णन कर दिया गया है। कुशल कलाकार इस संकेत से स्वयं यन्त्र बनाने में समर्थ हो सकते हैं।

विमान विद्या

4. न पर्वता न नद्यो वरन्त तो
रत्राचिध्यं परुतो यच्छेथेदु तत्।
उत द्यावापृथ्वी याथना परि
शुभं यातामनु रथा अवृत्सत।। (ऋ. 5/55/7)

अनेनो को मरुतो यामो स्तु
अनश्वश्चिद्यमजत्थरथीः।

अनवसो अनभिशू रजस्तूः
वि रोदसी पथ्या याति साधन्।। (ऋ. 3/66/7)

ते म आहुर्य आयुः उप द्युभिर्विर्भिमदे।
परों मर्या अरेपसः इमान् पश्यन्नि तिष्ठहि।। (ऋ. 5/53/3)

वयं इव मरुतः केनचित् यथा। (ऋ. 1/87/2)

आ विद्यून्भविभः मरुतः स्वकैः रथेमिः यात
ऋष्टिमादि्भरश्वपर्णैः। आ यर्षिष्ठया न इषा
वयः न पप्तत सुमायाः।। (ऋ. 1/88/1)

वयो न ये श्रेणीः पप्तुरोजसा
अन्तान् दिवो वृहतः सानूनस्परि।
अश्वास एषांभुभये यथा विदुः
स पर्वतस्य मभधूंरचुच्ययुः।। (ऋ. 5/59/7)

यत् अवतून् वि, अहानि वि, अन्तरिक्ष वि,
रजांसि वि अजथ, यथा नावः, दुर्गाणि वि,
मरुतो न रिष्यथ (ऋ. 5/55/2)

(ओजता) अपनी शक्ति से अंतरिक्ष को घेरते हों। यहां अंतरिक्ष को घेरना स्पष्ट लिखा है तथा—

आ अक्षणयावानों बहन्ति अंतरिक्षेण पततः।
(ऋ. 8/7/35)

आ यात मरुतो दिव आ अंतारेक्षात् अमात् उत।
(ऋ. 5/53/8)

"है मरुद्वीरो? आकाश से अपरिमित अंतरिक्ष से इधर आओ।"

यहां स्पष्ट ही कहा है कि अपरिमित अंतरिक्ष से यहां आए। अंतरिक्ष से जाने का अर्थ ही आकाशयान से आना है तथा—

श्येनानिव धुजतः अंतरिक्षे। **1/165/2।।**

'श्येन पक्षी के समान तुम अंतरिक्ष में भ्रमण करते हो।" श्येन पक्षी अंतरिक्ष में ऊपर उड़ता रहता है, वैसे ये वीर अंतरिक्ष में उड़ते हैं तथा–

ये वावृधन्त पार्थिवा ये उरौ अंतरिक्षे आ।
बृजने व नदीनां सधस्थे वा सहः दिवः।। (ऋ. 5/53/7)

(क) स तस्य मध्ये भवनस्य संस्थितो। महद्विमानं मणिरत्नचित्रितम्।।
प्रतप्तजाम्बूनदजालकृत्रिमं। ददर्श धीमान पवनात्मजः कपिः।।1।।
नवं प्रमेयं प्रतकारकृत्रिमं। कृतं स्वयं साध्विति विश्वकर्मणा।।
दिवंगते वायु पथे प्रतिष्ठितं। व्यराजतादित्यपथस्थ लक्ष्य तत्।।2।।
न तत्र किंचिन्नकृतं प्रयत्नतो। न तत्र किंचन्नि महार्थरत्नवत्।।
न ते विशेषा नियताः मुरेष्वपि। न तत्र किंचन्न महाविशेषवत्।।3।।
तपः समाधानपराक्रमार्जित। मनः समाधान विचार चारिणम्।।
अनेक संस्थानविशेषनिर्मितं। ततस्ततस्तुल्यविशेषनिर्मितम्।।4।।
मनः समाधाय तु शीघ्रमामिनं। दुरासदं मारुततुल्यगामिनम्।।
महात्मनां पुष्यकृतां महार्द्धिताः। यशस्यिनामग्रवयुदाभिवालयम्।।5।।
विशेषमालम्व्य विशेष सस्थितं। विचित्रकूटं। बहुकूटमंडितम्।।
मनोभिरामं शरदिन्दु निर्मलं। विचिंत्रकूटं शिखरे गिरेयथा।।6।।
वहन्ति यत्कुण्डलं शोभिनानना। महाशना व्योमचरा निशाचराः।।
विवृतविश्वस्त विशाल लोचना। महाजवा भूगणाः सहस्रशः।।7।।
(वाल्मीकि रामायण)

(स) आश्चर्य कुतूहलीच चण्डीपतिर्दण्डोपनतयचननिर्मितिन नभस्तलयायिना यंत्रयानेनानोयत क्वापि कावर्णः शैशुनागिर्नगरोमकण्ठे च कराठे किच कृते निस्त्रिंशेन।। **(हर्षचरित)**

(ग) ततश्च शिशुनागस्ततपुत्रश्च काकवर्णः। **(विष्णु पुराण 4/22/3)**

(घ) मन्त्रेशकाशगमनाणिमादिलाभः **(पातंजलि योगसूत्र)**

(ङ) शैलानामवरोहनीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णस्थांतरलीनतां विनहति स्कन्धोदयात्पादपाः।।
सन्तानैस्तमुभा वनष्टसलिला व्यक्ति भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्यभुवनं मत्पाश्वमानीयते।। **(शाकुन्तल 7/8)**

(च) रथ-रथ में वायु का जोड़ना–
"प्र वो वायु रथयुजं कृणुम्बम्" **(ऋ. 5/49/67)**

वायु को तुम अपने रथ में जुड़ने वाला बनाओ अर्थात् ऐसा प्रबंध करो कि जिससे वायु तुम्हारे रथ का संचालन करे।

(छ) **अनश्व रथ–**

अश्विनोरसनं रथमनश्वं वाजनीयतोः। तेनाहं भूरि चाकन

(ऋ. 9/720/703)

शक्तिशालियों को इधर-उधर ले जाने वाला रथ अनश्व (घोड़े आदि से रहित) हैं। उससे भी मैं बहुत चमकता हूं।

(ज) **त्रिचक्र रथ–**

त्रिवन्धेण त्रिवृत्रा रथेन त्रिचक्रेण सुवृत्ता यातमर्वाक्।
पिन्वतं गा जिन्वतभर्वतो नो वर्धयतमश्चिवना वीरभस्मे।।

(ऋ. 9/998/2)

हे विद्वान शिल्पी जनो! आप तीन प्रकार के बंधनों से युक्त, तीन प्रकार के आचरणों से युक्त, तीन घेरों वाले, उत्तम रचना वाले, तीन चक्रों वाले रथ से सज जाओ।

यन्त्राणामाकृतिस्तेन निर्णेतुं नैव शक्यते।
यथावद्वीजसंयोगः सौश्लिष्ट्यं श्लक्ष्णतापि च।।
अलक्षता निर्वहणं लघुत्वं शब्दहीनता।
शब्दे साध्ये तदधिक्यमशैफिल्यमगाटता। इत्यादि।

(समरांगण सूत्रधार 31/45-79)

विज्ञान व बिमान संबंधी प्रमाण और हस्तलेख

अगस्त्य संहिता	क्षीरी पट-कल्प	रूप-शक्ति प्रकरणमूअ (आंगिरास)
भारद्वाज संहिता	लंकावतार	सौदामिनि कला
जैमिनीय ब्राह्मण	लोह तंत्रम् (शैकटायन)	संसप्तकबध
शत्रपथ ब्राह्मण	लोहदीप	सत्मय दर्पण
तांड्य ब्राह्मण	लोह रत्नाकर	शक्ति सूत्रम् (अगस्त्य)
अगतत्व लहरी (अंश्वलायन)	लोहार्णाव	शुद्धि-विद्या कल्पम् (अश्वलायन)
आकाश शास्त्रं (भारद्वाज)	लोह शास्त्रम् (शकटायन)	तन्त्र कृष्णइयम्
अम्सु-ज्ञानं (अम्सुम तांत्रं)	लोह संग्रह (पिसारन)	वाल्मीकि गणितम् (वाल्मीकि)
अण्ड कौस्तुभ (पराशर)	मार्ग निबंध ग्रंथ	वैश्वानर तन्त्रम् (नारद)
अनुकरण शब्द शास्त्र (कंडिका)	मेघोत्पति प्रकरण	वायु तत्व प्रकरणाम् (शकटायन)

भूगर्भ शास्त्र (या खजिन शास्त्र)	मुकुर कल्प	विमान महात्म्य,
ब्रह्मपद	मुष कल्प	विमान लक्षणम्
दर्पण कल्प	नामार्थ कल्प (अत्रि)	विमान विद्या
धातु वादम् (अश्विनी कुमार)	नामार्थ कल्पद्रुम	विमान चन्द्रिका
धातु सर्वस्वम् (बौधायन)	निर्णय अधिकार	विष निर्णय अधिकार
घूम प्रकरणम्-(नारद)	औषधि कल्प (अत्रि)	व्योमयान तंत्र
गरुड़ यन्त्र	पट संस्कार रत्नाकर	व्योमयानर्क प्रकाश,
गौतमी तंत्र, घटोट्रच पद्म	प्रपंच सार	विश्वनाथ प्रकाश, संस्कार दर्पण
जीव सर्वस्वम् (जैमिनी)	परिभाषा चन्द्रिका	यंत्र सर्वस्वम्
करक प्रकरणम् (अति)	परिमील यन्त्र	यन्त्रिक (बाराह मिहिर)
कौमुदी (सोमनाथ)	प्रपंच लहरी (वशिष्ठ)	यंत्र कल्प
खेटयान प्रदीपका (चैक्रायनी)	परांकुश	यानबिन्दु, (वाचस्पति)
क्रिया सार	रहस्य लहरी	यन्त्रार्णाव
कुण्ड कल्प	रुक् हृदय (लल्ल)	यन्त्र शास्त्र अधिकार

हस्तलेखों में बिमान संबंधी अन्य उल्लेख

1. ऋग्वेद, चतुर्थमण्डल, 36 वॉ श्लोक, 4/36 श्लोक का 1-2 भन्त्र
2. ऋग्वेद 182/5, समुद्र तथा वायु को वाहक के रूप में कहा गया है।
3. यजुर्वेद तथा अथर्ववेद। यजुर्वेद 6-21 में चन्द्र पृथ्वी तथा शून्य के मध्य वायुयान दृश्य तथा मुक्त रूप में संचालित होता है। वाजसनेय संहिता 17/59
4. ऋग्वेद के निम्न मन्त्री में भी विमानों के उल्लेख हैं।

1/116/3,4,5, 1/117/14,15 6/62/6, 1/25/7, 1/112/12, 10/120/10, 10/39/12, 1/20/3, 1/39/12, 1/34/2, 1/92/28, 1/218/1-2,4, 1/129/4, 1/157/3, 5/77/3, 5/85/29, 1/34/12 तथा 1/47/2

ऋग्वेद संहिता

1/8/8/3, 1/8/8,9,5,1, 1/3/4/2, 1/3/5/1, 1/2/34/3, 1/9/9/4 तथा 2/3/23/1-2

दिमाग का काम करने वाली मशीनें*

प्रोफेसर के. चन्द्रशेखरन्

क्या मशीनें सोच सकती हैं? क्या ये कुछ सीख सकती हैं? क्या ये बुद्धि पूर्वक काम कर सकती हैं? क्या ये मनुष्य के दिमाग की बराबरी कर सकती हैं? ये प्रश्न दर्शन के विद्यार्थियों को सालों से परेशान करते आए हैं। आज इन प्रश्नों का उत्तर जानने के लिए हम भी उत्सुक हो रहे हैं, क्योंकि अब हम सुनते हैं कि ऐसी मशीनें बन गई हैं, जो गाना सुनाती हैं, कई भाषाओं में अनुवाद कर लेती हैं, चिट्ठी पत्री कर लेती हैं, आदमी के साथ खेल लेती हैं और इतना ही नहीं, गोली भर के निशाना भी साध लेती हैं। ये तेजी से काम करने वाली स्वचालित इलेक्ट्रोनिक मशीनें हैं। इन्हें देख के सोचना ही पड़ता है कि क्या मशीनें सोच भी सकती हैं?

आज से 20 साल पहले ब्रिटिश अर्थशास्त्री, श्री ए.एम. टूरिंग ने इस विषय पर विचार किया। उन्होंने इस प्रश्न को इस तरह बताया—"क्या मशीन भी आदमी की ही तरह सोच सकती है? उन्होंने जबान देने वाली एक मशीन बना डाली। यह इलेक्ट्रोनिक से चलती थी। एक आदमी दूरमुद्रक (टेलीप्रिन्टर) द्वारा मशीन को संवाद भेजता था और वह उसी से उसको जवाब दे देती थी। यह खेल बड़ा मनोरंजक था। कुछ सवाल और जवाब देखिए—

प्रश्न—21 और 23 को जोड़ो?

उत्तर—(एक सेकंड से भी कम में) 44

प्रश्न—123456 को इसी संख्या से गुणा करो?

उत्तर—(एक मिनट या इससे कुछ अधिक में) 15 129 12 12 12 (गलत)

प्रश्न—एक कविता बनाओ?

---

* विज्ञान, मार्च 1959

उत्तर—आप जानते हैं, मैं यह नहीं बना सकती, कुछ और पूछिए।

प्रश्न—आपको क्या खाना पसंद है?

उत्तर—मछली और कतले (चिप्स)

यदि आदमी ठीक तरह से सवाल न पूछ सके या पूछने में काफी समय ले या दूरमुद्रक में कोई गड़बड़ी आ जाए तो मशीन ठीक जवाब न दे पाएगी। पर अब प्रश्न यह है कि क्या ऐसी भी मशीन बनाई जा सकती है, जो ठीक-ठीक जवाब देती हो?

इलेक्ट्रोनिक कम्प्यूटर (गणित यंत्र)

अब इलेक्ट्रोनिक कम्प्यूटर नामक इस मशीन पर विचार किया जाए। इसकी तुलना मनुष्य के मस्तिष्क से की जा सकती है। इसके तीन भाग होते हैं—संचय, संचालक और नियंत्रक। संचय में सूचनाओं का भंडार रहता है। इसमें भी तीन भाग होते हैं। एक भाग उस कागज के समान होता है, जिस पर मनुष्य लिखता और रखता है। दूसरा भाग उस प्रणाली के समान है, जिसके अनुसार मनुष्य हिसाब लगाने का काम करता है। इसी तरह मशीन का संचालक भाग भी जोड़ने घटाने, गुणा करने और भाग देने के सभी कार्य (जैसा कि उसे बताया गया हो) करता रहता है। नियंत्रक भाग बताता है कि मशीन ठीक चल रही है और सही जवाब दे रही है।

यह मशीन केवल संख्याओं में काम करती है। इसमें आंकड़े लगा दिए जाते हैं। ये कागज में छोटे-छोटे छेद करके बनाए जाते हैं और वह उपर्युक्त तरीके से अंको में ही जवाब दे देती है, जिसे बाद में दूरमुद्रक यंत्र शब्दों का रूप दे देता है।

मशीन से काम लेना

इलेक्ट्रोनिक कम्प्यूटर अकेले कुछ नहीं कर सकता, उसे आंकड़े देने पड़ते हैं और उससे एक विशेष तरीके से काम लेना पड़ता है। इस काम लेने को यांत्रिक भाषा में 'प्रोग्रामिंग' कहते हैं। इसे केवल आदमी ही कर सकता है। जहां एक बार मशीन को प्रोग्राम मिला, वह कितना ही बड़ा और परिश्रम का काम क्यों न हो, मशीन इसे मिनटों में कर डालेगी, पर उसका संचय विभाग पर्याप्त रहना चाहिए। बिना मनुष्य की सहायता के प्रोग्राम लेने वाली मशीन अभी नहीं बनी है। इसके लिए नए ढंग से सोचना होगा और नए उपकरण ईजाद करने होंगे। इसकी सफलता भविष्य पर निर्भर है।

यांत्रिक प्रज्ञा

यदि किसी मशीन को प्रौढ़ व्यक्ति के दिमाग की तरह काम करना हो तो पहले ऐसी मशीन बनानी होगी, जो बच्चे के दिमाग की तरह काम करे और जैसे बच्चे का दिमाग बढ़कर प्रौढ़ होता है, उसी प्रकार नए पुरजे जोड़कर इसे भी प्रौढ़ करना होगा। कुछ काम तो वह आदमी से अच्छा करेगी-जैसे किसी पाठ को याद करना। फिर भी वह मशीन आदमी के दिमाग की बराबरी कर सकेगी यह कहना कठिन है। क्योंकि मशीन को जैसा प्रोग्राम मिलेगा, वह वैसा काम करेगी, पर आदमी तो अपनी शिक्षा, दीक्षा, अध्ययन, स्मृति और संस्कारों के आधार पर काम करता है। मशीन के पास ये सब नहीं हो सकते। वैसे भी हर आदमी की बुद्धि में फरक होता है, क्योंकि कहा है—'मुन्डे मुन्डे मतिर्मिन्ना'। इसी तरह मशीन से अलग-अलग जवाब नहीं मिल सकता। वह वही जवाब देगी, जिसका उसके पास संचय होगा।

हम कह सकते हैं कि यांत्रिक प्रज्ञा व्यवहारिक प्रज्ञा की बराबरी नहीं कर पाएगी, क्योंकि यह मशीन गणित के सिद्धांतों के अनुसार बनती है और इसे प्रोग्राम देना कुशल गणितज्ञों का काम है। यह प्रश्न का उत्तर दे सकती हैं, पर एक उत्तर का दूसरे से संबंध नहीं जोड़ सकती। यह नया विचार नहीं दे सकती है। इसमें कितने ही शक्तिशाली इलेक्ट्रोन क्यों न लगे हों, उत्तर गलत होने की संभावना बनी रहती है और कभी-कभी मशीन जवाब ही नहीं देती। मनुष्य की प्रज्ञा पर सबसे अधिक प्रभाव पुरानी याद का पड़ता है, जिसका मशीन के पास अभाव है।

अद्भुत शक्ति

इतना होने के बावजूद इलेक्ट्रोनिक कम्प्यूटर की कार्यक्षमता मनुष्य की शक्ति से कई गुना अधिक है। यह आदमी से कई लाख गुना अधिक तेजी से काम करती है, और लाखों और करोड़ों तरह के हिसाब, जिसे एक कर्मचारियों का पूरा जत्था जीवन भर न लगा पाता, मिनटों में कर डालती है। मौसम की भविष्यवाणी करने, हवाई मार्ग को नियंत्रित करने और नए तरह के विमानों और राकेटों की डिजाइन में यह मशीन अद्वितीय होगी। हमारे कार्यों-व्यापार और उद्योग में यह क्रांति ला सकती है। इसने स्वचालित यंत्र युग का श्रीगणेश कर दिया है।

स्वचालित यन्त्र युग

औद्योगिक क्रांति के बाद मनुष्य के हाथों का काम मशीनें करने लगीं। अब इसी

तरह मनुष्य के दिमाग का काम भी मशीनें करने लगेंगी। यह विचार एक अमेरिकन गणित श्री नौवर्ट वीनर ने प्रकट किया है। इन मशीनों के आने से आदमियों को काम देने की नई समस्याएं उठ खड़ी होंगी। आदमी की जगह मशीनें लेने लगेंगी। इससे बेकारी बढ़ेगी। इसलिए यह काम धीरे-धीरे करना होगा अर्थात् आदमी और मशीन में मेल मिलाना होगा और इसे करने में समय लगेगा।

इस मशीन की तुलना मनुष्य के दिमाग से की जा सकती है। जिस प्रकार दिमाग का नियंत्रण संवाहिकाओं (नर्व या रगें) द्वारा होता है, उसी तरह मशीन का नियंत्रण विद्युत प्रवाहिकाओं द्वारा किया जाता है। फिर भी मशीन दिमाग की बराबरी नहीं कर सकती, क्योंकि मस्तिष्क या दिमाग की जो बनावट है, वह मशीन से कई लाख गुना जटिल या पेचीदा है। मस्तिष्क या दिमाग प्रणाली की संवाहिका नाड़ियों का वजन कठिनाई से एक पौंड होता है। पर मशीनों में इतने तारों का जाल बिछाने से वह पचासों मन भारी हो जाएगी। मस्तिष्क में प्रवाहिकाओं से जो खून जाकर वापस आता है, उसकी गर्मी बहुत थोड़ी ही बढ़ती है, पर मशीन सौ किलोवाट बिजली पचा जाती है, और गर्म हो जाती है। हो सकता है, इसका कारण हमारे ज्ञान की कमी हो, पर मशीन का अध्ययन करते-करते एक दिन हम मस्तिष्क की क्रिया को भी समझ लेंगे।

कृषि-रसायन : एक झांकी*

डॉ. शिवगोपाल मिश्र

सभ्यता के आदिकाल से कृषि कर्म होता आया है और अनेक ऐसे सिद्धांत एवं कारण ढूंढ निकाले गए हैं जिनके द्वारा अधिकाधिक उपयोगी अन्नों का उत्पादन होता रहा है। संभवतः मानव जीवन की सबसे महत्वूपर्ण घटना कृषि है। उसके न करने पर संपूर्ण विश्व क्षुधा की अग्नि से स्वयमेव भस्म हो सकता है।

प्राचीन इतिहास के पृष्ठों में कृषि का बड़ा ही मनोहारी उल्लेख मिलता है। रोम में ईसा की तीसरी शती से ईसा की प्रथम शती तक पांच प्रसिद्ध कृषि-वैज्ञानिक, कैटो, वैरो, वर्जिल, कालुमेला तथा लिप्नी हुए जिन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं जो यूरोप के विभिन्न देशों में सोलहवीं शती तक अनूदित हो-होकर कृषि क्षेत्र में पथ-प्रदर्शन करती रहीं। भारत में कृषि का विकास ईसा की कई शताब्दियों पूर्व से हर्ष के काल तक होता रहा। फिर मुगलकाल में उसे वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की गई। प्राचीन कृतियों में पराशर मुनि द्वारा रचित कृषि-पाराशर हमारे देश का प्रमुख कृषि-ग्रन्थ है। किंतु अन्य पाश्चात्य देशों की ही भांति भारत में भी वास्तविक वैज्ञानिक कृषि का विकास नहीं हो पाया था। जिस प्रकार देश-विदेशों के कीमियगार लोहे को सोने में परिवर्तित करने के प्रयासों में शतियों उलझे रहे उसी प्रकार कृषि-क्षेत्र में भी विचारकों का अधिकांश ध्यान भूमि उर्वरता के लिए विभिन्न खादों के प्रयोग तक ही सीमित रहा। किंतु दोनों ही श्रेणियों के वैज्ञानिकों को 'रसायन-शास्त्र' के माध्यम से सफलता मिली।

कृषि, जिसका विस्तार अनंत है, सर्वप्रथम रासायनिक दृष्टिकोण से कृषि-विज्ञान के रूप में पल्लवित हुई। आज तो कृषि-विज्ञान की अनेक प्रशाखाएं हो गई हैं और कृषि-रसायन अंगमात्र बन गया है। किंतु फिर भी वह अत्यंत

* विज्ञान, जनवरी 1960

महत्वपूर्ण अंग के रूप में प्रतिष्ठित एवं मान्य है। रसायनवेत्ताओं के ही अथक प्रयासों से कृषि में उर्वरकों को प्राथमिकता प्राप्त हुई है और विश्व में उर्वरकों से स्रोतों की खोजें हुई हैं। आज विश्व के अग्रणी राष्ट्र इन्हीं उर्वरकों का उत्पादन करना गौरव की बात समझते हैं। रसायन शास्त्रियों ने ही सूक्ष्म तत्वों की महत्ता को कृषि-पद्धति में स्वीकृत दिलाई उन्होंने ही फार्म पर पैदा होने वाली कृषि सामग्रियों के उचित उपयोग के लिए 'फार्म केमजी' या 'फार्म-विज्ञान' की नींव डाली। भूमि-सुधार के कार्य में भी वे अग्रणी रहे हैं और जीव-रसायन शास्त्रियों ने तो मानों कृषि को नई दिशा ही प्रदान की हो। अब संपूर्ण विश्व में विज्ञान के नवीन खोजों को कृषि में सर्वप्रथम प्रयुक्त करने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार जहां पहली रसायन शास्त्र ही कृषि का पोषण करता, अब विज्ञान के सभी अंग उसे लाभ पहुंचाने लगे हैं। कृषि में 'परमाणु शक्ति' का प्रयोग प्रायः इसी दिशा में प्रथम एवं सफल प्रयास कहा जा सकता है। सारांश यह कि कृषि शास्त्र का अध्ययन अत्यंत विस्तृत हो चुका है।

कृषि-रसायन का प्रारंभ **बेकन** (1561-1626 ई.) के सूक्ष्म निरीक्षण एवं तथ्यों विवेचन पर जोर देने की प्रक्रिया से होता है। सन् 1656 के लगभग दो विचार धाराएं थीं (1) नवीन कृषि का विकास तथा (2) पौधों के भोजन में व्यवस्थित खोज। ये दोनों धाराएं सन् 1840 तक पृथक-पृथक बहती रहीं। **लीबिग** ने अंततः वैज्ञानिक कृषि की नींव डाली।

नवीन कृषि के अंतर्गत पाश्चात्य देशों में पर्ती-प्रथा का अंत करके तिसाली खेती में हरी फसलों को स्थान दिया गया। **पैलिसी** ने 1563 ई. में एक महत्वपूर्ण सिद्धांत—'लवण सिद्धांत' की स्थापना की जिसके अनुसार फसलें मिट्टी से लवण ग्रहीत करती हैं और डंठलों को मिट्ट में जोत देने से 'लवण' की पुनर्स्थापना होती है। इसके विपरीत फ्रांसिस बेकन का विश्वास था कि पानी ही पौधों का प्रमुख खाद्य पदार्थ है। मिट्टी तो उन्हें शीत या ताप से बचाती भर है। **वान हेलमाण्ट** (1577-1644 ई.) ने भी पानी को पौधों का एकमात्र खाद्यपदार्थ स्वीकृत किया। इसके कुछ वर्षों बाद **ग्लाबर** ने एक नवीन सिद्धांत निकाला जिसके अनुसार 'शोरा' ही वनस्पतियों के लिए आवश्यक तत्व था। उसने तर्क प्रस्तुत किया कि यह शोरा पशुओं के मल तथा मूत्र में पाया जाता है अतः यह पौधों में अवश्य वर्तमान रहा होगा क्योंकि पशु चारे पर निर्भर रहते हैं। उसने घोषणा की कि शोरा के प्रयोग से अन्नोत्पादन में वृद्धि आती है। सन् 1699 में **जान वुडवर्ड** ने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया कि तरकारियां पानी से नहीं वरन् पृथ्वीं से उत्पन्न हैं। सन्

1755 ई. में इंगलैंड में स्थापित 'एडिनबरा सोसाइटी' ने फ्रांसिस होम को इस हेतु नियुक्त किया कि वह यह देखें कि रसायन शास्त्र के माध्यम से कृषि सिद्धांत कहां तक प्रतिपादित होते हैं। सचमुच कृषि-रसायन की यह प्रथम नींव थी। अपने अन्वेषणों से होम ने उर्वर मिट्टियों में 'तैल' की कल्पना की ओर पौधों के लिए छः उपयोगी कारण बताए—वायु, जल, पृथ्वी, लवण, तैल तथा अग्नि। सन् 1761 में स्वीडेन के प्राध्यापक **वैलेरियस** ने पौधों का रासायनिक विश्लेषण किया और इस विष्कर्ष पर पहुंचा कि पौधों का खाद्य स्रोत 'ह्यूमस' है। इसके पश्चात् पौधों में 'क्षार' की उपस्थिति सर्वमान्य हुई। इसके निराकरण के लिए सन् 1804 ई. में जेनेवा के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक **थेयोडोर सासरे** ने यह सिद्ध किया कि ह्यूमस में भी वही क्षार होते हैं जो पौधों में वर्तमान हैं परंतु प्राप्त राख का भार मिट्टी तथा पौधे की उम्र पर निर्भर करता है।

सन् 1834 ई. में **जे.बी. बोसिंगाल्ट** ने, जो दक्षिणी अमेरिका का एक साहसिक पर्यटक था, अपने खेतों में प्रयोग प्रारंभ किए। उसने सर्वप्रथम वैज्ञानिक विधियों को क्षेत्रीय प्रयोगों में व्यवृहत किया और महत्वपूर्ण परिणाम प्राप्त किए। परंतु इस शताब्दी की सबसे आश्चर्यजनक एवं क्रांतिकारी घटना थी जर्मनी के सुप्रसिद्ध कार्बनिक रसायनज्ञ लीबिग की घोषणा, जिसमें उसने बड़े ही मार्मिक शब्दों में समकालीन वनस्पति शास्त्रियों की अलोचना करते हुए 'ह्यूमस सिद्धांत' पर बज्रपात किया। उसने कहा, "रसायन शास्त्रियों के समस्त विवेचन निष्फल तथा वृथा हैं क्योंकि बड़े से बड़े वनस्पति शास्त्रियों को भी कार्बोनिक अम्ल, अमोनिया, अम्ल तथा क्षार शब्द लगते हैं जिनके कोई भाव न हों।" उसने दलील रखी कि पौधों के पास कार्बोनिक अम्ल का अक्षय भण्डार है किंतु यदि पौधों के उगते समय मिट्टी में ही वह उत्पन्न होती रहे तो समय की बचत होती है। ह्यूमस का वास्तविक कार्य है कार्बन डाइआक्साइड पैदा करना जो मिट्टी के अविलेय पदार्थों को विलेय करती है। अमोनिया के रूप में पौधे नाइट्रोजन ग्रहण करते हैं जो खादों से अथवा वायुमण्डल से ग्रहीत है। पृथ्वी को उर्वर रखने के लिए यह आवश्यक है कि नाइट्रोजन तथा अन्य खनिज पदार्थ जो पृथ्वी से अपहरित हो चुके हैं, खाद के रूप में मिट्टी में मिला दिए जाएं। यही "लीबिग का खनिज-सिद्धांत" है जिसके अनुसार खेतों की फसलों में वृद्धि या कमी खाद के रूप में डाले गए खनिजों की प्रचुरता या न्यूनता पर निर्भर है।

लीबिग की इस घोषणा से कृषि में उर्वरकों एवं खादों को अत्यधिक प्रश्रय मिला। परंतु इस घोषणा में कुछ त्रुटियां थीं जिनकी ओर लाज तथा गिलबर्ट ने

संकेत किए। सन् 1850 ई. में 'वे' महोदय ने खनिजों की विलेयता को आवश्यक बताया। बाद में 'नाप' ने जलीय प्रयोगों से यह निश्चित किया कि पौधों के जीवन के लिए नाइट्रोंजन, फासफोरस तथा पोटैशियम के अतिरिक्त कैलशियम, मैगनीशियम, लौह, गंधक, कार्बन, हाइड्रोजन तथा आक्सीजन की आवश्यकता होती है। फिर माजे, वारिंगटन, राउलिंन, सामर-लिपमान तथा आर्नन ने अनेक सूक्ष्म तत्वों को पौधों के उचित विकास के लिए आवश्यक बताया।

यह भली-भांति ज्ञात हो चुका है कि पौधों के लिए आवश्यक तत्व तीन स्रोतों से प्राप्त हैं। प्रथम वायुमण्डल से, द्वितीय जल तथा तृतीय मिट्टी से। पौधों का 60% प्रकाश संश्लेषण से निर्मित पदार्थ से बना होता है, 10% मिट्टी के तत्वों से निर्मित होता है। परंतु मिट्टी के तत्व बड़े ही प्रभावकारी होते हैं और उनमें तनिक भी अंतर आने पर उपज में भारी कमी आती है। यही कारण है कि वर्तमान काल में मिट्टी में वर्तमान तत्वों पर अत्यधिक बल दिया जाता है।

मिट्टी में तत्वों की परीक्षा के लिए रसायन शास्त्र की विश्लेषणात्मक पद्धति का अनुसरण किया जाता है। ऐसे विश्लेषणों से भूमि में वर्तमान समस्त तत्वों की मात्राएं ज्ञात की जाती हैं। फिर उपलब्ध तत्वों की जांच होती है। भूमि से पैदावार की प्राप्ति इन्हीं उपलब्ध तत्वों पर निर्भर करती है। उनकी अधिकता, न्यूनता अथवा उपलब्धि के फलस्वरूप फसलों में नाना प्रकार के रोग हो जाते हैं जिनसे अन्नोत्पादन में भारी कमी आ जाती है। बोरोन, मैंग्नीज, मालिब्डनम, लौह तथा ताम्र कुछ ऐसे ही तत्व हैं। इस तत्वों की पूर्ति के लिए या तो इनके खनिज या लवणों की अत्यल्प मात्रा अन्य उर्वरकों के साथ डाली जाती है अथवा घोल के रूप में पत्तियों में इनका छिड़काव किया जाता है।

कृषि-रसायन ने आवश्यक तत्वों की खोज के ही सिलसिले में उर्वरक-उद्योग को अत्यंत-प्रशस्त किया है। प्रायः सभी राष्ट्रों के पास संश्लिष्ट नाइट्रोजन निर्मित करने के बड़े-बड़े कारखाने हैं। हमारे देश में सिंदरी के अतिरिक्त अन्य कारखाने भी बन रहे हैं। फासफेट उर्वरकों के लिए चट्टानीय फासफेटों को प्रयुक्त किया जाता है। हड्डी के चूरे की ओर भी सबों की दृष्टि हुई है। इन उर्वरकों के उत्पादन से कृषि-रसायन उतना संबद्ध नहीं जितना उनके भूमि में डाले जाने की विधियों तथा मिट्टियों और फसलों में उनकी प्रतिक्रिया से संबद्ध है। कृषि-रसायन का यह प्रमुख कार्य है कि वह प्रति एकड़ में डाली जानी वाली उर्वरक-मात्रा का निश्चय करे, भूमि तथा जलवायु के अनुसार उर्वरक निर्धारित करे और अंततः विभिन्न उर्वरकों की उपयोगिता का परीक्षण करे। इसी संबंध में सूक्ष्म तत्वों को उर्वरकों

के रूप में डाले जाने की संभाव्यताओं पर भी खोज की जाती है।

भूमि-निर्माण या मिट्टियों के विकास की प्रक्रिया भी कृषि-रसायन का महत्वपूर्ण अंग है। इस दिशा में रूस, अमेरिका तथा इंग्लैंड में प्रचुर कार्य हुआ है। भारतीय मिट्टियों का वर्गीकरण इसी प्रकार की विकास-प्रक्रिया के अध्ययन द्वारा किया जा रहा है। भूमि-वर्गीकरण तथा मानचित्र निर्माण भी इसी दिशा के अंग हैं। भारत भर में अनेक भूमि-परीक्षण प्रयोग-शालायें स्थापित की गई हैं। जहां मिट्टियों की रासायनिक, भौतिक तथा जीव-रासायनिक परीक्षाएं की जाती हैं।

जीव-रसायन कृषि रसायन की ही एक शाखा है। मिट्टियों में नाइट्रेट का निर्माण विविध जैव-रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा संपन्न होता है। इन जैव-रासायनिक प्रक्रियाओं का अध्ययन विविध संवर्धांशों के माध्यम से किया जाता है। हरी फसलों में द्विदलीय फसलों की जड़ों में ग्रंथियां होती हैं जिनमें वायुमण्डल का नाइट्रोजन स्थिर होता रहता है। नाइट्रोजन स्थिरीकरण अन्य जीवाणुओं तथा एजोटोबैक्टर एवं पैस्टोरियम द्वारा भी स्वतः संपादित होता है। कृषि-रसायन में इस प्रकार की प्रक्रिया का अध्ययन होता है।

फसलों के रोगों तथा हानिकारक कीट-पतंगों को नष्ट करने के लिए कृषि-रसायन नवीन रासायनिक उपकरण प्रदान करता है। अनेक कीटमारक रासायनिक यौगिकों का निर्माण किया जा चुका है जिसके उपयोग से फसलों की रक्षा की जा सकती है। शस्यों के अनेक रोगों का पता लगा कर उनका रासायनिक उपचार किया जाने लगा है। हानिकारक घासों का विनास भी इसी प्रकार से किया जाता है।

कृषि-रसायन के द्वारा भूमि-संरक्षण एवं सुधार का अनुपम कार्य किया जाता है। ऊसरों के उर्वरीकरण में जिप्सम, गंधक तथा अन्य प्रकार के रासायनिक पदार्थों का प्रयोग होता है। भूमि-संरक्षण में ह्यूमस की वृद्धि के लिए नवीन साधन ढूंढें गए हैं। रेगिस्तानों एवं रेतीली मिट्टियों के सुधार तथा ऊसरों के लिए भी बहुसंश्लिष्ट प्रभावक (सिन्थेटिक पॉलीएलेक्ट्रोइलाइट या सॉइल कण्डीशनरों) की नवीन खोज की गई है। भूमि के कणों के परस्पर बद्ध रखने वाले और अनेक पदार्थ खोजे गए हैं।

कृषि से प्राप्त विभिन्न पदार्थ विशेषतया सेल्यूलोस, तेल अथवा स्टार्च का वृहद् मात्रा में निर्माण एवं उद्योगों में उनकी प्रयुक्ति के लिए 'फार्म केमर्जी' अथवा 'फार्म-रसायन' का विकास किया गया है।

कृषि रसायन की इसी महत्ता को ध्यान में रखकर हमारे देश में 1900 ई. के आसपास वैज्ञानिक कृषि का सूत्रपात हुआ। सर्व प्रथम जानवोयेल्कर, फिर लेदर तथा रायल कमीशन और अंत में अपनी राष्ट्रीय सरकार के सुझावों से कृषि प्रारंभ की गई। पहले पूसा (बिहार) में कृषि प्रायोगिक क्षेत्र की स्थापना की गई। बाद में भूचाल से प्रभावित होने पर दिल्ली स्थित पूसा में वही कार्य आगे बढ़ा। अब तो भारतीय कृषि अनुसंधान विद्यालय के रूप में वह अत्यंत विस्तृत हो चुका है और न केवल कृषि-रसायन वरन् कृषि-विज्ञान के अन्य अंगों पर उच्चस्तरीय अनुसंधान कार्य होता है।

21

काल की नाप*

सोहनलाल गुप्त

ज्योतिष आकाश में स्थित ज्योतिर्मय पिण्डों की स्थिति का ज्ञान कराता है। ग्रह (गतिशील पिण्डों) और नक्षत्रों (क्षरित होने वाले अर्थात् स्थिर तारों) की स्थिति काल के अनुसार बदलती रहती हैं। अतः ज्योतिषीय गणना काल पर आश्रित है।

काल नापने की इकाई मनुष्य ने अपनी जीवन-क्रिया से ली। स्वस्थ मनुष्य के एक बार सांस अंदर लेने और बाहर निकालने का समय 'प्राण' या 'असु' कहलाया जो चार नक्षत्र सेकंडों के बराबर होता है। दस गुरु अक्षरों के उच्चारण का समय भी एक असु है। छः असुओं का समय एक पल या विनाड़ी कहलाता है जो चौबीस नाक्षत्र सेकंडों के बराबर है। साठ पलों की एक घटिका, घटी या घड़ी होती है जो चौबीस नाक्षत्र मिनटों के बराबर है। एक गुरु अक्षर का उच्चारण-काल विपल है।

घटिका का घड़ी घट या घड़ा के लघुवाचक हैं अतः उनका अर्थ है छोटा जल का बरतन। समय की नाप के लिए पेंदे में छोटे छेद वाला ऐसा बरतन जल पर रखा जाता था जो अंदर पानी भरने के कारण भारी होकर साठ पलों में डूब जाता था। इसे घटिका यंत्र कहते थे। जल घड़ी से आधुनिक दोलन तथा कमानीदार घड़ियों का नामकरण हुआ है।

साठ घटिकाओं का एक नाक्षत्र अहोरात्र (Sidereal day) होता है क्योंकि इतने समय में कोई भी नक्षत्र आकाश मंडल का ठीक पूरा चक्कर लगा फिर अपने पहले ध्यान पर आ जाता है अतः

1 नक्षत्र दिन=60 घटी=360 पल=21600 असु=216000 विपल

पाश्चात्य घंटा (hour अवर) शब्द का मूल भारतीय होरा शब्द है जो अहोरात्र

* विज्ञान, अगस्त 1960

के मध्य अक्षरों से बना उसका लघु रूप है। होरा को लग्नार्ध भी कहते हैं। बारह राशियों की बारह लग्नें और चौबीस होरा होने से दिनरात में चौबीस घण्टे किए गए हैं।

एक सूर्योदय से अगले सूर्योदय तक का काल सावन दिन या कुदिन (Solar day) कहलाता है। संस्कृत के इस सावन शब्द का हिंदी के सावन शब्द से कोई संबंध नहीं। सावन मास श्रावण का बिगड़ा रूप है। श्रावण नाम इसलिए पड़ा है कि उस महीने में पूर्णिमा को चंद्रमा श्रवण नक्षत्र में पड़ता है। कु का अर्थ पृथ्वी है न कि बुरा। नाक्षत्र दिन पृथ्वी के अक्ष भ्रमण के कारण होता है पर सावन या कुदिन का कारण पृथ्वी का अक्ष भ्रमण और कक्षा भ्रमण दोनों ही हैं। अतः सावन दिन में जो नाक्षत्र दिन से अंतर पड़ता है वह पृथ्वी की कक्षागति या सूर्य की 'मंदगति' के कारण है। अतः कुदिन नाम सार्थक है। सावन दिन नाक्षत्र दिन से लगभग दस पल (चार मिनट) बड़ा होता है। यह अंतर उतना समय है जितना पृथ्वी की एक दिन की कक्षा गति को जो एक अंश है पृथ्वी अपनी अक्ष गति से पूरा करती है।

नाक्षत्र दिन का मान स्थिर है पर सावन दिन का नाम बराबर बदलता रहता है क्योंकि एक तो पृथ्वी की कक्षा वृत्तीय न होकर अंडाकार है जिससे उसकी कक्षागति सदैव बदलती रहती है; दूसरे पृथ्वी की धुरी उसके कक्षा तल पर लंब न होकर झुकी हुई है। सावन दिनों के वर्ष भर के मानों का मध्यमान लेते हैं जिसे मध्यम सावन-दिन (mean solar day) कहते हैं। नाक्षत्र काल में इसका मान 24 घंटा 3 मिनट 56.555 सेकंड है। घड़ियां इस मध्यम सावन दिन काल से मिलाई जाती हैं। सावन दिनों का मध्यम सावन दिन से कुछ अंतर होने के कारण घड़ियों में ठीक दोपहर को बारह नहीं बजते। अधिकतम अंतर सोलह मिनट का हो सकता है। ठीक मध्याह्न देने वाली धूप घड़ी (sun dial) या शंकु है जिसमें उस समय छाया ठीक उत्तर दक्षिण होती है। धूपघड़ी और मध्यम सावन दिन देने वाली घड़ियों के अंतर को काल समीकरण (Equation of time) कहते हैं। 1 सावन सेकंड 1.00274 नाक्षत्र सेकंड के बराबर होता है।

यदि घड़ी की चाल नक्षत्र दिन से मिलाई जाए तो वह प्रतिदिन चार मिनट तेज जाएगी और महीने भर के बाद दोपहर को दो बज जाएगी। ऐसी घड़ी जहाजों पर काम में लाई जाती है।

तीस सावन दिनों का एक सावन मास होता है और बारह सावन मासों का एक सावन वर्ष। इस प्रकार का सावन वर्ष में तीन सौ साठ सावन दिन या

अहर्गण होते हैं।

एक पूर्णिमा से अगली पूर्णिमा या अमावस्या से अगली अमावस्या का काल अर्थात सूर्य और चंद्रमा की दो युतियों के बीच का समय एक चांद्र मास (synodical या lunar month) कहलाता है। यह 29½ दिन के लगभग होता है। एक चान्द्र मास में तीस तिथियां मानी गई हैं। बारह चांद्र मासों का एक चांद्र वर्ष होता है। इसमें 354½ दिन के लगभग होते हैं। चांद वर्ष में 360 तिथियां होती हैं।

सूर्य के आकाश मंडल के पूरे चक्कर का काल सौर वर्ष कहलाता है और उसके बारहवें भाग अर्थात एक राशि को पार करने का काल सौर-मास कहलाता है। सूर्य का एक राशि से दूसरी राशि में प्रवेश संक्रांति कहलाता है। दो संक्रांतियों के बीच का काल सौर-मास है। सौर-मास बराबर नहीं होते क्योंकि सूर्य की गति प्रत्येक राशि में बदलती रहती है। सौर-वर्ष 365¼ दिन से कुछ बड़ा है। सौर वर्ष के शुद्ध मान विभिन्न सिद्धांतों के अनुसार इस प्रकार हैं :

सूर्य सिद्धांत 364 दिन 15 घटी 30 पल 31.4 विपल, आर्य सिद्धांत 365 दिन 15 घटी 31 पल 15 पिल, ब्रह्म सिद्धांत 365 दिन 15 घटी 30 पल 22.5 विपल।

पाश्चात्य सौर वर्ष ऋतुओं पर आधारित है। यह 365½ दिन से कुछ छोटा है। इसका मान 365.2422408 दिन है। इस काल में सूर्य बसंत संपात से चल कर फिर वहीं आ जाता है। बसंत संपात स्थिर न होकर उलटी गति से चलता है अतः सूर्य इस काल में आकाश मंडल का पूरा चक्कर नहीं लगा पाता।

चांद्रवर्ष ऋतुवर्ष से ग्यारह दिन के लगभग छोटा है। अतः उस पर आश्रित मुसलमानी त्यौहार प्रतिवर्ष ऋतु के अनुसार ग्यारह दिन पहले और तीन वर्ष बाद एक महीना पहले पड़ते हैं और तैंतीस वर्षों के बाद वे फिर उसी ऋतुं में आते हैं।

भारतीय सौरवर्ष ऋतुवर्ष से लगभग एक घटी बड़ा है। अतः भारतीय त्यौहार 72 वर्षों में ऋतु के एक दिन पीछे हो जाते हैं। वर्तमान में यह अंतर तेईस दिनों का है और पंचांगों में अंशों से प्रकट किया जाता है जिन्हें अयनांश कहते हैं।

भारतीय सौर वर्ष की गणना विक्रम तथा शक अब्दों (वर्षों) में होती है। विक्रम संवत शकारंभ से 135 वर्ष पहले का है। ऋतुओं से मेल बनाए रखने के लिए अब भारत के राष्ट्रीय वर्ष का परिमाण ऋतु वर्ष मान लिया गया है।

वर्ष से बड़े काल की गणना युग द्वारा की गई। युग का अर्थ जोड़ा है। अतः युग का आरंभ दो ग्रहों की युति या मेल से होगा और अंत भी उनके मेल से। वेदांग ज्योतिष में सूर्य और चंद्रमा की युतियों पर आश्रित पांच वर्षो का

युग लिया गया है। (............ वेदांग ज्योतिष श्लोक 5, ऋगवेदीय वेदांग ज्यो. श्लो. 32)

माघ शुक्ल्य प्रवृत्तस्य पौष कृष्ण समापिनः
युगस्य पंचवर्षस्य काल ज्ञानं प्रचक्षते।

पितामह सिद्धांत में भी पंचवर्षीय युग लिया गया है। उससे बड़ा युग साठ वर्ष का लिया गया जो बृहस्पति और शनि की एक राशि में दो युतियों के बीच का काल है। इस युग के साठ भाग किए गए और प्रत्येक भाग संवत्सर कहलाया। सभी सिद्धांतों के अनुसार मध्यम गति से बृहस्पति का एक राशि का भोग काल संवत्सर कहलाता है। इसका परिणाम 361 दिन 1 घड़ी 36 पल 11.75 विपल है।

सबसे बड़ा युग महायुग है। सूर्य और आर्य सिद्धांतों का महायुग वह काल है जिसमें सभी ग्रह चंद्रमा के पात और मन्दोच्च एक ही स्थान से एक साथ चलना आरंभ कर फिर उसी स्थान पर एक साथ मिलें। दूसरे शब्दों में महायुग वह छोटे से छोटा समय है जिसमें सभी ग्रहों तथा चंद्रमा के पात और मन्दोच्च के पूरे भगण या चक्कर हो। यह काल तैंतालीस लाख बीस हजार सौर वर्षों का है। ब्रह्म सिद्धांत में भी इतने काल को महायुग माना गया है पर इसमें ग्रहों आदि के पूरे भगण नहीं माने गए।

केवल सूर्य चंद्र पर आधारित सूर्य सिद्धांत में वर्णित युग महायुग का चौबीसवां भाग अर्थात् एक लाख अस्सी हजार वर्षो का है।

महायुग को चार भागों में बांटा गया है जिनके नाम क्रम से सत या कृतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग हैं। इनके परिणाम आर्य सिद्धांतानुसार बराबर है। अर्थात् प्रत्येक युग का परिणाम दस लाख अस्सी हजार सौर वर्ष है। पर सूर्य और ब्रह्म सिद्धांतों में इनके परिणाम क्रम से चार, तीन, दो और एक के अनुपात में है। अर्थात्

सतयुग=1728000 वर्ष, त्रेता=1296000 वर्ष
द्वापर=864000 वर्ष, कलियुग=432000 वर्ष

ग्रहों से संबंधित कुछ गतिशील बिंदु पात तथा मंदोच्च भी हैं जो उनकी भांति ही गति करते हैं पर मंद गति के कारण महायुग में उनका एक भी पूरा भागण या चक्कर नहीं हो पाता अतः एक और बड़े काल की कल्पना की गई, जिसे संभवतः कल्पना के कारण कल्प नाम मिला, जिसमें सभी गतिशील आकाशीय दृश्य पिंडों और अदृश्य बिंदुओं के पूरे-पूरे भगण सभी सिद्धांतों के अनुसार होते हैं।

आर्य सिद्धांत में कल्प का परिमाण 1008 महायुग या 435456000 वर्ष है क्योंकि उसके अनुसार 1 कल्प में चौदह मनु और एक मनु में बहत्तर महायुग होते हैं।

सूर्य और ब्रह्मसिद्धांतों के अनुसार इकहत्तर महायुगों का मनु या मन्वन्तर होता है। प्रत्येक मनु के आरंभ और अंत में सतयुग तुल्य (महायुग का दो पंचमाश) संधिकाल होता है जिसमें पृथ्वी जलमग्न रहती है। ऐसे पंद्रह संधि कालों सहित चौदह मन्वन्तरों का एक कल्प होता है इस प्रकार

1. कल्प=14 मनु+15 संधिकाल

=14×71 महायुग+15×1/5 महायुग

=994+6=1000 महायुग

एक कल्प में एक हजार महायुग या चार अरब बत्तीस करोड़ सौर वर्ष होते हैं।

कल्पारंभ से वर्तमान कलि के आरंभ तक छः मनु सात संधियों सहित व्यतीत हो गए और वर्तमान सातवें बैवस्वत मनु के भी सत्ताइस महायुग बीत गए और वर्तमान अट्ठाइसवें महायुग के तीन युग बीत चुके। इस प्रकार कल्पारंभ से कलि आरंभ तक गत काल

$$=6\times71+7\times2/5+27\times4+3\times2=456\frac{7}{10}$$ महायुग

=456.7+4320000=1972944000 वर्ष

कलियुगारंभ के 3179 वर्ष बाद शक संवत का आरंभ हुआ। वर्तमान शक संवत में 3179 जोड़ने से वर्तमान कलि संवत् प्राप्त होगा और वर्तमान कलि संवत को ऊपर प्राप्त वर्षों में जोड़ने से कल्पारंभ से वर्तमान तक गत वर्ष मिलेंगे। प्राप्तवर्षो से ब्रह्म सिद्धांत में गणना करनी चाहिए पर सूर्य सिद्धांत में नहीं। सूर्य सिद्धांतीय गणना के लिए सृष्टि के आरंभ से गत वर्ष लेने होंगे। इसके अनुसार सृष्ट्यारंभ और कल्पारंभ में अंतर है।

कल्प के अंत में महाप्रलय होता है जिसमें सभी स्थावर-जंगम का नाश होता है। अतः ग्रह नक्षत्रों की रचना में ब्रह्मा को सूर्य सिद्धांतानुसार $3\frac{19}{20}$ महायुग या 17064000 सौर वर्ष लगते हैं। प्राप्त कल्पारंभ काल से इस सृजन काल को घटाने से सृष्टि के आरंभ से जब सभी ग्रहादि एक ही स्थान पर ये गतकाल प्राप्त

होगा। इससे सूर्य सिद्धांत में गणना होगी।

इस प्रकार सृष्ट्यारंभ तक का समय :

$$=456\frac{7}{10}-3\frac{19}{20}=452\frac{3}{4}$$ महायुग=1955880000 वर्ष।

सूर्य तथा आर्ष सिद्धांतों में चारो युगों के मान परस्पर मेल नहीं खाते पर दोनों में ही कलियुगारंभ तक पूरे महायुगों के ऊपर तीन चौथाई महायुग ही बीता है जिससे दोनों में ही कलियुगारंभ में ग्रहों की स्थितियां एकसी हैं।

ज्योतिष की किसी भी गणना में कल्पारंभ से पहले के समय का विचार नहीं करना पड़ना फिर भी ज्योतिष ग्रन्थों और पुराणों में और कहीं बड़े काल का वर्णन है। कल्प ब्रह्मा का दिन माना गया है। इतनी ही ब्रह्मा की रात्रि है। इस प्रकार दो कल्पों या दो हजार महायुगों की ब्रह्मा की दिन रात होती है। ऐसे अहोरात्रि के प्रमाण से ब्रह्मा की आयु सौ वर्ष या 72000 कल्पों या 7 करोड़ 20 लाख महायुगों या 31 नील 10 खर्ब 40 अरब वर्षों की है। ब्रह्मा की आधी आयु समाप्त हो चुकी है और शेष आधी आयु का वर्तमान कल्प पहला दिन है। संकल्प मंत्र में काल निश्चित करने वाली यह सभी बातें आतीं हैं।

प्रवर्त्तमानस्य, अद्यश्रीब्राह्मणो द्वितीय पराद्धे, तदादौ श्री-श्वेतवाराहकल्पे, सप्तमे वैवस्वतमन्वन्तरे, अष्ठाविंशतितमे कलियुगे कलि प्रथम चरणो।

विज्ञान कथा

शुक्रग्रह की यात्रा*

डॉ. नवलबिहारी मिश्र

पिछले जून मास में एक और पांच छात्रों का दल भारत से वायुयान द्वारा पृथ्वी-परिक्रमा के लिए निकला था। जापान में पहुंचकर वह एक मर्मांतक दुर्घटना का शिकार हुआ। जिस समय वह नागोया हवाई अड्डे से उड़ा तो कुछ दूर जाने के बाद ही अकस्मात् एक झटका-सा लगा और अग्रभाग जल उठा। वायुयान में बैठे सभी यात्री काल के मुंह में जा पड़े। उनमें से भारतीय अध्यापक और उनके पांच छात्र चम्पासिंह, महेश, सुरेन्द्र, राकेश और राजीव किसी प्रकार बच गए।

हवाई जहाज पहाड़ियों से घिरे एक निर्जन जंगल में गिरा। रात का अंधेरा हो चला था। वह छहों किसी प्रकार मौत के मुंह से तो बच गए थे—पर रात में घनघोर जंगल में कैसे अपनी रक्षा की जा सके, इसलिए छहों एक तरफ चल पड़े।

प्रायः आधे मील गए होंगे कि उन्हें कांटेदार तार तथा लोहे का एक फाटक दिखाई पड़ा। फाटक खुला हुआ था। अध्यापक महोदय लंगड़ाते हुए चल रहे थे। राजीव और सुरेन्द्र लपक कर फाटक के भीतर घुसे, पर भीतर पहुंचने पर वे वहां कई लाशों को देखकर घबरा कर लौट पड़े। अध्यापक महोदय ने पूछा "क्या बात है राजीव?"

राजीव ने भीतर के दृश्य की सारी बातें बता दीं। मास्टर साहब ने भी भीतर जाकर देखा तो उन्हें समझने में देर नहीं लगी कि यह लोग कुछ देर पूर्व ही किसी दुर्घटना के शिकार हुए हैं। वहां पर फैली हुई सभी अस्त-व्यस्त चीजों को देखने से ऐसा अनुमान होता था कि कदाचित वे किसी विस्फोट के शिकार

---

* विज्ञान लोक, फरवरी 1960

हुए हैं और उनके वायुयान की दुर्घटना का संबंध भी इसी विस्फोट से कुछ मालूम पड़ता है।

राजीव और सुरेन्द्र ने घूम-घूमकर सभी चीजों की जांच-पड़ताल करनी शुरू कर दी।

सबसे पहले एक लुहार-खाना मिला। उसमें लोहे का अंगड़-खंगड़ तथा अनेक प्रकार की मशीनें तरतीब से सजाई हुई थीं। उसके बाद खुले मैदान में बहुत ही मोटे कैनवास का एक विशाल तथा बहुत ही ऊंचा तंबू था। करीब डेढ़ सौ फुट ऊंचा होगा।

परदा हटा कर जब वे लोग भीतर पहुंचे तो आश्चर्य-चकित हो गए। अंदर लोहे के फ्रेम के बने हुए बीस फुट ऊंचे गोल चबूतरे पर, प्रायः पचास फुट घेरे की एक बहुत ऊंची मीनार सी बनी हुई थी। उसकी बनावट राइफल के कारतूस के समान थी।

चबूतरे पर जाने के लिए लोहे के डंडे की सीढ़ी लगी हुई थी। सुरेन्द्र उस पर खट-खट चढ़ गया, और ऊपर से चिल्लाया, "इस मीनार में जाने के लिए एक दरवाजा भी है।"

जब तक सब लोग ऊपर पहुंचे तब तक सुरेन्द्र ने हैंडिल घुमाकर दरवाजा खोल डाला था। खुले दरवाजे से ऊपर जाने के लिए सीढ़ियां दिखाई पड़ रही थीं। मास्टर साहब लाख मना करते रहे, पर लड़के बंदरों की भांति ऊपर चढ़ने लगे। लाचार मास्टर साहब को भी उनका अनुसरण करना ही पड़ा।

मीनार बाहर से तो एक थी, पर भीतर से उसमें कई खंड थे। सबसे नीचे वाले खंड में सीढ़ी के चारों ओर तरह-तरह की मशीनें तथा बड़े-बड़े सिलैंडर लगे थे। दूसरा खंड उसी प्रकार के चबूतरे का बना था, जिस पर मीनार खड़ी थी। तीसरा खंड बिलकुल पहले वाले की तरह था। चौथे खंड में आठ कोच पड़े थे।

"अब बस करो लड़कों। पता नहीं, यह मीनार किसने तथा किस उद्देश्य से बनाई है,"

मास्टर साहब ने कहा, "चलो अब नीचे चलें, और रात काटने का प्रयत्न करें। सवेरे देखा जाएगा।"

"नीचे चलने की क्या आवश्यकता है, मास्टर साहब?" चंपासिंह बोला। "नीचे ऐसा कोई स्थान ही नहीं है, जहां वर्षा और सर्दी से बचाव हो सके। क्यों न रात यहीं काटी जाए?"

चंपासिंह का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। कोच बड़े आराम के

थे, परंतु चारों ओर से बंद होने के कारण वातावरण में ताजगी का अभाव था। इसलिए किसी को नींद न आ रही थी।

"मेरी समझ में नहीं आता", दीवारों पर हाथ फेरता हुआ सुरेन्द्र बोला, "आखिर इन लोगों ने खिड़कियां क्यों नहीं बनाईं।"

वह अपनी बात पूरी भी न कर पाया था कि अकस्मात् चारों ओर उजाला फैल गया। अनजाने ही उसका हाथ एक स्विच पर पड़ गया था। टार्च के प्रकाश में उस कमरे का सच्चा स्वरूप किसी की समझ में नहीं आया था। अब बिजली के प्रकाश में सब साफ दिखाई पड़ने लगा। जैसा सबने मान रखा था, कमरा गोल न था।

"जब यह कमरा गोल नहीं है, तब अवश्य ही इसके चारों ओर छोटे-छोटे कमरे होने चाहिएं" मास्टर साहब बोले।

"आपका ख्याल ठीक है, मास्टर साहब!" सुरेन्द्र ने उत्तर दिया, "यह देखिए एक ओर तो जीना है, और तीन ओर तीन दरवाजे।"

तीनों दरवाजे खोले गए। एक में गोताखोरों जैसी आठ पोशाकें टंगी थीं। अन्य बहुत से डब्बे, बैग, बंदूकें इत्यादि भी दीवारों पर लगे हुकों में लटके थे। दूसरे कमरे में रसोईघर तथा भोजन बनाने की सामग्री थी। उसे देखकर लड़के बहुत प्रसन्न हुए। तीसरा कमरा सबसे बड़ा था। जिस प्रकार के अनेक डायल मोटर अथवा हवाई जहाज के चालक के पास लगे होते हैं, वैसे ही यहां सैकड़ों थे? एक ओर अलमारी में अनेक पुस्तकें सजी थीं। ठीक केंद्र में लाल घेरे में एक हैंडिल लगा हुआ था।

"यह तो कोई बड़ा जरूरी हैंडिल मालूम होता है", सुरेन्द्र बोला, और मास्टर साहब तथा महेश द्वारा लाख मना करने पर भी उसने हैंडिल नीचे दबा ही तो दिया।

2

झन्-न्-न्-न्-न्!

कान के पर्दे फाड़ने वाली बड़े जोर की आवाज हुई। अकस्मात् वातावरण बहुत गरम हो गया। सुरेन्द्र को ऐसा जान पड़ा मानो किसी अदृश्य शक्ति ने उसे जबरदस्ती नीचे बिठा दिया हो। उसने देखा कि उसके पांचों साथी भी भयभीत फर्श पर इधर-उधर पड़े हैं।

सबने बोलने का प्रयत्न किया, पर किसी के मुंह से आवाज न निकली।

गरमी बढ़ती ही जाती थी। उठने का प्रयत्न व्यर्थ था। एक ही क्षण ऐसा जान पड़ता था मानो कभी बीतेगा ही नहीं। पता नहीं यह दशा कितनी देर रही।

उसके बाद धीरे-धीरे गरमी घट चली। उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो उनके सिर का बोझा धीरे-धीरे घटता चला जा रहा है। यह अनुभूति बढ़ते-बढ़ते यहां तक पहुंची कि वे अपने को अत्यंत हल्का अनुभव करने लगे।

"मैं तुम्हें बार-बार मना करता हूं, सुरेन्द्र!" मास्टर साहब ने आवाज खुलते ही नाराजी के स्वर में कहा, " परंतु तुम्हारा चिलबिलापन तुम्हें बैठने नहीं देता। पता नहीं वह हैंडिल गिरा कर तुमने क्या आफत ढहा दी है। तुम हम सब को एक न एक दिन किसी आपत्ति में अवश्य डालोगे।"

"आप कहें तो मैं हैंडिल को फिर सीधा कर दूं", सुरेन्द्र ने उत्तर दिया।

उठते हुए सुरेन्द्र का हाथ पकड़कर महेश बोला—"जो हुआ सो हुआ, अब बिना समझे बूझे हमें कुछ न करना चाहिए। पहले देखना चाहिए कि यह मीनार है क्या, जिसमें हम लोग हैं। तब फिर जैसा ठीक समझा जाएगा, किया जाएगा।"

"पर यह पता लगेगा कैसे?" मास्टर साहब ने पूछा।

"आलमारी में अनेक पुस्तकें तथा फाइलें हैं। उनके देखने से शायद इस पर कुछ प्रकाश पड़े", महेश ने उत्तर दिया।

× × × ×

प्रायः दो घंटे तक महेश तथा मास्टर साहब अलमारी से निकाल कर कई नक्शे देखते रहे। उनके चेहरों पर घबराहट के लक्षण प्रकट हुए और बराबर बढ़ते गए। अंत में दोनों सिर पर हाथ रखकर चुपचाप बैठ रहे।

सुरेन्द्र अब अपने को अपराधी अनुभव कर रहा था। समझ में तो उसकी कुछ न आया था, पर यह वह जान गया था कि कोई बहुत खराब बात हो गई है।

"जानते हो सुरेन्द्र! तुमने क्या किया है?" मास्टर साहब ने रुंधे कंठ से कहा—"तुमने अपनी तथा अपने साथियों की जान ली है। अब हम में से कोई भी पृथ्वी पर लौट कर नहीं आ सकेगा।"

"क्या हुआ? क्या हुआ?" चारों बच्चों ने एक साथ पूछा।

कई मिनट मास्टर साहब चुप रहे। उनकी आंखों से आंसू टपकने लगे। कुछ शांत होने पर बोले—"बच्चो । तुम सब बड़े अभागे हो। मैं भी बड़ा भाग्यहीन हूं। मुझे तुम लोगों का अभिभावक बना कर भेजा गया था। किसी को कुछ कहने

का कोई उपयोग नहीं। असल में सब दोष मेरा है। जिस प्रकार चाहिए था, उस प्रकार मैं तुम लोगों का पथ प्रदर्शन न कर सका। जानते हो तुम कहां हो? तुम्हें मालूम है कि यह मीनार क्या है? यह मीनार नहीं, अंतरिक्ष यात्रा का राकेट है और शुक्र ग्रह को जाने के लिए जापानी वैज्ञानिकों द्वारा बनाया गया था। जान पड़ता है कि यह यात्रा के लिए बिलकुल तैयार था। शायद दो एक दिनों में आठ यात्रियों को लेकर इसने प्रस्थान किया होता। सुरेन्द्र की शैतानी के कारण यह समय से पहले ही, प्रशिक्षत जापानी वैज्ञानिकों के स्थान पर हम जैसे छः व्यक्तियों को लेकर चल पड़ा है, जो अंतरिक्ष यात्रा अथवा वहां जाने वाले यान के विषय में एक अक्षर भी नहीं जानते। पहले तो हम शुक्र ग्रह पर पहुंच ही न पाएंगे। पता नहीं, अंतरिक्ष के किस कोने में अनंतकाल तक चक्कर लगाते फिरें। यदि पहुंच भी गए तो वहां से लौटने का कोई भी उपाय नहीं। जहां तक मुझे मालूम है, शुक्र ग्रह के जलवायु में मनुष्य जीवित ही नहीं रह सकता।"

थोड़ी देर के लिए तो लड़के सन्न रह गए, परंतु किशोरावस्था बड़ी बेफिक्री की अवस्था होती है। निकट भविष्य में मृत्यु निश्चित है, यह कल्पना ही इस अवस्था में नहीं होती। किशोर बड़ा आशावादी होता है। उसे जान पड़ता है कि अरे, कोई न कोई उपाय निकल ही आएगा।

एक ने कहा, "शुक्र ग्रह? वही तो जो शाम या सुबह क्षितिज पर खूब चमकता है? पृथ्वी से कितनी दूर है शुक्र?"

मास्टर साहब ने कहा–"पृथ्वी से शुक्र कितनी दूर है, यह तो बड़ा बेतुका सवाल पूछा तुमने। पृथ्वी और शुक्र कोई लखनऊ और इलाहाबाद तो है नहीं जिनकी स्थिर दूरी हो। ये दोनों ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं। पृथ्वी सूर्य से दूर है और शुक्र निकट। पृथ्वी को परिक्रमा में 365 दिन लगते हैं, और शुक्र को 225। जब शुक्र और पृथ्वी के बीच सूर्य होता है, तब दोनों ग्रहों की दूरी बहुत अधिक होती है। जब पृथ्वी और शुक्र सूर्य के एक ही ओर होते हैं तब बहुत कम।"

दूसरे ने पूछा—–मास्टर साहब यह धक्का-सा क्यों लगा था? हम सब फर्श में चिपक से क्यों गए थे? इतनी गरमी क्यों हुई थी?"

मास्टर साहब ने उत्तर दिया, "रेल के सफर में तुमने देखा होगा कि जब वह मोड़ पर तेजी से चलती है तब उसकी गति के विरुद्ध दिशा में यात्री गिर पड़ते हैं। इन कागजों से पता चला है कि यह राकेट ग्यारह किलोमीटर प्रति सेकेंड की गति से चला था। इसी से इसकी चाल के रुख के विरुद्ध फर्श से हम सब

चिपक गए थे। गरमी इसलिए लगी कि पृथ्वी के चारों ओर हवा है और जब इतनी तीव्र गति से राकेट चला तो हवा की रगड़ से गरमी पैदा होना आवश्यक था। फिर जैसे-जैसे राकेट पृथ्वी से दूर होता गया वैसे-वैसे हवा पतली होती गई, रगड़ कम होती गई और गरमी भी घटती गई। आगे चलकर एक और परेशानी सामने आएगी। जैसे-जैसे पृथ्वी की आकर्षण शक्ति कम होती जाएगी वैसे-वैसे हमारे शरीर का भारमान कम होता जाएगा। कोई आश्चर्य नहीं कि हम इस कमरे के अंदर हवा में तैरने लगें।''

दिन पर दिन बीतते गए। अलमारी में रखी पुस्तकों और नक्शों के आधार पर इन अभागे यात्रियों का अपने अंतरिक्ष-यान के विषय में ज्ञान भी बढ़ता गया। यान के नक्शे के आधार पर उन्हें उसकी खिड़कियां खोलने का भी ज्ञान हो गया। उनके द्वारा वे चारों ओर के शून्य तथा अंधकारमय अंतरिक्ष को भी देख पाए। चारों ओर काला आकाश, असंख्य चमकदार तारे, भयानक शांति, यह सब एकदम नए अनुभव थे।

यान पर भोजन की कमी न थी। पृथ्वी तेजी से दूर होती जा रही थी। यान चलाने के लिए उन्हें कुछ करना न था। चतुर जापानी कारीगरों ने गणित द्वारा हिसाब लगा कर यान इस प्रकार बैठाया था कि शुक्र-ग्रह तक उसके अनायास पहुंच जाने में कोई भी संदेह न था।

शुक्र ग्रह धीरे-धीरे निकट आता-जाता था। उसका आकार क्षण-प्रतिक्षण बढ़ता जा रहा था। चमक भी बढ़ती जा रही थी। परंतु जिस प्रकार दूर होती हुई पृथ्वी के महाद्वीप और सागर अब भी स्पष्ट दिखाई देते थे, उस प्रकार शुक्र के न दीख पड़ते थे। शुक्र के चारों ओर छाये घने बादल उसे एकदम छिपाए हुए थे।

ठीक 146वें दिन अंतरिक्ष यान शुक्र के वातावरण में जा पहुंचा।

''जरा स्पेक्ट्रास्कोप लगा कर देखना तो। ये बादल काहे के बने हुए हैं?'' मास्टर साहब ने महेश से कहा।

''अरे, हमारी पृथ्वी के बादलों की तरह ये भाप के बादल नहीं हैं'', यंत्र द्वारा देखते हुए महेश बोला, ''थोड़ी भाप इनमें है अवश्य, पर ये तो प्रधानतः कार्बन-डाइ आक्साइड तथा अन्य गैसों के बने हैं!''

बादलों का घना पर्दा पार करते ही शुक्र ग्रह स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगा। उसे देखकर बड़ी निराशा-सी हुई। समूचे ग्रह पर धूप का नितांत अभाव था। संध्या जैसा हलका प्रकाश चारों ओर फैला था। सारा ग्रह समुद्रों, झीलों और

दलदलों से भरा हुआ था। यत्र-तत्र छोटे-छोटे महाद्वीप तथा द्वीप बिखरे हुए थे।

सूखी जमीन पर यान उतारना बड़ा कठिन जान पड़ता था, पर घने वातावरण तथा उलटे राकेटों की सहायता से वे उतरने में सफल हो गए।

ऑक्सीजन के 'मास्क' लगा कर जब वे यान से बाहर निकले तब उनका हृदय तेजी से धड़क रहा था। शुक्र ग्रह कैसा होगा? क्या वहां मनुष्य अथवा अन्य जीवित प्राणी रहते होंगे? क्या हम लोग वहां रह सकेंगे? इत्यादि प्रश्न सभी के हृदयों को आंदोलित कर रहे थे। जापानी कारीगरों द्वारा रखी हुई पोशाकों में रेडियो के ट्रांसमीटर तथा रिसीवर भी फिट थे। उन्होंने पहले से ही सोच लिया था कि जब शुक्र का वातावरण सांस लेने के अयोग्य होगा तब वहां बात करना भी असंभव होगा।

थोड़ी दूर पर घना जंगल-सा दिखाई पड़ रहा था।

"अरे ये पेड़ हैं या कुकुरमुत्ते?" सुरेन्द्र ने एक पेड़ को देखते हुए कहा। सचमुच ही वह कुकुरमुत्तों का जंगल था। और कुकुरमुत्ते भी साधारण पृथ्वी जैसे नहीं, पचास पचास फुट ऊंचे!

शुक्र का वातावरण बड़ा सघन हैं नमी भी वहां इतनी है कि थोड़ी ही देर में सबके कपड़ों से पानी टपकने लगा। मास्क पर लगे शीशे बार-बार नम हो जाते थे, जिससे साफ देखना भी कठिन था।

"यहां तो एक क्षण रहना भी कठिन जान पड़ता है, मास्टर साहब" रुंधे कंठ से महेश बोला, "अब वापस चलने का प्रबंध कीजिए। देर तक रहने से पता नहीं क्या बाधा पड़ जाए।"

"ठीक कहते हो महेश"। मास्टर साहब बोले। शुक्र ग्रह मनुष्य के निवास के लिए नितांत अनुपयुक्त है। सौभाग्य से इस यान के जापानी कारीगरों ने यहां से वापस जाने का बढ़िया प्रबंध कर रखा है। जैसा नक्शों में लिखा है, वह यदि ठीक है, तो कठिनाई न पड़ेगी।"

यान को सीधा खड़ा करने, उसके निचले खंड का आवरण हटा कर धातु की पट्टियों द्वारा बने चबूतने को ठीक करते-करते तीन दिन लग गए। उसके बाद नक्शे में दिए गए आदेशों के अनुसार अंतरिक्ष यान का रुख पृथ्वी की ओर करने में अधिक समय न लगा।

ये तीन चार दिन बड़े कष्ट में बीते। यान खड़ा करने तथा विश्राम और भोजन से जो कुछ समय बचता, उसका पूरा उपयोग किया गया। शुक्र ग्रह में मनुष्य अथवा उसके समकक्ष किसी प्राणी का पता कहीं न चला। पानी में अवश्य

कुछ जीवित प्राणी दिखाई पड़े, जो झींगा मछली, केकड़ों तथा सीपियों की जाति के थे।

शुक्र ग्रह की मिट्टी, पानी, वायु, वनस्पति तथा प्राणियों के नमूने लेकर अंत में वे यान के अंदर फिर चले गए तथा जिस हैंडिल द्वारा सुरेंद्र ने पृथ्वी पर यान चालू किया था, उसी की सहायता से उन्होंने शुक्र ग्रह से प्रस्थान किया।

वापसी यात्रा में कोई उल्लेखनीय बात नहीं हुई। पृथ्वी के हिसाब से नौ मास और छब्बीस दिनों में अंतरिक्ष यान पृथ्वी पर फिर वापस आ गया।

अंतरिक्ष यान किस देश में उतरा, यह हम नहीं बतला सकते। यों कहिए कि जानते हुए भी हमें बतलाने की स्वतंत्रता नहीं है।

अंतर्राष्ट्रीय उलझनों के जाल से निकल कर ये छः अभागे भारतीय कभी भी स्वदेश लौटेंगे, यह बतलाना कठिन है।

सर्पगंधा*

रामेश बेदी

सर्पगंधा के नाम

संस्कृत में सर्पगंधा, चन्द्रिका; हिंदी में छोटी चांद, धवल वरुवा, सचांद भरुवा, धनभरवा; हरिद्वार में सेत बड़वा; उड़िया में सानो चादो; बंगाली में चांदड़, चन्द्रा; आसामी में अरचोन-तीता; मराठी में अडकई, करकई, हरकाई; कन्नड़ में गरुड़ पतुला, शिवनाभि; मलयालम में चुवन्न-एविलपोरी; तामिल में चिषान, अम्पेलपोदी, सोषन्ना मिल बोरी; तेलुगु में पाताल गंधी और लैटिन में रांउल्फिया सर्पेण्टाइना (Rauwolfia Serpentina Benth ex Kurz).

सोलहवीं शती के जर्मन चिकित्सक और पर्यटक रांबुल्फ के नाम पर इस पौधे का यह नाम पड़ा है।

परिचय

सर्पगंधा का बटु वर्षी क्षुप सीधा, झाड़ीदार छः से अठारह इंच तक ऊंचा होता है। कहीं-कहीं दो से तीन फीट तक ऊंचा देखने में आता है। इसका कांड स्वात्रयी है। लाल रंग के पुष्प दंडों पर सफेद फूल खिलते हैं। धीरे-धीरे फूलों का रंग लाल हो जाता है। दो-दो फल इकट्ठे जुड़े हुए पकने पर चमकीले काले रंग में परिणत हो जाते हैं। फल चौथाई इंच व्यास का होता है। फल के अंदर एक या दो बीच होते हैं।

पत्ते तीन से सात इंच लंबे, डेढ़ से ढाई इंच चौड़े, भाले की सी नोक वाले और चिकने होते हैं। इनके ऊपर का पृष्ठ चमकीला हरा तथा नीचे का पीला-सा

* विज्ञान, मार्च 1960

होता है। बगीचों में लगाए जाने वाले चांदनी फूल के पत्तों के सदृश इसके पत्ते दीखते हैं। शाखा पर एक ही स्थान पर तीन-चार पत्ते गोलाई में लगते हैं। कभी-कभी पत्ते एक दूसरे के सम्मुख भी लगते हैं।

प्राप्ति स्थान

हिमालय की तलहटी में चार हजार फीट की ऊंचाई तक सर्पगंधा का क्षुप मिलता है। पंजाब में यह हिमालय की तलहटी में सतलज से लेकर समुना तक गरम और नम स्थानों में पाया जाता है। उत्तर प्रदेश में देहरादून से लेकर गोरखपुर तक ठंडे और छायादार स्थानों में, विशेष कर साल जंगलों में तथा देहरादून, शिवालक पर्वत श्रेणी और रुहेलखंड के सब-हिमालयन भागों में उगता है। इन स्थानों में यह चार हजार फीट की ऊंचाई तक पहुंच गया है। पटना तथा भागलपुर इसके प्राप्ति स्थान कहे जाते हैं परंतु प्रतीत होता है कि नेपाल की तराई से यह जड़ी इन स्थानों में जाती थी। सर्पगंधा की जड़ों की ये मंडियां थीं और यहां से यह हमारे देश में फैल जाती थी। सर्पगंधा की जड़ों की ये मंडियां थीं और यहां से यह हमारे देश में फैल जाती थी। इसी से व्यापार में इसका स्रोत पटना और भागलपुर समझते जाते रहे। डड़ीसा में यह पौधा पुरी में पाया गया है। विलासपुर में कहीं-कहीं मिला है। बंगाल के उत्तरी भाग में जड़ें इकट्ठी की गई हैं। आसाम में यह कामरूप, नौगांव, उत्तरी कछार, गोला पाड़ा, खासी तथा जयंतिया पार्वत्य अंचल में और गाशे पहाड़ में पाया गया है। पेगू और तेनास्सेरिम में 4000 फीट की ऊंचाई तक मिलता है। मद्रास में पश्चिमी घाट के प्रायः सारे जिलों में और आंध्र राज्य में जहां छाया और नमी है यह पौधा तीन हजार फीट तक पाया जाता है। बंबई में कोंकण, दक्षिण महाराष्ट्र देश और कनाडा के नमी वाले जंगलों में पाया जाता है। भारत के बाहर पाकिस्तान, अंडमान, लंका, ब्रह्मा, स्याम, थाइलैंड, जावा तथा मलय प्रायद्वीप, कोचीन-चीन, फिलिपाइन, द्वीनपुंज तक इस पौधे का विस्तार है।

इतने व्यापक क्षेत्र में फैला हुआ होने पर भी यह पौधा कहीं भी साधारण नहीं है और यह केवल असामूहिक रूप में उगता है। इसकी उत्पत्ति बहुत कम है। किसी भी स्थान से यह इतने परिमाण में नहीं मिलता कि व्यापारियों की मांग की पूर्ति कर सके। इसकी बढ़ती हुई मांग को ध्यान में रखते हुए इसकी खेती करना लाभदायक है।

लाभदायक धंधा

अनुमान है कि एक एकड़ भूमि में दो हजार पौंड जड़ें प्राप्त की जा सकती हैं। प्रति पौंड तीन रुपए के हिसाब से इस उपज का दाम छह हजार रुपए बैठता है। किसानों और बाग-बगीचे वालों के लिए सर्पगंधा की खेती का धंधा बहुत लाभदायक सिद्ध होगा। अमेरिका तथा दूसरे देशों में इसकी बढ़ती हुई मांग को देखकर कहा जा सकता है कि अभी बीस वर्षों तक चाहे जितनी पैदावार हो सब अच्छे दामों में खपती रहेगी। उत्पादकों को अपनी उपज को बेचने के लिए मंडियों की खोज में जरा भी कठिनाई नहीं होगी।

पहिचान

बाजार में मिलने वाली सर्पगंधा की जड़ें दो से छः इंच लंबी और प्रायः एक इंच मोटी होती है। रंग मटमैला पीला-सा भूरा। ऊपर की छाल कार्क की तरह नरम होती है जिस पर लंबाई के रुख सीधी दरारें पड़ी रहती हैं। तोड़ने से जड़ छोटे-छोटे टुकड़ों में टूटती है। अंदर की सफेद लकड़ी में स्पंज की तरह बहुत छिद्र दीखते हैं। गंध कोई नहीं होती। स्वाद कड़वा है।

खेती

सर्पगंधा की खेती के लिए नमीदार गरम स्थान अच्छा है। उत्तर भारत में हिमालय की तलहटी में और दक्षिण में नमी वाले गरम प्रदेशों में यह क्षुप अच्छा पनप सकता है। मूली के लिए जिस तरह भूमि तैयार की जाती है उसी प्रकार इसकी खेती के लिए भूमि बनानी चाहिए। सिंचाई का अच्छा प्रबंध हो तो मार्च में बीज बो देना चाहिए। सिंचाई की संतोषजनक व्यवस्था न होने पर पहली बार वर्षा होने पर ही नरसरियों में बीज डाल देने चाहिए। पंद्रह दिन में बीज उग आते हैं। एक एकड़ के लिए चार पौंड बीजों की आवश्यकता होती है। सारे बीज उग आए तो चार पौंड में अड़तीस हजार सौ पौधे निकल आएंगे। बीस दिन में पौधों पर चार-चार पत्ते निकल आते हैं। स्थानांतरित करने का ठीक समय यही है। पौधे लगाने से पहले अच्छी तरह जुताई करके खेत की मिट्टी भुरभुरी बना लेनी चाहिए। शाखाओं की कर्तनों से भी यह पौधा उग आता है। ताजी जड़ों के दो-तीन इंच लंबे टुकड़े करके बो देने से भी पौधे जम जाते हैं। इसलिए, यदि बीज सुलभ न हों तो जड़ों और शाखाओं से उत्पत्ति की जा सकती है। वन-अनुसंधान-शाला,

देहरादून के गौण वन संपत्ति उद्यान में पौधों को बन्नों पर और समतल भूमि में उगा कर देखा गया। परीक्षणात्मक खेती में दो साल के बाद पौधों को खोद लिया गया। श्री एस. वी. पुलाम्बेकर ने इनके विभिन्न भागों की तौल में अंतर इस प्रकार पाया है।

पौधे के भागों की उपज (ग्राम में भार)

	पत्ते	**मुख्य तना**	**शाखाएं**	**जड़ें**	**योग**
बन्ने पर उगाया हुआ पौधा	4.5	3.5	3.2	9.0	20.2
समतल जमीन में उगाया पौधा	3.5	3.7	1.5	14.0	22.7

इस परीक्षण में यह देखा गया कि समतल जमीन पर उगाए गए पौधे की जड़ की अपेक्षा बन्ने पर उगाए पौधे की जड़ पचास प्रतिशत अधिक बैठी, यद्यपि पौधे का कुल भार दोनों उदाहरणों में लगभग एक समान है। चिकित्सा की दृष्टि से जड़ का विशेष महत्त्व है। इसलिए अधिक उपज प्राप्त करने के लिए हमारी सम्मति में बन्नों पर बोना अधिक अच्छा रहेगा। अधिक वर्षा वाले प्रदेशों में जोर की वर्षा बन्ने की मिट्टी को बहा कर भूमि को समतल कर देती है और जड़ें नंगी कर देती है। इसमें पौधे को हानि से बचाने के लिए मिट्टी को बार-बार जड़ों के चारों ओर चढ़ा देना चाहिए। हमारी सम्मति में, पैदावार अधिक उन्नत और प्रचुर प्राप्त करने के लिए इस्तेमाल किए गए खेती के विविध तरीकों का बहुत महत्त्व है। इसलिए बन्ने पर और समतल पर बोने के परीक्षणों को अधिक बड़े पैमाने पर किया जाना चाहिए। पौधे लगाने के बाद खेत को सींचना चाहिए। पहले साल ऋतु में तीन निलाइयों की आवश्यकता होगी। दूसरे बरस पौधे संभल जाते हैं और निलाई तथा सिंचाई की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती। सूखे मौसम में सींचना अत्यावश्यक होता है। भूमि अच्छी हो और सार संभाल ठीक हो तो दो वर्ष में जड़ें खोदने योग्य हो जाती हैं। बरसात की समाप्ति पर खोदना अच्छा रहता है। सर्दियों के सूखे मौसम आने से पूर्व भूमि में जब तक वर्षा की नमी विद्यमान हो तभी जड़ें खोद लेनी चाहिए क्योंकि तब नरम भूमि को खोदना सरल होता है। बाजार में यद्यपि मोटी जड़ों की मांग है परंतु बारीक जड़ों को भी इकट्ठा कर लेना चाहिए क्योंकि उनमें भी क्रियाशील तत्त्व विद्यमान होते हैं।

वन-अनुसंधान शाला में किए गए बाद के परीक्षण बताते हैं कि पत्तों में तथा पौधे की डंडियों में भी क्रियाशील तत्त्व विद्यमान हैं। इसलिए खेती में ये भी संभावनाएं हैं कि जड़ें खोदने के स्थान पर पत्ते और टहनियों को समय-समय

पर औषध प्रयोजन के काट लिया जाए। इस प्रकार संभवतः अधिक पैदावार प्राप्त की जा सके।

इतिहास

चिकित्सा की भारतीय पद्धति के ग्रंथों में सभवतः केवल सुश्रुतु संहिता में एक स्थान पर सर्पगंधा का उल्लेख मिलता है। अमानुषोपसर्गाध्याय में मानसिक रोगों को दूर करने वाले अपराजित गण में सुश्रुत ने इसे पढ़ा है। बनारस, बिहार और बंगाल के साधारण लोग प्राचीन काल से उन्माद और अनिद्रा में यद्यपि इसका उपयोग करते रहे हैं परंतु प्रतीत होता है कि आयुर्वेद के विद्वान लेखकों का ध्यान इसने आकर्षित नहीं किया क्योंकि चिकित्सा साहित्य में यह प्रवेश नहीं पा सकी।

विषैले सरीसृपों के दंश और कीड़ों के डंक, ज्वर, पेचिश और आंतों के दूसरे वेदनामय रोगों में भी सर्पगंधा का भारत और मलय प्रायद्वीप में प्राचीन समय से बहुत उपयोग होता रहा है। 1563 में गार्सिया दा आर्टा ने इसे भारत की अग्रणी और प्रशंसनीय औषधि लिखा था। दीपक रूप वह इसकी संतुति करता है। वह बताता है कि सर्पदंश में यह विशेष उपयोगी है और इस प्रयोजन के लिए यह यूरोप को ले जाई जाती है।

सर्पदंश में प्रयुक्त होने वाली जड़ियों में सर्पगंधा यद्यपि भारत की पुरानी जड़ी है और इसके अतिरिक्त भी यह अनेक रोगों में उपयुक्त होती थी। परंतु प्रतीत होता है कि पुर्तगालियों के व्यापार में यह यूरोप नहीं पहुंची थी, यद्यपि वे इसे उन बहुत से स्थानों से प्राप्त कर सकते थे जहां उनका व्यापार था। बाद में, डच लोग इसे मलक्का ले गए और यह रम्फियस की 'मस्तिलो की जड़ी' बन गई। रम्फियस कहता है कि उसके समय में यह भारत और जावा में प्रत्येक प्रकार के विष के प्रचार हेतु दी जाती थी। अंतः और बाह्य दोनों तरह से इसका प्रयोग होता था। जड़ का काढ़ा बनाकर बाहरी प्रयोगों में पैरों के तलवों पर लगाया जाता था। वह कहता है कि सांपों के विषों के लिए यह उपयोगी है और यहां तक कि यह आश्चर्यजनक जड़ी पिलाने से फनियर के दंश को भी विषरहित कर देती है। उसने कहा है कि ज्वरों में, हैजे और पेचिश में इस दवा का व्यापी रूप से अंतः प्रयोग किया जाता है। फूले की औषधि के रूप में पत्तों का रस आंखों में डाला जाता था।

जर्मन ने अपने थिजौरस जिलेनिकस में सर्पगंधा का विवरण दिया है। द बौन्द (De Bondt) बताता है कि वह बुखारों को उतारती है।

पागलपन की गोपनीय जड़ी

सोलहवीं-सत्रहवीं शती के यूरोपियरों ने सर्पदंश में इसकी जो ख्याति सुनी थी वह धीरे-धीरे लुप्त होती गई। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में भी यद्यपि हमारे देश के वैद्य इसका उपयोग जानते थे परंतु सर्वथा भिन्न रूप में। पागल की जड़ी के नाम से इसने उनमें अच्छी प्रसिद्धि पा ली थी और उन्माद में इसका प्रयोग जो जान गए थे उन्होंने इसे गोपनीय रखा। बिहार और उत्तर प्रदेश में यह 'पागल की दवा' के नाम से बिकती थी और पंसारियों तथा देशी चिकित्सकों में इसका व्यवहार साधारण बात थी। 1931 में इंडियन मेडिकल वर्ल्ड (जुलाई, जिल्द 2, अंक 5) में कलकत्ते के प्रसिद्ध आयुर्वेदिक चिकित्सक डॉ. गणनाथ सेन और डॉ. कार्तिकचन्द्र बोस के नाम से एक लेख छपा था जिसमें डॉ. सेन ने उस रहस्यपूर्ण जड़ी के संबंध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का उद्घाटन करते हुए बताया था कि कठिनाई से उन्होंने इसका रहस्य जाना था। यह जड़ जिस पौधे से प्राप्त की जाती थी उसे उन्होंने कई वर्ष पूर्व ठीक-ठीक पहचान लिया था। तभी से वे उसे अपने रोगियों पर उल्लेखनीय सफलता के साथ खूब प्रयोग करते रहे। अत्यंत कड़वी होने के कारण वे उसे गोली या टिकिया के रूप मे देते थे। उसका नाम उन्होंने महेश्वर चक्रिका रखा हुआ था। रक्त दबाव की इस मूल्यवान और सुरक्षित दवा को ढूंढ़ने में मालूम होता है कि डॉ. सेन को सबसे पहले सफलता मिली। यह ध्यान देने योग्य है कि पूर्व या पश्चिम की किसी भी दवा से इस रोग में लाभ नहीं होता। डॉ. सेन के निर्देश पर डॉ. बोस ने अपने सहयोगियों के साथ उस दवा के द्रव्यगुण संबंधी कार्यों का अध्ययन प्रारंभ किया। इस प्रकार पाश्चात्य चिकित्सा में सर्पगंधा को समाविष्ट करने का श्रेय डॉ. गणनाथ सेन और डॉ. कार्तिक चन्द्रबोस को मिलता है। बाद में कर्नल रामनाथ चौपड़ा, डॉ. मुकर्जी आदि ने भी इस पर गवेषणा की ओर सभी ने जड़ को उच्च दबाव के लिए उपयोगी स्वीकार किया।

उपयोगी भाग

चिकित्सा में मुख्यतया मूल काम आती है परंतु पत्ते तथा शाखाएं भी काम में लाई जा सकती हैं। मात्रा मूल-रक्त का दबाव कम करने के लिए दो से पांच रत्ती, नींद लाने के लिए आठ से पंद्रह रत्ती, पागलपन के लिए डेढ़ से तीन माशा है। पत्ते और शाखाओं में क्रियाशील तत्त्व जड़ों की तुलना में लगभग आधे परिमाण में होता हैं इस लिए उन्हें जड़ से दुगुने परिमाण में देना चाहिए।

रासायनिक संरचना

आशुतोष दत्त, जे. सी. गुप्त, सुधामयी घोष और बी. एस. कोहली (इंडि., जर्न. फार्मे., जि. 9, अंक 2, 1947, पृ. 54-57) ने कलकत्ता के स्कूल आफ ट्रापिकल मेडिसन में की गई परीक्षाओं के आधार पर विश्लेषण के तुलनात्मक अध्ययन में दिखाया है कि आसाम से प्राप्त सर्पगंधा में एलकोहल में विलेय निस्सार उच्चतम थे और बंगाल के नमूने में निम्नतम। एलकोहलीय निस्सारों के जलीय विलेय निस्सारितों सब एल्कॉलाइड विद्यमान थे और जलीय अविलेय भाग में तैलोद्यास (ओलियोरेजिन्स) थे। जलीय निस्सारण में से एल्कॉलाइड और उद्यास (रैजिन्स) पृथक कर लिए जाने पर यह औषधीय गुणों से शून्य हो जाता है। तैलोद्यासों (औलियोरेजिन्स) को फिर पेट्रोलियम ईथर की सहायता से उद्यासमय (रेजिन्स) और तैलीय खंडों में अलग किया गया। तैलीय खंड में कुछ क्षोभक गुण देखे गए जबकि उद्यास (रेजिन्स) खंड ने औषध का अपना प्रारूपिक (टिपिकल) शामक और निन्द्राजनक कार्य दिखाया। उद्यास (रैजिन) खंड फिर दो खंडों में विभक्त किया गया।

सिद्दीकी और सिद्दीकी (जर्नल इंडि. केमि. सोसा., 1931 जि. 8, पृ. 667) ने रासायनिक विश्लेषण से सूखी जड़ में पांच मणिभीय एल्कॉलाइड प्राप्त किए जिनका दो समूहों में श्रेणीकरण किया। इन अन्वेषकों ने इनको विशिष्ट नाम भी दे दिए। पहला अजमलीन समूह है जिसमें तीन सफेद मणिभीय निर्बल भस्में थीं। उस समूह के तीनों एल्कॉलाइड के भौतिक गुण इस प्रकार हैं–

1. **अजमलीन :** 158°–160° पर पिघलता है। यह 0.1 प्रतिशतक पाया गया है।।

2. **अजमलिनीन :** 170°–181° पर पिघलता है। 0.05 प्रतिशतक पाया गया है।।

3. **अजमलिसीन :** 250°–252° पर पिघलता है। यह 0.02 प्रतिशतक पाया गया है।।

दूसरा सर्पेंटाइन समूह है जिसमें दो चमकीली पीली मणिभीय तीव्रतर भस्में थीं। इनमें भौतिक गुण ये हैं–

1. **सर्पेंटाइन :** 153°–154° पर पिघलता है। 0.08 प्रतिशतक प्राप्त किया गया।

2. **सर्पेंटाइनीन :** 263°–265° पर पिघलता है। और विबद्ध हो जाता है। यह भी 0.08 प्रतिशतक मिला।

इनके साथ ही निम्नलिखित संघटक भी ज्ञात किए गए—(क) एक तरुसान्द्रव (Phytosterol) (ख) म्रक्षिक अम्ल। (Oleic acid)

कार्नल रा. ना. चोपड़ा के अनुसार एल्कालाइडों के अतिरिक्त जड़ में उद्यास (Resin) का काफी परिमाण और निशास्ता होते हैं। राख लगभग आठ प्रतिशतक प्राप्त होती है जिसके मुख्य घटक पोटासियम कार्बोनेट, फासफेट, सिलीकेट और अत्यल्प लौह तथा मैंगनीज हैं। बाद के अन्वेषकों ने बताया है कि अजमलीन और सर्पेंटाइन समूहों में उपर्युक्त एल्कालाइडों के अतिरिक्त कुछ और भी एल्कालाइड विद्यमान हैं। अमेरिका तथा दुनिया की अन्य अनेक प्रयोगशालाओं में अभी बड़े परिमाण में शोध कार्य हो रहा है।

स्विस प्रयोगशाला में 1947 से 1952 तक जड़ पर शोध करते हुए डॉक्टर इ. एम. शिलटलर और उनके सहयोगियों ने रिसर्पीन नाम का एक नया एलकालाइड पृथक किया है। यह मणिभीय हैं इसका विश्लेषण एक पेचीदी प्रक्रिया है। प्राप्त दवा जड़ की अपेक्षा एक हजार गुणा अधिक क्रियाशील है। रक्त दबाव को नीचे लाने में रिसर्पीन का प्रभाव यद्यपि मंद है परंतु इसका कोई विषैला प्रभाव नहीं होता।

सिद्दिकी और सिद्दिकी (जर्नल ऑफ इंडिकेमि सोसा., 8, 1931) ने सूखी जड़ों में एल्कलॉइडों का कुल परिमाण 0.5 प्रतिशत प्राप्त किया था। दत्त और दूसरों (इंड. ज. आफ फार्मेसी, जि. 9, 1947, पृ. 55) के अनुसार 1.21 से 1.36 प्रतिशतक तक भिन्न होता है। बंबई (1948-49) में औषधि के एल्कलाइडों पर कार्य किया गया। अलग-अलग किए गए तीन परीक्षणों में एल्कलाइडों का कुल परिमाण 1. 45 प्रतिशत, 1.5 प्रतिशत और 1.4 प्रतिशत पाया गया। बिहार के प्राप्त जड़ों में एल्कलाइडों का कुल परिमाण 1.4 से 1.5 प्रतिशतक पाया गया और देहरादून से प्राप्त जड़ों में परिमाण 1.9 प्रतिशतक था। संपूर्ण जड़ की अपेक्षा जड़ की छाल में एल्कलायड सामान्यतया आठ से दस गुना अधिक होता है।

विश्लेषणों की इन रिपोर्टों में जड़ों का प्राप्ति स्थान दिया है वह संभवतः उनके व्यापारिक स्रोत का सूचक है और इससे यह ज्ञात नहीं होता है कि परीक्ष्य जड़ें किस किस स्थान पर उगे हुए पौधों से ली गई थीं। संभव है कि स्थान भेद से एल्कलॉयडों की प्रतिशतकता में अंतर पड़ जाए। देहरादून की वन अनुसंधानशाला (1950) ने अपनी वाटिका में उगाई दो वर्ष की आयु की जड़ों को सुखा कर विश्लेषण किया था जिसमें एलकलॉयडों का कुल परिमाण 0.36 प्रतिशत ही निकला था। प्रतिशतत्त्व में इस कमी का कारण संभवतः यह था कि

ये जड़ें बहुत पतली थीं व्यास में केलव 1/8 इंच, जबकि बाजार में सामान्यतया एक इंच व्यास की मिलती है।

कार्य तथा भाव-प्रयोगशालाओं के परीक्षण

दवा के क्रियाशील पदार्थों के द्रव्यगुण संबंधी कार्य अब तक संतोषजनक रूप से नहीं जाने जा सके हैं। सिद्दिकी के अनुसार जड़ों से पृथक प्राप्त किए गए सफेद और पीले क्रियाशील तत्त्वों के शरीर पर कार्य करने की दृष्टि से दो भिन्न-भिन्न समूह बनते हैं। पहला अजमलीन समूह हृदय, श्वसन और चेताओं पर सामान्य अवसादक का कार्य करता है। दूसरा सर्पेंटाइन समूह श्वसन को स्तंभित (पैरालाइज) करता है और चेताओं को अवसन्न करता है परंतु हृदय को द्दीप्त करता है। ये पर्यवेक्षण मेंढकों पर हुए परीक्षणों से प्राप्त किए गए हैं और इसलिए उच्चतर प्राणियों पर ये परिणाम उसी रूप में पूर्णतया लागू नहीं हो सकते। सर्पेंटाइन समूह के एल्कलायडों की घातक मात्रा वही पाई गई जो अजमलीन समूह की थी। यह मात्रा मेंढक के प्रति किलोग्राम भार के लिए थी। चूहों के लिए घातक मात्रा चार गुना अधिक थी। सेन और बोस (इंडि. मेडि. वर्ल्ड, 1931, जि. 2, पृ. 194) ने दवा के भैषजिकीय प्रभाव का बिल्ली जैसे बड़े प्राणियों पर अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि संपूर्ण औषधि का जलीय निस्सार जब प्राणियों की शिरा के अंदर सूई द्वारा डाला गया तो कोई विशेष प्रभाव नहीं पैदा हुआ। उद्यास (रेजिन्स) को भी अकेले दिया गया परंतु गर्भाशय की मांस पेशियों को हल्का-सा उद्दीपन देने के अतिरिक्त इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं देखा गया। उनके द्वारा पृथक किए एल्कलाइडों ने बहुत सुनिश्चित परिणाम दिखाए। रक्त दबाव कुछ गिर गया, श्वसन कुछ तेज हो गया, हृदय की मांसपेशी अवसन्न हो गई और छोटी आंतों को तथा गर्भाशय की मांसपेशियों जैसी सरल मांसपेशियां शिथिल हो गई। मुख द्वारा लेने पर या अंतस्त्वक् और अंतर्मास सूचीवेधों द्वारा शरीर में डालने पर दवा क्षोभक नहीं है। राय (पटना ज. ऑफ मेडि., 1931, अक्टूबर) ने पाया कि दवा की साधारण मात्राओं से प्रतिक्षेपों (रिफलेक्सेज) पर वेदना की अनुभूति पर कोई प्रभाव नहीं होता। यदि मात्रा बड़ी है तो इससे गहरी नींद आती है। प्रतिक्षेपों तथा वेदना की अनुभूति कम हो जाती है और श्वास-केंद्र के स्तंभ के कारण श्वासावरोध से मृत्यु हो जाती है। श्वसन के बंद होने के बाद भी कुछ समय तक हृदय धड़कता रहता है।

अजमलीन, सर्पेंटीन और सर्पेंटाइन एल्कलाइडों के भेषजिकीय कार्य का

तुलनात्मक अध्ययन चौपड़ा और घोष ने किया। इनके द्वारा प्राप्त हुए परिणाम महत्त्वपूर्ण हैं। रासायनिक अध्ययन रचना में अजमलीन जैसे सर्पेंटाइन सादृश्य रखती हैं भेषजिकीय कार्य में भी वैसी ही है। केंद्रीय चेता-संहिति पर दोनों का अवसादक कार्य होता है और ये रक्त दबाव को गिराते हैं, जब कि सर्पेंटाइन बढ़ाता है। विशेष रूप के बनाए गए एक प्रदोललिख (औसिलोग्राफ) से किए गए परीक्षण दिखाते हैं कि चेता की प्रेरणा की बारंबारता के निर्मोचन को अजमलीन कम करती है।

बिल्लियों को खिलाने के परीक्षण दिखाते हैं कि पृथक-पृथक किसी एक एल्कलाइड की अपेक्षा संकलित एल्कलाइडों का निद्राकर प्रभाव अधिक स्पष्ट है।

नींद लाने वाली दवा

उन्माद, रक्तचाप और वहम की दवा के रूप में इस पौधे ने महत्त्व प्राप्त कर लिया है। उन्माद की रामबाण दवा के रूप में जनसाधारण में इसकी लोकप्रियता यह बताती है कि इसमें शामक गुण पर्याप्त हैं। प्रतीत होता है कि बिहार के लोगों को इस दवा का निद्राकर प्रभाव ज्ञात था। कहते हैं कि शिशुओं को नींद लाने के लिए इस दवा को देने की प्रथा अब भी उस प्रदेश में कई स्थानों पर है। अमेरिका में जहां रक्त का उच्च दबाव किसी भी देश की तुलना में अधिक है सर्पगंधा का प्रयोग अत्यंत लाभदायक पाया गया है।

रक्त के उच्च दबाव में

तीव्र मतिविभ्रम लक्षणों के उन्माद और उच्च दबाव के रोगियों पर सैन और वोस ने इसकी परीक्षा की। जड़ के चूर्ण की बीस से तीस ग्रैन की मात्राएं दिन में दो बार देने से न केवल शामक प्रभाव देखा गया परंतु रक्त दबाव भी घट गया था। एक सप्ताह में ही रोगी की संज्ञाएं फिर पहले की भांति साधारण अवस्था में आ जाती है। यद्यपि किसी-किसी उदाहरण में चिकित्सा अधिक दीर्घ काल तक करनी होती है। उच्च दबाव के रोगियों में इस दवा को सेन-बोस ने बहुत संतोषजनक पाया और उनका कहना है कि इसके प्रयोग में वाहिनियों के अंदर परिवर्तन भी नहीं देखे गए।

चिकित्सा संबंधी गुणों में सर्पगंधा की प्रतिनिधि सर्पीना टिकिये डाकटर आर. डब्ल्यू. विल्केंस और डॉ. डब्ल्यू. ई. जइसन ने उच्च तनाव के सौ से अधिक रोगियों को खिलाई। इनकी रिपोर्ट आठ जनवरी 1953 के न्यू इग्लैंड जर्नल आफ मेडिसिन

में प्रकाशित हुई हैं। रिपोर्ट सूचित करती हैं कि टिकिएं रायन पैदा करती है और नींद को सुखद बनाती हैं। यह देखा गया कि इनके प्रयोग में कभी-कभी दुःस्वप्न हो जाते हैं। प्रतीत होता है कि टिकिए सूचारू रूप से सहन हो जाती हैं। दवा के स्थायी प्रभाव छह सप्ताह से कम समय में पूर्णतया नहीं प्रगट होते। प्रगट रूप में यह ऐसी दवा नहीं है कि सेवन की आदत पड़ जाए। उच्च तनाव की अधिक शक्तिशाली दवाओं के सहायक के रूप में भी इसे दे सकते हैं। इसके सेवन काल में अन्य किसी प्रकार के भी गंभीर प्रभाव उत्पन्न होते हुए रिपोर्ट नहीं किए गए यद्यपि इन अन्वेषकों ने पाया कि यह दिल की धड़कन और नाक में अधिरक्तता (congestion) पैदा कर देती है, भार बढ़ाती है और आंतों का कार्य जरा-सा बढ़ा देती है।

पागलपन के कैसे रोगियों को दें?

उन्माद के सब रोगियों को सर्पगंधा से लाभ नहीं होता। खूब उत्तेजित और बलवान रोगी पर इसका प्रयोग करना चाहिए। दुर्बल, निस्तेज और मनोवसादग्रस्त रोगी पर सावधानी से इसका प्रयोग करना चाहिए। इन रोगियों के रक्त के दबाव की परीक्षा पहले करनी चाहिए। दबाव यदि अधिक हो तभी सर्पगंधा देनी चाहिए। जिन उन्माद रोगियों का रक्त दबाव कम हो उनको इससे लाभ नहीं होता।

अब तक प्राप्त विवरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि उन्माद में और केंद्रीय वात-संस्थान की विक्षुब्ध अवस्थाओं में दिए जाने वाली शामक दवाओं की सूची में यह मूल्यवान सिद्ध होगी। दवा की उपयोगिता को पूर्णतया स्थापित करने से पूर्व इसका द्रव्य गुण संबंधी तथा प्रयोगशाला संबंधी अध्ययन बड़े परिमाण में करना आवश्यक है।

बुखार, गर्भाशय के रोग

ज्वरहर के रूप में यह बहुत से स्थानों पर दी जाती है। बुखार और पैत्तिक विकारों में पानी के साथ दी जाती है। प्रबल ज्वर में देने से बेचैनी और मोह दूर होते हैं, अच्छी नींद आती है, प्रलाप दूर होता है, आंखों का वर्ण स्वाभाविक होता है और साथ ही ज्वर का वेग भी कम होता है। यह भी कहा जाता है कि गर्भाशयिक संकोचों को यह बढ़ाती है और गर्भ को निकालने में सहायता करती है। बुखारों में और प्रसवोत्तरकालीन अवस्थाओं में इसकी उपयोगिता के दावों की पूर्णतया पुष्टि नहीं हुई। इस दवा को और अधिक बड़े पैमाने पर परीक्षा करना उपयोगी होगा।

पेट के रोग

जावा में यह पुतेपन्दक के नाम से बेची जाती है। यहां पर इसे पान में रख कर पेट के दर्द और अन्य कष्टों में चबाते हैं। यह उदर कृमिहर समझी जाती है।

विषों में

पैमल (ए मैनुअल आफ पायजनस प्लांट्स, 1911) ने मत्स्याविण के लिए इस पौधे के प्रयोग का उल्लेख किया है परंतु चौपड़ा और दूसरे लेखकों ने भारत में इस औषधि को इस प्रयोजन के लिए व्यवहार करते हुए नहीं पाया। कहते हैं कि सर्पगंधा को खाकर नेवला अपने को सांप से युद्ध में प्रतिरचित बना लेता है।

त्वचा के रोगों में यह अनेक तरह से बरती जाती है।

लोक कहावतों में स्वास्थ्य चर्चा*

गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर'

संसार में सच्चे सुखी वे ही हैं जो निरोगी होते हैं। निरोगी रहने के लिए यह आवश्यक है कि बच्चों को बचपन ही से स्वस्थ रखने का ध्यान रखा जाए, उनको संयमी बनाया जाए, उनको ऐसी शिक्षा दी जाए जिससे वे स्वस्थ रहने की ओर अपना विशेष ध्यान दे सकें।

नगर में बसने वाले अपने आपको गांव वालों की बनिस्पत अधिक योग्य समझते हैं, किंतु यह उनका भ्रम है। गांवों में बसनेवाले युग परंपरा से जिस श्रवण-ज्ञान द्वारा अपना और अपने परिवारवालों का लालन-पालन करते हैं, वह बहुत-कुछ लोक-कहावतों में पाया जाता है।

लोक-कहावतों ही के ज्ञान के कारण उनको डाक्टरों का अभाव नहीं खटकता, जबकि नागरिक वैद्यों और डाक्टरों की सुविधाएं प्राप्त करके भी रोगी और दुखी रहते हैं। गांववाले जिनकी संख्या प्रायः 80 प्रतिशत है, लोक कहावतों के परिज्ञान द्वारा ही निरोग रहकर बलिष्ट बनते हैं।

लोक-कहावतों में प्रातःकाल से लेकर रात्रि तक की विविध अनुभूतियां मिला करती हैं। कोई भी उनके अनुसार आचरण करके देख ले, उनकी सत्यता की गहरी छाप हृदय पर पड़कर ही रहेगी। उदाहरणार्थ कुछ कहावतें दी जा रही हैं—

प्रातकाल खटिया से उठकै, पियै तुरन्तै पानी;
कबहूं घर मा बैद न अइहै, बात घाघ कै जानी।

आंखों में त्रिफला, दांतों में नोन,
भूखा राखै, चौथा कोन।

---

* आपका स्वास्थ्य, जून 1960

मोटी दतुअन जो करैं,
भूनी हर्र चबांय;
दूद-बियारी जो करैं,
उन घर बैद न जाय।
प्रातःकाल करै अस्नाना,
रोग-दोष एकौ नई आना।

अर्थात्—जो प्रातःकाल नित्य कर्म से निवृत्त होकर स्नान कर लेते हैं वे निरोग रहते हैं।

खाय कै मूतै, सूतै बाउं,
काय कौं बैद बसाबै गाउं।

अर्थात्—भोजन करने के पश्चात् जो मूत्र-त्याग (पेशाब) करते हैं और बायीं करवट लेकर सोते हैं, उनको यह चिंता नहीं रहती कि उनके गांव में वैद्य रहता है या नहीं।

बासी भात, तिबासी माठा,
औ ककरी की बतिया;
आदी रात जुड़ावनि आवै,
भुंइ लेबौ की खटिया।

अर्थात्—जो अज्ञानी मनुष्य दूसरे दिन, रखा हुआ भात खाते हैं, दो दिन का रखा हुआ मट्ठा पीते हैं, खीरा और फूट खाते हैं, उनको उसी रात से जाड़ा लगकर बुखार आने लगता है, फलस्वरूप महीनों चारपाई पर पड़ा रहना पड़ता है और कभी-कभी मृत्यु तक हो जाती है।

भोजन करके परै उतान,
आठ श्वांस छोड़ै परमान;
सोलह दहिने बत्तिस बाएं,
तब कल परै अन्न के खाएं।

अर्थात्—भोजन करने के पश्चात् सीधा लेट जाए और आठ श्वास आने-जाने दे, फिर दाहिनी करवट लेकर लेट जाए और सोलह श्वास आने-जाने दे, पश्चात् बायीं करवट लेटें और बत्तीस श्वास ले, इस प्रयोग से अन्न यथा-स्थान पेट में पहुंच जाता है।

वर्ष के बारह मासों में कब कम भोजन हितकर है, क्या-क्या खाद्य पदार्थ किस-किस मास में वर्जित हैं, यह ज्ञान भी कहावतों में है। यथा—

सावन ब्यारो जब-तब कीजे,
भादौं बाकौ नाम न लीजे;
क्वांर मास के दो पखवारे।
जतन-जतन सें काटौ प्यारे।

अर्थात्—श्रावण मास में रात्रि का भोजन कभी-कभी ही किया करें, भाद्रपद में रात्रि का भोजन करना ही नहीं चाहिए। आश्विन मास के दोनों ही पक्ष सतर्कतापूर्वक व्यतीत करना चाहिए अन्यथा अस्वस्थ हो जाने की आशंका हो ही जाती है।

कवांर करेला, चेतै गुड़,
भादौं में जो मूली खाय;
पैसा खोवै गांठ का
रोग-झकोरा खाय।

अर्थात्—आश्विन मास में जो करेला, चैत्र मास में गुड़ और भाद्रपद में मूली खाते हैं, वे गांठ का पैसा गंवाकर उससे रोग ही अपने पास में बुलाते हैं।

कातिक-मास, दिवाली जलाय;
जै बार चाबै तै बार खाय।

अर्थात्—कार्तिक-मास में दीपावली की पूजा करने के पश्चात् ऐसी ऋतु आ जाती है कि भोजन का परिपाक भली प्रकार होने लगता है, उन दिनों इच्छानुसार भोजन जितनी बार चाहे कर लिया करे।

चैतें गुड़, बैसाखे तेल,
जेठे पंथ, अषाड़ै बेल;
साउन सतुआ, भादौं महो,
क्वांर करेला, कातिक दही;
अगहन जीरा, पूसै धना,
माघे मिसरी, फागुन चना;
जो यह बारह देइ बचाय,
ता घर बैद कभउं नइं जाए।

अर्थात्—चैत्र में गुड़ खाना हानिकारक है क्योंकि नया गुड़ कफकारक होता है और इस मास में प्रकृति के अनुसार कफ की बहुलता रहती है। वैशाख में गर्मी की प्रखरता रहती है तेल गर्म होता है, अतएव हानिकर है। ज्येष्ठ मास में लू-लपट का दौर-दौरा रहता है, अतएव यात्राएं वर्जित हैं। आषाढ़ मास में

बेल नहीं खाना चाहिए, क्योंकि वह अनुकूल नहीं पड़ता, अग्नि को मंद कर देता है। सावन में वायु का कोप रहता है, सतुआ वायुकारक है, अतएव प्रतिकूल बैठता है। भाद्रपद में वर्षा होती रहती है और मट्ठा पित्त को कुपित करता है। आश्विन में करेला पककर पित्तकारक हो जाता है, अतएव हानिकर बैठता है।

कार्तिक में शरदागम के कारण पित्त का कोप और कफ का संचय होता है और दही से कफ बढ़ता है, इसलिए त्याज्य हैं अगहन में शीत अधिक होता है, जीरा की तासीर भी शीतकारक है, अतएव त्याज्य है, पौष में धान, माघ में मिसरी और फाल्गुन में चना प्रतिकूल बैठते हैं, इनको ध्यान में रखकर जो मनुष्य खाने-पीने में सावधानी रखते हैं, वे निरोग रहते हैं, उनको वैद्य की आवश्यकता नहीं पड़ती।

अद्‌भुत मछलियां*

आर. डी. विद्यार्थी

साधारण मछलियों के संबंध में तो तुमने पढ़ा होगा। समुद्र में कुछ अनोखी मछलियां भी मिलती हैं। इनमें से कुछ अनोखे ढंग से पानी के बाहर मिलने वाले कीड़ों का शिकार करती है, कुछ उड़ती हैं, कुछ आधुनिक नेऔन बल्ब की तरह रंगीन प्रकाश उत्पन्न करती हैं और कुछ बिजली उत्पन्न करके अपने शिकार को निस्सहाय कर देती हैं।

'तीरंदाज मछली' या आर्चर फिश, हिंद महासागर में मिलती है। यह करीब 5 इंच बढ़ी होती है और पानी की सतह पर उड़ने वाले कीड़ों का शिकार बड़े ही अनोखे ढंग से करती है। यह अपनी जीभ को तालू से सटाकर एक बहुत ही संकरी नली के समान रचना बनाती हैं जो एक प्रकार से फूंक-नली के समान काम करती है। इसी नली द्वारा यह अपने मुंह में भरे पानी को बूंदों के रूप में बड़ी तेजी से निकाल कर अचूक निशाना लगाती है। पांच-छह फीट की दूरी पर बैठा कीड़ा इस 'मशीनगन' की मार से तुरंत मरकर उसके मुंह में पहुंच जाता है।

आमतौर पर जननकाल में मादा मछली लगभग 28,000,000 अंडे देती है। किंतु 14,000,000 अंडों में से एक ही का परिवर्धन होता है। शेष नष्ट हो जाते हैं। अपने अंडे-बच्चों की हिफाजत करने के लिए मादा **सैमलेट (Samlet)** मछली पानी में से उछाल मार कर पास-पड़ोस में स्थित पौधों पर अंडे देती है। अपने अंडों को सूखने से बचाने के लिए, जब तक कि उन अंडों से बच्चे नहीं निकल आते, वह उन पर बराबर पानी उलीचा करती है।

आस्ट्रेलिया के उत्तरी भागों में एक अनोखी मछली मिलती है जिसे रिमोरा

---

* विज्ञान लोक, फरवरी 1960

या सकरशार्क कहते हैं। इसके सिर के ऊपरी भाग में एक अंडाकार लसलसी संरचना होती है। जिसे अंगरेजी में सकर (Sucker) कहते हैं। इसी रचना की सहायता से वह अपने को किसी बड़ी शार्क मछली की त्वचा या जहाज से चिपका कर बड़े मजे में हजारों मील का सफर बिना परिश्रम तय कर लेती है। इस मछली द्वारा मछुए बड़े-बड़े कछुओं का शिकार भी करते हैं। मछुए इस मछली की पूंछ के आधार पर लोहे का एक छल्ला पहना देते हैं और इसमें एक मजबूत रस्सी बांध कर इसे समुद्र में शिकार की खोज में दूर तक जाने देते हैं। मौका पाते ही यह मछली अपने लसलसे सकर को कछुए की त्वचा पर चिपका देती है और तब मछुए रस्सी खींच लेते हैं। इस प्रकार एक मन से भी अधिक भारी कछुए आसानी से पकड़ लिए जाते हैं।

पेरिऔफ्थैलमस नाम की मछली जब तैरते-तैरते ऊब जाती है तो पानी की सतह पर उछाल मारती है। एक उछाल में यह लगभग 12 इंच आगे बढ़ती है। पानी की सतह के ऊपर उठी किसी चट्टान के निकट पहुंचकर यह मछली, जिसे 'मडस्किपर' भी कहते हैं, अपने मजबूत पैक्टोरल फिन्स की टेक लगाकर ऊपर चढ़ जाती है और फिर वहां कुछ समय तक विश्राम करती है और अपना मन बहलाती है।

उष्ण कटिबंध में लगभग 65 प्रकार की उड़ने वाली मछलियां मिलती हैं। इनमें से कुछ समुद्र की सतह से लगभग 12 गज की ऊंचाई पर एक बार में 1200 फीट की दूरी तक सरलता से उड़ सकती हैं। इन मछलियों के दोनों पैक्टोरल फिन्स विशेष रूप से लंबे तथा चोड़े हो जाते हैं किंतु ये उड़ने में सहायता नहीं देते, वरन् हवा में शरीर को साधे रखते हैं। हवा में सधे हुए शरीर को आगे बढ़ने में इनकी चौड़ी तथा चपटी पूंछ सहायता देती है।

नर **स्टिकिलबैक** तो संतान के प्रेम में दीवाना रहता है। यह बेचारा बड़े परिश्रम से घोंसला बनाता है। घोंसला तिनकों तथा टहनियों का होता है जिन्हें जोड़ने के लिए नर अपनी एक ग्लैंड द्वारा डोरे उत्पन्न करता है। इस घोंसले को किसी जलीय पौधे से अटका कर वह मादा की खोज में निकलता है। अपने सुंदर लाल रंग द्वारा मादा को आकर्षित करके उसे अपने नव-निर्मित घर में ले आता है। मादा घोंसले में अंडे देती है और तब नर स्टिकिलबैक उनका निषेचन कर देता है। मादा अंडे देने के बाद खिसक जाती हैं नर अब दूसरी मादा को लुभा लाता है। वह भी घोंसले में अंडे देकर निकल भागती है। जब तक घोंसला अंडों से पूरी तौर पर भर नहीं जाता, यही क्रम चला करता है। अब स्टिकिलबैक महाशय

अपने घोंसले पर बैठकर लगभग तीन सप्ताह तक बड़ी मुस्तैदी से चौकीदारी करते हैं। इन अंडों की रक्षा करने के लिए अपने से बीस गुनी बड़ी मछली से भी मोर्चा लेने में वह नहीं हिचकता।

प्रकाश उत्पन्न करने वाली भी अनेक मछलियां मिलती हैं। हिंद महासागर की अथाह गहराई में मिलने वाली **'एंग्लर फिश'** आकृति में बड़ी भयानक होती हैं। लोफियस नामक एंग्लर फिश एटलांटिक महासागर में मिलती है। इसके तुंड की पृष्ठ सतह पर बांसी सदृश एक लंबी रचना होती है जिसके सिरे पर अनेक दीप्त टेन्टेकिल्स होते हैं जो देखने में कृमिवत् लगते हैं। अन्य मछलियां तथा जंतु जब इन कृमिवत् टेन्टेकिल्स की ओर आकृष्ट होते हैं तो लोफियस उन्हें अपने विशाल मुख द्वारा निगल जाती है। कुछ मछलियां तो कई रंग का प्रकाश उत्पन्न करती हैं। लाल, नीला, नारंगी, बैंगनी इत्यादि रंगों का प्रकाश उत्पन्न करने वाले अंग इनके शरीर के विभिन्न भागों में मिलते हैं।

अफ्रीका में अनोखी **मड-फिश** मिलती है जो कि जल-श्वसनिकाओं या गिल्स तथा फेफड़ों के सदृश वायु-वेश्म द्वारा सांस लेती है। नदियों में जब पानी होता है तो सामान्य मछलियों की तरह यह गिल्स द्वारा सांस लेती है किंतु गरमी के मौसम में जब नदी का पानी सूखने लगता है तो यह तले की नम मिट्टी में किसी खोखली जगह घुस जाती है। पानी के पूरे तौर पर सूख जाने पर भी यह जीवित रहती है। इस अवस्था में यह फेफड़ों द्वारा सांस लेती है। वर्षा ऋतु आते ही जब नदियां पानी से भर जाती हैं तो मड-फिश बाहर निकल कर पुनः गिल्स द्वारा सांस लेने लगती है।

कुछ मछलियां बिजली भी उत्पन्न करती हैं। **विद्युत-ईल** सांप के समान 9-10 फीट लंबी होती है। इसके शरीर में तीन बैटरी होती हैं जिनसे इच्छानुसार बिजली पैदा की जा सकती है। पॉजिटिव पोल शरीर के अगले भाग में और निगेटिव पोल पिछले भाग में होता है। जब कभी ईल का शिकार इसके निकट जाता है, यह अपने शरीर के दोनों सिरों को शत्रु के शरीर से छुआ कर बिजली के तेज धक्के द्वारा उसका प्राणांत कर देती है। इस अनोखी मछली में एक और विशेषता है। अन्य मछलियों के विपरीत यह पीछे की ओर भी उतनी ही तेजी से तैर सकती है जितनी तैजी से आगे की ओर।

26

ब्रह्मांड की ईंटें*

डॉ. हीरालाल निगम

आदिकाल से ही मनुष्य पदार्थों के संपर्क में आया, संपन्नता और अमरता प्राप्त करने की प्रेरणा से उसने पदार्थ के अंतिम सत्य का अध्ययन करने का प्रयास किया। सभ्यता के प्रथम प्रभात में ही हिंदू दार्शनिकों ने क्षिति, जल, पावक, गगन व समीर नामी पंच तत्त्वों से पदार्थ को बना बताया। यूनान में ईसा में 500 वर्ष पूर्व विद्वानों का यह मत था कि पदार्थ-जगत के मूल में अग्नि, जल, वायु और पृथ्वी हैं। इसी मत पर आधारित उनकी तत्त्वसारिणी से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि रासायनिक प्रतिक्रियाओं से क्या अर्थ है? उदाहरणार्थ, लकड़ी की रचना पृथ्वी तथा अग्नि तत्त्व से हुई है। मिस्र, भारत, चीन, यूनान और बैबीलोनिया आदि देशों के प्राचीन इतिहास मानव मस्तिष्क की पदार्थ संबंधी कल्पनाओं से भरे पड़े हैं किंतु उनमें न उलझकर यह समझ लेना पर्याप्त होगा कि हमारी पृथ्वी की समस्त वस्तुएं ही नहीं वरन् सारे ब्रह्मांड की रचना रासायनिक तत्त्वों से हुई है। आधुनिक रसायन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्राचीन दर्शन की धारणा त्रुटिपूर्ण थी। यदि हम बौद्धिक रूप से क्षिति, जल व समीर को पदार्थ की तीन अवस्थाएं ठोस, द्रव व वायव्य और गगन तत्त्व को दिक् तथा अग्नि तत्त्व को शक्ति का पर्याय मान लें तो पदार्थ व ब्रह्मांड रचना का रहस्य बुद्धिगम्य हो जाता है किंतु रासायनिक दृष्टि से तत्त्वों की परिभाषा भिन्न है। **रासायनिक तत्त्व से ऐसे विशिष्ट कण का बोध होता है जिसमें केवल एक ही प्रकार के परमाणु** (atoms) **विद्यमान हों।** उदाहरणार्थ सुवर्ण का एक टुकड़ा ले लें—हम काटकर उसके अनेक खंड कर सकते हैं, छीलकर बारीक छीजन प्राप्त कर सकते हैं, तेज आंच में गलाकर पानी की तरह बहा सकते हैं और अधिक तेज आंच में इसे गैसीय रूप दे सकते

* विज्ञान, दिसम्बर 1960

हैं किंतु प्रत्येक न्यूनतम खंड में, द्रव्य की प्रत्येक बूंद में, भाप के प्रत्येक बुलबुले में सुवर्ण परमाणुओं के सिवा और कुछ नहीं होगा। इस प्रकार परमाणु किसी तत्त्व का सूक्ष्म कण है जो सरलता से देखा जा सकता है।

एक ही प्रकार के परमाणु परस्पर संयोग कर अणु (molecule) बनाते हैं, जैसे दो आक्सीजन परमाणु मिलकर ऑक्सीजन अणु बनाते हैं। विभिन्न प्रकार के परमाणु परस्पर प्रतिक्रिया कर यौगिक (compound) बनाते हैं। विशेषता है और कि रासायनिक यौगिक के बनने में प्रतिकृत अणु और परमाणु अपना अस्तित्त्व खो बैठते हैं। विषाक्त क्लोरीन गैस और उतने ही विषाक्त सोडियम धातु के संयोग से हमारे भोजन की सर्वप्रिय वस्तु **लवण** का निर्माण होता है : कितना मनोरंजक विषय है यह? लवण यानी सोडियम क्लोराइड के एक अणु में एक सोडियम परमाणु व एक क्लोरीन परमाणु होता है। सांकेतिक रूप से सोडियम को *Na*, क्लोरीन को *Cl* और इसीलिए सोडियम क्लोराइड को *NaCl* लिखने की पद्धति है। वस्तुतः हर तत्त्व का एक संकेत है। संकेतों को मिलाकर सूत्र बनता है जैसे NaCl। इसी प्रकार नित्यप्रति की आवश्यक वस्तु शर्करा का सूत्र $C_{12}H_{22}O_{11}$ है। यानी इसके एक अणु में 12 कार्बन परमाणु, 22 हाइड्रोजन परमाणु और 11 आक्सीजन परमाणु हैं। चूने के पत्थर का सूत्र $CaCO_3$ है, यानी इसके एक अणु में एक कैल्शियम परमाणु, एक कार्बन परमाणु और तीन ऑक्सीजन परमाणु हैं। गर्म करने पर इसका विभाजन हो जाता है; कार्बन डाई आक्साइड गैस (जिसका सूत्र CO_2 है) निकल जाती है और चूना (जिसका सूत्र CaO है) शेष रह जाता है। इस रासायनिक परिवर्तन को एक **समीकरण** द्वारा संक्षेप में लिखते हैं–

$$CaCO_3 + \text{ऊष्मा} = CaO + Co_2$$
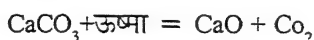
इससे स्पष्ट है कि परमाणु ही रासायनिक परिवर्तन की इकाई है। वस्तुतः परमाणुओं का अस्तित्त्व, परमाणुओं की अंतर्रचना का अध्ययन ही पदार्थ के अंतिम सत्य के अध्ययन का प्रतीक है। जितने प्रकार के तत्त्व हैं उतने ही प्रकार के परमाणु होंगे इसलिए ब्रह्मांड रचना का रहस्य तत्त्वों की खोज में निहित है।

रासायनिक तत्त्व नामी ईटों से पदार्थ मात्र का निर्माण हुआ है, यह 'ईंटें' गणना में अभी तक 102 हैं जिनमें से 88 तो प्रकृति में स्थायी रूप से प्राप्य हैं। भार के मापदंड से हाइड्रोजन प्रथम तत्त्व है। यह सबसे हल्का तत्त्व है और यूरेनियम जिसकी संख्या 92-वीं है, सबसे भारी हैं बीच के चार तत्त्व टेक्नीशियम (तत्त्व संख्या, 43), प्रोमीथियम (तत्त्व संख्या, 61), ऐस्टेटीन (तत्त्व संख्या, 85)

तत्त्व सारिणी

हाइड्रोजन को इकाई मानकर तत्त्व संख्या के क्रमानुसार ब्रह्मांड की तथाकथित 102 ईंटें सारणी में यथास्थान दिखाई गई हैं। तत्त्व का संकेत और संख्या भी दी गई हैं।

H (1)																	He (2)
Li (3)	Be (4)											B (5)	C (6)	N (7)	O (8)	F (9)	Ne (10)
Na (11)	Mg (12)											Al (13)	Si (14)	P (15)	S (16)	Cl (17)	A (18)
K (19)	Ca (20)	Tc (21)	Ti (22)	V (23)	Cr (24)	Mn (25)	Fe (26)	Co (27)	N (28)	Cu (29)	Zn (30)	Ca (31)	Ge (32)	As (33)	Se (34)	Br (35)	Kr (36)
Rb (37)	Sr (38)	Y (39)	Zr (40)	Nb (41)	Mo (42)	Tc (43)	Ru (44)	Rh (45)	Pd (46)	Ag (47)	Cd (48)	In (59)	Sn (50)	Sb (51)	Te (52)	I (53)	Xe (54)
Cs (55)	Ba (56)	La	Hf (72)	Ta (73)	W (74)	Re (75)	Os (76)	Ir (77)	Pt (78)	Au (79)	Hg (80)	Tl (81)	Pb (82)	Bi (83)	Po (84)	At (85)	Rn (86)
Fr (87)	Ra (88)	Ac															

La	Ce	Pr	Nd	Pm	Sm	Eu	Gd	Tb	Dy	Ho	Er	Tm	Yb	Lu
57	58	59	60	61	62	63	64	65	66	67	68	69	70	71

Ac	Th	Pa	U	Np	Pu	Am	Cm	Bk	Cf	Es	Fm	Md	No	
(89)	(90)	(91)	(92)	(93)	(94)	(95)	(96)	(97)	(98)	(99)	(100)	(101)	(102)	(103)

और फ्रान्सियम (तत्त्व संख्या, 87) हैं। ये चारों बहुत ही अस्थायी हैं। वस्तुतः लगभग 5 अरब वर्ष पूर्व जब हमारी पृथ्वी की सृष्टि हुई थी, ये चारों तत्त्व भी प्रकृति में प्राप्य रहे होंगे किंतु रश्मिकारी होने के कारण इनका क्षय हो गया। इन चार तत्त्वों के सिवा भी कुछ परा-यूरेनियम तत्त्व हैं किंतु ये तत्त्व और भी अधिक अस्थायी हैं और प्रकृति में नहीं पाए जाते। उक्त चार तत्त्वों की भांति ये भी मानव निर्मित हैं। आधुनिक रसायन अभी तक केवल दस (10) ऐसे तत्त्वों के संश्लेषण में सफल हुआ है। कठिनाई यह है कि ये बड़े शक्तिमान रश्मिकारी तत्त्व हैं और इनका क्षय बड़े वेग से होता है। वस्तुतः सीसा (लेड, तत्त्व संख्या, 82) व विस्मथ (तत्त्व संख्या 83) से भारी सभी तत्त्व–पोलोनियम, रैडान, रेडियम, ऐक्टीनियम, थोरियम, प्रोटोऐक्टीनियम और यूरेनियम रश्मिकारी हैं और आश्चर्य की बात नहीं यदि भविष्य में ये सभी तत्त्व इस धरातल से लुप्त हो जाएं।

उक्त सारिणी से यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल के दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों की प्रकृति क्या है? किसी वस्तु के ऑक्सीजन में जलने से जो ताप व प्रकाश उत्पन्न होता है उसे ही पहले अग्नि तत्त्व की संज्ञा दी जाती थी, वायु भी ऑक्सीजन, नाइट्रोजन आदि कई तत्त्वों का मिश्रण है। जल हाइड्रोजन व ऑक्सीजन के विशिष्ट अनुपात से बना एक यौगिक है; क्षिति के गर्भ में तो लगभग 88 तत्त्व हैं; आकाश शून्य स्थान है।

तत्त्वों की सारिणी को आवर्त्त सारिणी (Periodic Table) कहते हैं क्योंकि इसमें समान गुण वाले तत्त्व एक के नीचे एक रखे गए हैं।

प्रश्न यह उठता है कि एक तत्त्व दूसरे तत्त्व से क्योंकर भिन्न है? इसका उत्तर आधुनिक रसायन ने ज्ञात कर लिया है और वह यह है कि प्रत्येक तत्त्व एक ही प्रकार के मूलभूत (fundamental) कणों से बना है। केवल उन कणों की संख्या और व्यवस्था भिन्न तत्त्वों में भिन्न है।

19वीं शती के तृतीय चरण में **प्लकर** (Plucker), **हिटार्फ** (Hittorf), **सर विलियम क्रुक्स** (Sir William Crooks) आदि कई वैज्ञानिकों ने यह देखा कि जब किसी गैस में कम दाब पर विद्युत प्रवाहित की जाती है (चित्र 1) तो ऋणाग्र से एक प्रकार की किरणें निकलती दिखाई पड़ती हैं। ये-किरणें **ऋणाग्र** से **धनाग्र** की ओर जाती हैं। इन किरणों को **ऋणाणु किरणें** (cathode rays) कहते हैं। इनमें वस्तुतः **ऋणाणु** या **इलेक्ट्रॉन** होते हैं। जिनमें ऋण आवेश होता है। सर **जे. जे. थामसन** ने यह सद्धि किया कि चाहे जो गैस ली जाए, या जिस भी तत्त्व के धनाग्र या ऋणाग्र बनाए जाएं, प्रत्येक दशा में वही किरणें निकलती हैं, यानी

इलेक्ट्रॉन सभी परमाणुओं के आवश्यक अंग हैं। चूंकि परमाणु विद्युत-उदासीन होता है, इसलिए इलेक्ट्रान का कोई प्रति-कण होना आवश्यक है। इसी प्रकार के प्रयोगों द्वारा अब यह ज्ञात हो गया है कि प्रत्येक तत्त्व की अंतर्रचना में मुख्यकर तीन प्रकार के मूलभूत कण हैं–

(1) **इलेक्ट्रान**–इसका भार हाइड्रोजन परमाणु के भार का 1/1840 है यानी नगण्य है। इसमें ऋणात्मक आवेश हैं। आवेश की यही मात्रा इकाई मानी जाती है।

(2) **प्रोटान**–इसमें धनात्मक आवेश है। आवेश की मात्रा इलेक्ट्रान के आवेश के बराबर है। प्रोटान का भार हाइड्रोजन के भार के बराबर है।

(3) **न्यूट्रान**–इसका भार प्रोटान के बराबर है किंतु इसमें विद्युत आवेश नहीं होता।

रश्मिकारी या **रेडियो धर्मी** पदार्थों से कई प्रकार की किरणें निकलती हैं। स्पष्ट है कि इन किरणों का संबंध उन तत्त्वों की अंतर्रचना से है। **मैडम क्यूरी** (1895) तथा अन्य वैज्ञानिकों के अनुसंधान द्वारा तीन प्रकार की मुख्य किरणें पाई गई हैं, जिन्हें **अल्फा किरण** (हाइड्रोजन का चौगुना भार यानी भार संख्या 4 और विद्युत आवेश प्रोटान का दुगना यानी आवेश संख्या +2 है); **बीटा किरण** (इलेक्ट्रान के बराबर आवेश संख्या व भार संख्या) तथा **गामा किरण** (ऊर्जा मात्र) की संज्ञा दी गई है।
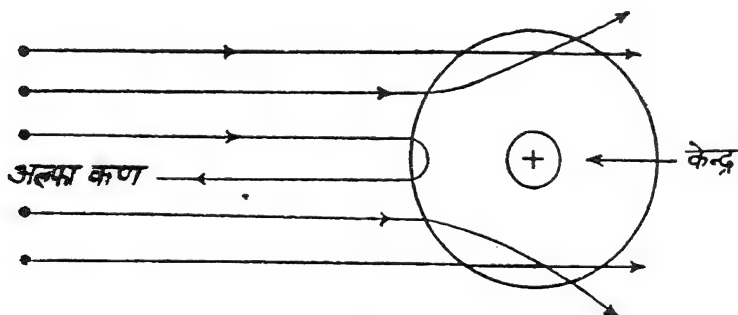
चित्र-1

सन् 1911 में **लार्ड रदरफोर्ड** ने देखा कि सोने की एक अत्यंत क्षीण परत पर जब अल्फा किरणें टकराती हैं तो कुछ कण सीधे पार चले जाते हैं किंतु कुछ परावर्तित हो जाते हैं। इससे यह अनुमान लगाया गया कि परमाणु के अंतर्तम भाग में धन विद्युत है (यानी प्रोटान कण हैं) जिससे प्रतिकर्षित होकर अल्फा

कण लौट जाते हैं, अन्य कण केंद्र के दूरस्थ भाग से गुजरते हैं और जो ऋण आवेश (इलेक्ट्रान कणों के करीब) अंतर्तम भाग के चारों ओर हैं उससे अप्रभावित रहते हुए सीधे पार हो जाते हैं (चित्र 1); परमाणु का केंद्र भारी होगा और शेष धरातल खोखला।

सन् 1913 में आचार्य **नील बोर** ने परमाणु रचना का विद्युतीय सिद्धांत प्रतिपादित किया। यह समझना सरल है कि प्रत्येक परमाणु के मध्य में एक केंद्र होगा जिसमें धन आवेश होगा और केंद्र के चारों ओर ऋणाणु यानी इलेक्ट्रान चक्कर लगाते होंगे। इस प्रकार हाइड्रोजन परमाणु (परमाणु संख्या 1) में एक प्रोटान केंद्र में और एक इलेक्ट्रान परिधि में होंगे जिसकी रचना चित्र 2 की भांति होगी। हीलियम परमाणु में दो प्रोटान केंद्र में और दो इलेक्ट्रान परिधि में होंगे (चित्र 3)। हीलियम परमाणु का भार चार है इसलिए भार पूरा करने के लिए केंद्र में न्यूट्रान भी होने चाहिए।
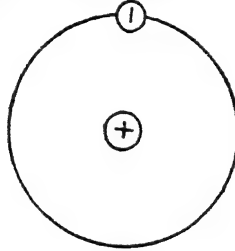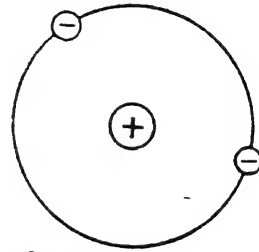
चित्र-2 चित्र-3

बाह्य परिधि में इलेक्ट्रान-व्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अमुक परिधि में एक निश्चित संख्या ही इलेक्ट्रान कणों की रह सकती है। **प्रथम परिधि में 2, द्वितीय में 8, तृतीय में 18 और चतुर्थ में 32 इलेक्ट्रान व्यवस्थित हो सकते हैं।** इसलिए लीथियम परमाणु में (परमाणु संख्या 3) तीन प्रोटान केंद्र में, तो तीन इलेक्ट्रान परिधियों में होंगे। स्पष्ट है कि 2 इलेक्ट्रान प्रथम परिधि में होंगे और तीसरा इलेक्ट्रान दूसरी परिधि में लीथियम का भार 7 है इसलिए भार पूरा करने के लिए 4 न्यूट्रान केंद्र में होना आवश्यक है। सोडियम परमाणु (परमाणु संख्या 11) में 11 प्रोटान केंद्र में तो 11 इलेक्ट्रान परिधियों में होंगे यानी 2 प्रथम परिधि में 8 द्वितीय परिधि में और 1 तृतीय परिधि में। सोडियम परमाणु का भार 23 है इसलिए भार पूरा करने के लिए 12 न्यूट्रान केंद्र में होंगे। लीथियम और सोडियम के परमाणु चित्रण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि इलेक्ट्रान-व्यवस्था समरूप है यानी बाह्य परिधि में 1 इलेक्ट्रान है और अन्दर की परिधियां इलेक्ट्रान कणों से संतृप्त

हैं, इसीलिए लीथियम और सोडियम में इतनी समानता है और आवर्त्त सारिणी में सोडियम लीथियम के ठीक नीचे आता है।

फ्लोरीन (परमाणु संख्या 9) में 9 प्रोटान केंद्र में होंगे तो 9 इलेक्ट्रान बाह्य परिधियों में होंगे यानी 2 प्रथम परिधि में और 7 द्वितीय परिधि में। प्रत्येक परमाणु यह प्रयत्न करता है कि परिधियों में इलेक्ट्रान संख्या भरपूर रहे, यानी सोडियम परमाणु अपनी तीसरी बाह्यतम परिधि से एक इलेक्ट्रान खो सकता है और फ्लोरीन परमाणु अपनी दूसरी बाह्यतम परिधि में एक और इलेक्ट्रान ले सकता है, तब दोनों अपनी बाह्यतम परिधियों में इलेक्ट्रान से संतृप्त होंगे। इसीलिए दोनों मिलकर सोडियम फ्लोराइड NaF नामक यौगिक बनाते हैं। रासायनिक संयोग को, ऐसे तर्कों के आधार पर बाह्यतम परिधियों के इलेक्ट्रानों का आदान-प्रदान का प्रतिफल मानते हैं क्योंकि इस आदान-प्रदान के कारण परमाणु में अवशिष्ट विद्युत-आवेश रहता है और इसी के आकर्ष-प्रतिकर्ष से रासायनिक संयोग को बल मिलता है। अवशिष्ट विद्युत आवेश जब परमाणु में होता है तो उसे आयन (Ion) की संज्ञा दी जाती है। केंद्र में स्थित प्रोटान व न्यूट्रान रासायनिक संयोग से कोई संबंध नहीं रखते। मार्के की बात यह है कि यदि केंद्र में 1 प्रोटान बढ़ाया जाए तो परिधि में एक इलेक्ट्रान अवश्य बढ़ाना पड़ेगा। प्रोटान व इलेक्ट्रान की संख्या स्पष्टतः बराबर होनी चाहिए क्योंकि परमाणु अपने स्वतंत्र रूप में विद्युत उदासीन है। यही संख्या **'परमाणु संख्या'** कहलाती है और इसी क्रम में आवर्त सारिणी में परमाणु-विशेष स्थापित किया गया है। न्यूट्रान केवल भार पूर्ति के लिए केंद्र में रखे जाते हैं। यदि हम हाइड्रोजन परमाणु में एक और न्यूट्रान बढ़ा दें तो केंद्र का भार दो हो जाएगा किंतु परमाणु संख्या वही रहेगी। हाइड्रोजन का यह रूप 'ड्यूटीरियम' कहलाता है और परमाणु संख्या वही होने के कारण हाइड्रोजन के ही साथ आवर्त्त सारिणी में रखा जाता है यानी ड्यूटीरियम हाइड्रोजन का **समस्थानिक** है। प्रकृति में प्राप्त यूरेनियम (परमाणु संख्या 92) का भार 238 के लगभग है यानी उसमें 92 प्रोटान व 146 न्यूट्रान होंगे। इसे हम U-238 कहेंगे किंतु कुछ अंश U-235 का भी है जिसमें प्रोटान तो 92 ही होंगे किंतु न्यूट्रान 143 होंगे, यह यूरेनियम 238 का एक समस्थानिक (U-235) हुआ, इसी को विखंडित कर सर्वप्रथम **परमाणविक ऊर्जा** का सृजन हुआ। रसायन के इतिहास में यूरेनियम के इस समस्थानिक का अद्वितीय महत्त्व है। वस्तुतः प्रत्येक परमाणु के एक से अधिक समस्थानिक होते हैं और उन्हीं के भिन्न अनुपात में विद्यमान होने के कारण परमाणु भार पूर्ण संख्या (केंद्र में स्थिति प्रोटान + न्यूट्रान के भार के बराबर) न होकर

भिन्न में होता है।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि पदार्थ की अंतर्रचना में कुछ मूलभूत कण हैं और कणों की संख्या व व्यवस्था के क्रम से ब्रह्मांड की अभी तक ज्ञात रासायनिक तत्त्व नामी इन 102 ईंटों का निर्माण हुआ है।

इन्हीं ईंटों को सजाकर विभिन्न परमाणुओं को विभिन्न प्रकार से व्यवस्थित करने से हमें नाना प्रकार के पदार्थों के अणु प्राप्त होते हैं; क्या लोहा, क्या लकड़ी, क्या चमड़ा, क्या कपड़ा, सभी के अणु इन्हीं 102 प्रकार की ईंटों से बने हैं और इन ईंटों की अंतर्रचना इलेक्ट्रान, प्रोटान, न्यूट्रान (वस्तुतः अभी तक 16 मूलभूत कण ज्ञात हैं) आदि विद्युत आवेशित सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों में हुई है, सृजन शक्ति उक्त आवेशों के आकर्षण-प्रतिकर्षण मात्र में निहित है जिससे 'एकोऽहम् बहुस्याम' पूर्ण रूप से घटित प्रतीत होता है।

रासायनिक तत्त्वों (जिनको हम ब्रह्मांड की ईंटों से संबोधित करते हैं) के परमाणु इतने सूक्ष्म हैं कि उन्हें समक्ष देखा नहीं जा सकता है। इनके प्रभावों को देखकर उनके अस्तित्त्व का अनुमान लगाना कठिन नहीं। उदाहरणार्थ, यदि हाइड्रोजन परमाणु की बाह्य परिधि से एक इलेक्ट्रान निकाल दिया जाए और शेष हाइड्रोजन केंद्र जो धन विद्युत से आवेशित है, को नम वायु में प्रेषित किया जाए तो अपनी यात्रा में वह भाफ की एक लकीर सी बनाएगा जैसे कोई लघुतम हवाई जहाज उस पथ से जा रहा हो। यह लकीर या पथ-चिह्न समक्ष देखा जा सकता है या उसका फोटो लिया जा सकता है। अणु यद्यपि परमाणुओं के संयोग से बनते हैं किंतु उन्हें भी देखना कठिन है; हां, कुछ अणु जो बहुत ही विशालकाय हैं उनकी झलक 'इलेक्ट्रान माइक्रोस्कोप' यानी सूक्ष्मवीक्षण यंत्र द्वारा देखी जा सकती हैं यंत्र की शक्ति इतनी होनी चाहिए कि अणु विशेष के व्यास को लगभग 2 लाख गुना बड़ा बनाकर दिखा सके परंतु उसमें भी अणु विशेष एक लघुतम बिंदु के बराबर ही दिखाई देगा। इसी सिद्धांत पर कार्य करते हुए **डॉ. इरविन मुलर** सन् 1957 में अपने शक्तिशाली 'फील्ड आयन-माइक्रॉस्कोप' द्वारा सर्वप्रथम टंगूसटन तत्त्व के परमाणुओं का वैयक्तिक दिग्दर्शन कराने में सफल हुए। उनके यंत्र में इतनी शक्ति थी कि वह अनुवीक्षित परमाणु के व्यास को 20 लाख गुना बढ़ाकर दिखा सके। ऐसी दशा में भी टंग्स्टन का एक परमाणु एक बिंदु ही दिखाई पड़ा, कई परमाणुओं का पुंज एक बड़ा बिंदु बनकर ही रह गया। आधुनिक खोजों से यह ज्ञात होता है कि परमाणु का दिक्मान (यदि उसे वृत्ताकार मान लिया जाए) यानी उसका व्यास 1 सेंटीमीटर के 1 करोड़वें हिस्से के बराबर है और

केंद्र का दिक्मान 1 सेंटीमर के 1 खरब अंश के बराबर है।

प्रत्येक तत्त्व के परमाणु में, जिसका लघुरूप मानव मस्तिष्क को हैरान करने वाला है, ब्रह्मांड के सृजन की शक्ति निहित है, उन तत्त्वों का ज्ञान मानव-समाज के लिए कितना महत्त्वपूर्ण है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। मानव चिंतन की जिन प्राचीन एवं नवीन धाराओं के बीच यह ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है, जिन विचार-वीथियों में क्रीड़ा कर रसायन विज्ञान प्रकृति-मंथन से ये एक शत और दो रत्न हस्तामलक कर पाया है, उन्हीं का संक्षेप किंतु क्रमशः वर्णन यहां अभीष्ट है। सुविधा के लिए हम निम्न विभाजन करके तत्त्वों की खोज का ऐतिहासिक अवलोकन कर सकते हैं—

(1) आदिकाल के 16वीं शताब्दी तक
(2) 17वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध
(3) सन् 1760 से सन् 1795 तक
(4) सन् 1796 से सन् 1925 तक
(5) सन् 1925 से आगे

27

गणित और देवनागरी*

डाक्टर गोरख प्रसाद

देवनागरी लिपि में गणित की छपाई में कुछ विशेष कठिनाइयां पड़ती हैं जिन पर विचार करना लाभदायक होगा। पहली कठिनाई तो यह है कि देवनागरी में एक ही नाप के कई प्रकार के टाइप नहीं मिलते। अंग्रेजी में कैपिटल और छोटे (लोअर फेस) टाइप तो बराबर ही प्रयुक्त होते हैं, साथ ही कैपिटल और छोटे तिरछे (इटैलिक) टाइप, कैपिटल, और छोटे काले (ऐंटीक) टाइप और 'स्मॉल कैपिटल्स' प्रायः सभी प्रेसों में रहते हैं। इस प्रकार अंग्रेजी में प्रत्येक अक्षर सात रूपों में मिलता है। उच्च गणित में इन्हीं अक्षरों का पुराना जरमन रूप भी कभी-कभी प्रयुक्त होता है। देवनागरी में साधारण और काले, बस ये दो ही प्रकार के अक्षर रहते हैं; काले अक्षर का अर्थ है वैसा अक्षर जो साधारण अक्षर के ही बराबर हो, परंतु मानो मोटी लेखनी से लिखा गया हो। कई प्रेसों में तो काले अक्षर भी नहीं रहते। जब आवश्यकता पड़ती है तो बड़े नाप का अक्षर लगा कर काम चलाते हैं, परंतु उससे कम्पोजिंग में कठिनाई पड़ती है। देवनागरी में तिरछे अक्षर अवश्य बने है, परंतु उनका प्रचलन कम है और साधारण अक्षरों से वे इतने भिन्न नहीं होते कि उनकी पहचान तुरंत हो सके। अंग्रेजी में इटैलिक अक्षर केवल तिरछे ही नहीं होते, साधारणतः उनका रूप भी विभिन्न होता है। मोनोटाइप मशीन के लिए दो ही प्रकार के अक्षर बने हैं, सादा और काला; तिरछे अक्षर नहीं बने। मैंने अभी तक कहीं भी ऐसी देवनागरी छपाई नहीं देखी है जिसमें मोनोटाइप के साधारण अक्षरों के बराबर तिरछे अक्षर हों; जितने भी तिरछे अक्षर अभी तक बने हैं सब बड़े हैं। इस प्रकार वर्तमान समय में हमें देवनागरी में गणित की छपाई के लिए दो ही प्रकार के अक्षरों से संतोष

* विज्ञान, अगस्त 1960

करना पड़ता है।

स्वभावतः प्रश्न उठता है कि इस परिस्थिति में क्या किया जाए? गणित की छपाई रुकी तो रहेगी नहीं। इन्टरमीडियेट कक्षा तक की गणित-पुस्तकें बराबर बिक रही है। लोगों ने कुछ उपाय किया है। यहां इस पर विचार करना है कि सर्वोत्तम रीति क्या है, और उच्च गणित के लिए अन्य कौन उपाय हो सकते हैं?

कुछ लोगों को मत है कि अंग्रेजी अक्षरों का ही प्रयोग क्यों न किया जाए? अंग्रेजी की गणित पुस्तकों में ग्रीक अक्षरों का प्रयोग होता ही हैः हम भी हिंदी पुस्तकों में अंग्रेजी अक्षरों का प्रयोग उसी प्रकार कर सकते हैं, परंतु इसमें दोष यह है कि प्रारंभिक गणित की हिंदी पुस्तकों में अंग्रेज़ी अक्षरों का प्रयोग अवांछनीय है। यदि प्रथम पाठ में ही रेखा क ख के बदले रेखा AB आएगी तो छोटे बच्चों को कठिनाई अवश्य पड़ेगी। यदि आरंभ से ही गणित में सब गणितीय राशियां अंग्रेजी अक्षरों में रहें तो लोगों में यह भावना उत्पन्न होगी कि अंग्रेजी अक्षरों का जानना अनिवार्य है। साक्षर कहलाने के लिए लोगों को देवनागरी वर्णमाला के साथ ही अंग्रेजी के अक्षरों को भी सीखना पड़ेगा, जो बहुत ही अवांछनीय है। इसलिए एक सीमा तक तो देवनागरी अक्षरों द्वारा ही गणित की शिक्षा देनी पड़ेगी। हिंदी मिडिल परीक्षा के लिए आज से पचास वर्ष पहले भी देवनागरी अक्षरों द्वारा ज्यामिति और बीजगणित का अध्ययन बड़ी सफलता से होता था। इसलिए भारत सरकार के बोर्ड ऑफ सायंटिफिक टर्मिनॉलोजी का यह निश्चय कि गणित तथा विज्ञान की अन्य शाखाओं पर लिखी गई हिंदी पुस्तकों में रोमन वर्णमाला के अक्षरों का प्रयोग होना चाहिए, खटकता है।

यदि बच्चे देवनागरी अक्षरों से बीजगणित और ज्यामिति पढ़ना आरंभ करते हैं तो आगे चल कर अंग्रेजी अक्षरों का प्रयोग उन्हें खटकेगा। एक सीमा तक उन्हें देवनागरी अक्षरों में गणित पढ़ने देना उचित होगा। यह सीमा बी.ए. और बी.एस-सी. के स्तर तक पहुंचे तो अनुचित न होगा। भविष्य में एम.ए. और एम. एस-सी. तक देवनागरी अक्षर चल सकते हैं।

देवनागरी अक्षरों पर मात्राएं लगाकर उनकी बहुरूपता की कमी को पूरा किया जा सकता है। अंग्रेजी में चलन यह है कि बिंदुओं को कैपिटल अक्षरों से, बीजीय राशियों को छोटे अक्षरों से, तथा सदिशों (वेक्टर्स) को काले अक्षरों से सूचित किया जाए। यदि हिंदी लेखक सहमत हों तो बीजीय राशियों को क, ख, ग, आदि से, बिंदुओं को का, खा, गा, आदि से, बलों को कू, खू, गू, आदि से

(अथवा किसी अन्य मात्रायुक्त अक्षरों से), सदिशों को के, खे, गे, आदि से (अथवा किसी अन्य मात्रायुक्त अक्षरों से) सूचित किया जा सकता है। यह अवश्य सत्य है कि छापते समय मात्राएं कभी-कभी टूट जाती हैं। इसलिए ऐसी मात्राओं को चुनना चाहिए जो न टूटती हों या कम टूटती हों। न टूटने वाली मात्राएं। और : है। अखंड टाइप-पद्धति में ु ू े ै है ये चार मात्राएं भी नहीं टूटतीं, परंतु मोनोटाइप में ये मात्राएं साधारणतः अलग से जोड़ी जाती हैं और कभी-कभी वे टूट जाती है, विशेष कर यदि टाइप की धातु अच्छी न हो। कुछ सुविधा संयुक्त अक्षरों से भी हो सकती है। उदाहरणतः,—(-1) को श्र् से सूचित किया जा सकता है।

गणित की छपाई में उच्च (सुपीरियर) और निम्न (इनफीरियर) अक्षरों की भी बराबर आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणतः, गणित छापने वाले प्रेसों में टाइप के मुख पर छोटे आकार का a कुछ ऊपर हट कर ढला रहता है। ऐसे ही टाइपों को उच्च (सुपीरियर) टाइप कहते हैं। यदि प्रेस को x छापना होगा तो वे a की की बगल में सुपीरियर x लगा देंगे। देवनागरी में भी यही प्रबंध हो सकता है। परंतु बहुत कम प्रेसों में सुपीरियर अथवा इनफीरियर देवनागरी टाइप मिलेंगे। एक कारण यह है कि अनेक प्रकार के टाइप रखने में प्रेस वालों को बहुत बड़ी पूंजी लगानी पड़ती है, जिससे गणित की छपाई बहुत मंहगी हो जानी है; दूसरा कारण यह है कि देवनागरी के पर्याप्त छोटे टाइप का सांचा बहुत कम टाइप ढालने वालों के पास रहता है।

सुपीरियर या इनफीरियर अक्षरों के अभाव में साधारण टाइप को ऊपर या नीचे खसका कर काम चलाया जाता है, परंतु ऐसी छपाई भद्दी लगती है और अधिक स्थान छेंकती है। अवश्य ही, जैसे-जैसे अधिक गणित-पुस्तकें हिंदी में छपेंगी वैसे-वैसे इस प्रकार के टाइप भी सुलभ होते जावेंगे।

इसमें भी मतैक्य होना चाहिए कि रेखा क ख लिखने में क तथा ख के बीच स्थान (स्पेस) छोड़ा जाए या नहीं और यदि क तथा ख बीजीय राशियां हैं तो क तथा ख के गुणनफल लिखने में इन अक्षरों के बीच स्थान छोड़ा जाए या नहीं? मेरी निजी सम्मति है कि रेखा क ख में स्थान छोड़ा जाए, परंतु गुणनफल लिखने में नहीं।

कुछ लोग आज भी पैराग्राफों की गिनती अ, ब, स, द, से करते हैं और त्रिभुज अ ब स द इ फ लिखते हैं। यह अनुचित है। क, ख, ग, आदि अक्षरों का प्रयोग होना चाहिए।

प्रारंभिक गणित की हिंदी पुस्तकों में भी ग्रीक अक्षर ग का प्रयोग हो तो बुरा नहीं है, परंतु अन्य विदेशी अक्षरों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। उच्च गणित में कुछ अन्य ग्रीक अथवा अंग्रेजी अक्षरों का प्रयोग किया जा सकता है, जैसे गामा या डेल्टा का। तब इस प्रकार के व्यंजक भी आ सकते हैं, जैसे

2 Y स्प 3 x;

यह पहले भद्दा अवश्य लगता है, परंतु समय बीतने पर यह उसी प्रकार नहीं खटकेगा जैसे ग्रीक और अंग्रेजी मिश्रित व्यंजक।

मेरी राय में भारत सरकार की वैज्ञानिक शब्दावली समिति को बिंदुओं और गणितीय राशियों को भारतीय लिपियों में लिखना भी स्वीकृत करना चाहिए, और सारे भारत के लिए यह निर्धारित कर देना चाहिए कि किन राशियों के लिए साधारणतः किन अक्षरों का प्रयोग किया जाए।

पृथ्वी पर जीव की उत्पत्ति की रासायनिक विवेचना*

डॉ. कृष्ण बहादुर

अनुमान है कि हमारी पृथ्वी की सतह की आयु 500 या 550 करोड़ वर्ष है। वैज्ञानिकों की धारणा है कि पृथ्वी की सतह उस समय ठंडी हो गई थी और स्थान-स्थान पर जल के एकत्र हो जाने के कारण बड़े-बड़े जलाशयों अर्थात् समुद्रों का भी निर्माण हो गया था। यह तो हुई 500-550 वर्ष पूर्व की स्थिति, परंतु इस पृथ्वी पर जीव की उत्पत्ति वास्तविक रूप में 100-150 करोड़ वर्ष पूर्व ही हुई। पृथ्वी पर जीव की उत्पत्ति किसी आकस्मिक घटना से नहीं हुई वरन् इसके निर्माण की प्रक्रिया पृथ्वी की सतह के ठंडी होने तथा उस पर समुद्रों के निर्माण हो जाने के कारण ही प्रारंभ हो गई थी। तात्पर्य यह है कि पृथ्वी 400 करोड़ वर्षों तक होने वाली विभिन्न-रासायनिक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप जीव की उत्पत्ति हुई। 400 करोड़ वर्षों तक होने वाली विभिन्न रासायनिक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप जीव की उत्पत्ति हुई। 400 करोड़ वर्ष की इस दीर्घ अवधि में रासायनिक प्रतिक्रियाएं हुई और उन प्रतिक्रियाओं में ही लक्ष-लक्ष करोड़ों वर्षों तक अणुओं का विकास होता रहा और इससे उत्पत्ति हुई एक ऐसे संयुक्त पदार्थ की जो प्रोटोप्लाज्म की भांति था। इसमें जीव के सभी गुण विद्यमान थे।

400 करोड़ वर्षों में होने वाली विभिन्न रासायनिक प्रतिक्रियाओं एवं आणविक विकास के विषय में आजकल विशेष रूप से खोज कार्य हो रहा है। इन विभिन्न क्रियाओं एवं विकसनशीलता के रहस्य की जानकारी से न केवल जीव की उत्पत्ति के विषय में सही अनुमान लगाया जा सकेगा बल्कि उन प्रतिक्रियाओं का ज्ञान हो जाने पर उन्हें कृत्रिम रूप देकर संभवतः जीवन के

---

* विज्ञान, जनवरी 1960

संश्लेषित करने का अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य किया जा सकेगा।

यह सर्वमान्य है कि पृथ्वी पर सर्वप्रथम कार्बनिक यौगिकों का संश्लेषण आरंभ हुआ। निस्संदेह 500 करोड़ वर्ष पूर्व पृथ्वी के वायुमंडल का संयोजन आज की भांति नहीं था। उस समय के वायुमंडल में मीथेन, कार्बन मोनाक्साइड, कार्बन डाइआक्साइड, हाइड्रोजन और नाइट्रोजन गैसें वर्त्तमान थीं। पृथ्वी पर जल होने के कारण वायुमंडल में पानी की वाष्प भी थी। 1955 ई. में अमेरीका के वैज्ञानिक मीलर ने उक्त गैसों को एक फ्लास्क में लेकर इस मिश्रण से विद्युत विसर्जन द्वारा कई अम्लों का संश्लेषण किया। पानी और कार्बन डाइआक्साइड के मिश्रण में पराबैंगनी किरणों द्वारा फार्मलडिहाइड और शर्करा का संश्लेषण किया जा सकता है। 500 करोड़ वर्ष पूर्व सूर्य से पृथ्वी की सतह पर पहुंचने वाली पराबैंगनी प्रकाश का परिणाम अधिक था क्योंकि उस समय वायु का घनत्व और आवरण उतना नहीं था जितना कि आज है। अतः यह स्वाभाविक है कि पृथ्वी पर उस समय अनेक कार्बनिक यौगिकों का निर्माण हुआ होगा और उन पर प्रकाश तथा पराबैंगनी किरणों के प्रभाव से अनेक नए कार्बनिक यौगिक बने होंगे। इन संश्लेषित यौगिकों में एमिनो अम्लें भी थीं।

प्रयाग विश्वविद्यालय के रसायन-विभाग में किए गए प्रयोगों से स्पष्ट होता है कि एमिनो अम्लें का संश्लेषण उस काल में भी संभव था जब पृथ्वी के वायुमंडल का संयोजन प्रायः आज की भांति हो गया था और इस संश्लेषण के लिए केवल प्रकाश द्वारा प्राप्त ऊर्जा पर्याप्त है। प्रयोग द्वारा ज्ञात हुआ है कि यदि पैरा फार्मेल्डीहाइड, पोटैशियम नाइट्रेट, फेरिक क्लोराइड और पानी के निर्बीजित मिश्रण पर साधारण प्रकाश डाला जाए तो कुछ समय उपरांत इसमें कुछ एमिनो अम्ल संश्लेषित हो जाते हैं। इस प्रकार एमिनों अम्लों की प्रकृति मिश्रण के संयोजन, हाइड्रोजन आयन सान्द्रण, उत्प्रेरक और प्रकाश डालने के काल और प्रकाश के तरंग-दैर्घ्य पर निर्भर है। यह एक महत्वपूर्ण खोज है क्योंकि इसमें एमिनो अम्लों के संश्लेषण के लिए वायुमंडल में होने वाले विद्युत-विसर्जन की आवश्यकता नहीं पड़ती और समस्त पृथ्वी के सतह पर जहां पानी और अन्य पदार्थ उपस्थित हैं, उन एमिनो अम्लों के संश्लेषण की कल्पना की जा सकती है।

उक्त प्रतिक्रिया के अनुसार जो एमिनो अम्ल संश्लेषित होते हैं, जीवाणुओं द्वारा शीघ्र विघटित हो जाते हैं परंतु पूर्वजीव-काल में जब पृथ्वी पर एक भी जीव नहीं था, पृथ्वी पर संश्लिष्ट एमिनो और अन्य कार्बनिक-यौगिक परस्पर क्रियावान रहे और फलस्वरूप नए नए नाइट्रोजन युक्त कार्बनिक यौगिक बने। इनमें से

जो पृथ्वी की भौतिक-रासायनिक प्रतिक्रियाओं के समक्ष स्थायी थे वे तो रहे और आगे की प्रतिक्रियाएं की परंतु जो अस्थायी थे वे विघटित हो गए और उनके विघटन से बने पदार्थों ने पृथ्वी के अन्य कार्बनिक यौगिकों से पुनः प्रतिक्रिया की। इस प्रकार असंख्य कार्बनिक यौगिकों का निर्माण और विघटन होने लगा। इन प्रतिक्रियाओं में प्रकाश और पराबैंगनी किरणों ने विशेष प्रभाव डाला।

पृथ्वी के पूर्वजीव-काल के इन असंख्य संश्लेषित कार्बनिक यौगिकों में एमिनो अम्लों ने जीव-उत्पत्ति में विशेष भाग लिया। अमरीका के प्रसिद्ध वैज्ञानिक फाक्स ने ज्ञात किया है कि एमिनो अम्लों को एक विशेष ताप पर (200 से 300 से.) गरम करने पर वहुत से पेपटाइड बन जाते हैं। उनका मत है कि ज्वालामुखी पर्वतों के पास जहां ताप अधिक था ऐसी ही क्रिया हुई। निर्मित पेपटाइड से बड़े-बड़े पेपटाइड और प्रोटीन संश्लेषित हुए। पेपटाइड संश्लेषण में ऊर्जा लगती है इसलिए इनका पानी की उपस्थिति में संश्लेषण करना कठिन है। प्रयाग विश्वविद्यालय में किए गए प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि यदि एमिनो अम्लों के जल विलय में अन्य कार्बनिक यौगिक मिला हो तो उचित उत्प्रेरक की उपस्थित में पराबैंगनी किरणों द्वारा इस विलयन में पेपटाइड संश्लेषित होते हैं। पूर्वजीव काल में पृथ्वी पर अधिक पराबैंगनी किरणें आती थीं, उस समय के पानी में मिश्रित एमिनो अम्ल, कार्वनिक यौगिक और अकार्बनिक उत्प्रेरकों के मिश्रण में पेपटाइड और प्रोटीन का संश्लेषण हुआ।

जीवित कोप (सेल), प्रोटीन और प्रोटोप्लाज्म-संश्लेषण में पानी के अणुओं का विशेष महत्व है। आकार्बनिक आयन इस प्रतिक्रिया में विशेष प्रभाव डालते हैं। प्रोटोप्लाज्म में, विरलतत्वों को छोड़ कर कैल्सियम, मैगनीसियम, पोटैशियम, सोडियम, फासफोरस, कार्बन और नाइट्रोजन प्रमुख तत्व वर्तमान हैं। यहां की प्रयोगशाला में किए गए प्रयोगों से यह प्रगट हुआ है कि जब कल्चर-माध्यम में इनका सांद्रण इस प्रकार संतुलित किया जाता है कि सर्वश्रेष्ठ कोष वृद्धि हो तो इस स्थिति में बने प्रोटोप्लाज्म में इन तत्वों के नहीं वरन् हाइड्रोजन और आक्सीजन के अणु अधिक होते हैं, अर्थात् प्रोटोप्लाज्म का अधिकतम संश्लेषण उस अवस्था में होता है जिसमें प्रोटोप्लाज्म पदार्थ का अत्यधिक जलीकरण सम्भव हो।

ऊपर वर्णित विधि द्वारा न केवल एमिनो अम्लों और पेपटाइडों का ही संश्लेषण हुआ वरन् एडिनोसिन फासफेटों और न्यूकलिक अम्लों के आकार के यौगिक भी बने। एडिनोसिन फासफेटों में फासफेट आयनों के मुक्त होने पर ऊर्जा मुक्त होती और न्यूकलिक अम्लों में अनुकूल दशा में प्रतिलिपिता (Duplication)

का गुण था। परंतु जब तक ये अणु अलग-अलग रहे न तो एडिनोसिन फासफेटों से मुक्त ऊर्जा का कोई विशेष लाभ था न अलग रह कर न्यूकलिक अम्ल ही प्रतिलिपि कर पाता था। पृथ्वी पर बने इन प्रोटीन, एडिनोसिन फासफेट और न्यूकलिक अम्ल के अणु कभी-कभी पाप-पास आकर संयोग भी करने लगे। इस मिलन से प्रो-प्रोटोप्लाज्म बना जिससे आगे चल कर वर्तमान प्रोटोप्लाज्म विकसित हुआ। यह प्रो-प्रोटोप्लाज्म एक वृहत अणु था जिसमें एडिनोसिन फासफेट होने के कारण आसपास की रासायनिक क्रिया द्वारा प्रकट होने वाली ऊर्जा को संचित करने का गुण था। इस क्रिया में एडिनोसिन मोनोफासफेट, फासफेट-मूलक से संयोग कर द्वि-और त्रि-फासफेट बन जाता था। वृहत अणु में न्यूकलिक अम्ल उपस्थित होने के कारण प्रतिलिपिता का भी गुण था। स्वयं ऊर्जा प्रकट कर सकने का गुण होने के कारण ये वृहत अणु अन्य अणुओं से कुछ अधिक अच्छी स्थिति में थे और इनका अनुकूल वातावरण में जब आसपास इन अणुओं को बनाने वाले पदार्थ उपस्थित हुए तो इनकी प्रतिलिपिता भी हुई। इस प्रकार के असंख्य वृहत अणुओं का जन्म हुआ। इनमें से कुछ अणु इस प्रकार रहे जो बाह्य भौतिक-रासायनिक स्थिति के मंद परिवर्तन के प्रभाव में अपने कुछ बंधनों को बदल कर संतुलित कर देने योग्य थे। इन वृहत अणुओं के प्रतिलिपन से ऐसे अणु बने जो बाह्य स्थिति के मंद परिवर्तन से स्पष्ट नहीं होते थे वरन् इससे उनके आंतरिक बंधनों में ही परिवर्तन होता था।

उक्त वर्णित वृहत अणु पृथ्वी का सर्वप्रथम प्रो-प्रोटोप्लाज्म था जो प्रारम्भ में कोष में न होकर स्वतंत्र रूप से था। इन वृहत् अणुओं ने कोजर्वेट का रूप धारण किया। इन कोजर्वेट में विशिष्ट शोषण का गुण होता है। पदार्थ के कोजर्वेट का विशेष अध्ययन रूस के प्रसिद्ध वैज्ञानिक ओपिरिन कर रहे हैं। इन कोजर्वेट स्थित में उपस्थित वृहत अणुओं ने उचित अकार्बनिक आयनों की विशेष सांद्रता पर तीव्र गति से प्रतिलिपन किया और शीघ्रता से प्रो-प्रोटोप्लाज्म संश्लेषित होने लगा।

प्रो-प्रोटोप्लाज्म ने आगे विकास करके प्रोटोप्लाज्म का रूप ग्रहण किया। इसमें प्रो-प्रोटोप्लज्म के सभी गुण थे, साथ ही साथ यह अधिक सुसंगठित था और बिना कोजर्वेट-स्थिति के भी स्वतंत्र रूप से रह सकता था।

इस तरह लगभग 100 से 150 करोड़ वर्ष पूर्व पृथ्वी पर जीवन के गुणों से परिपूर्ण प्रथम पदार्थ संश्लेषित हुआ। इस पदार्थ के विकास से वर्तमान काल के बैक्टीरिया, एमीबा तथा यीस्ट की तरह के एक सेल वाले जीव बने। 50 करोड़

वर्ष पूर्व तक ये जीव केवल पानी में ही रहे और इनसे बहुकोषीय जीव, जैसे एल्गी, स्पंज, एनेलिड, सीनोडरमेटा, ट्रीलोविट तथा अन्य अपृष्ट बंशी जीव विकसित हुए। सर्वप्रथम पृष्ठवंशीय जीव, मछली, (40 करोड़ वर्ष पूर्व) बनी, इससे लगभग 15 करोड़ वर्ष बाद, कार्बोनिफेरस काल में पृथ्वी पर विशल फर्न, हार्सटेल और लाइकोपोड वृक्षों की उत्पत्ति हुई। लगभग 6 से 7 करोड़ वर्ष पूर्व रेप्टाइल (सरीसृप) प्रगट हुए। जुरेसिक और क्रिटेशियस काल में इन्होंने विशेष प्रगति की।

पृथ्वी पर मेमल (स्तनपेयों) की उत्पत्ति लगभग साढ़े तीन करोड़ वर्ष पूर्व हुई। ये आदि मेमल, वर्तमान काल के मेमल से बहुत भिन्न थे। इन्हें आजकल के मेमल का रूप ग्रहण किए केवल 40-50 लाख वर्ष हुए हैं। केवल 10 लाख वर्ष पूर्व ही पिथेकैन्थोपस नामक बंदर की जाति बनी जिसके विकास से मनुष्य बना। पिथेकैन्थोपस से मनुष्य बनने में कई लाख वर्ष लगे। लगभग 3-4 लाख वर्ष पूर्व आदि-मानव भी वर्तमान काल के मनुष्य की भांति बहुत प्रगतिशील नहीं था परंतु एक बार मनुष्य का शरीर प्राप्त करने के बाद फिर उसकी प्रगति तीव्र गति से हुई।

मनुष्य का इतिहास बतलाता है कि मनुष्य लगभग 10,000 वर्ष पूर्व सभ्य हो चुका था। पिछले 2000 वर्षों में और विशेषकर पिछले 200 वर्षों में मनुष्य ने भौतिक जगत में विज्ञान द्वारा विशेष प्रगति की ओर पिछले 20 वर्षों में प्रगति के विभिन्न साधनों पर विशेष अधिकार प्राप्त किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि अणु-विकास में लगभग 400 करोड़ वर्ष लगे, जिससे निर्जीव अणुओं से जीवित प्रोटोप्लाज्म बना, इस प्रथम बने एक-कोषींय जीवों से पिथेकैन्थोपस बंदर बनने में केवल 5-6-7 लाख वर्ष ही लगे। निर्जीव अणु से मनुष्य बनने के इस इतिहास देखने पर विदित होता है कि इस विकास की गति पहले बहुत मंद थी परंतु अब यह विकास बड़ी तीव्र गति से हो रहा है। मनुष्य की विशेष प्रगति उसके सामाजिक सहयोग से हुई। मनुष्य व्यक्तिगत रूप से ही प्रकृति से संघर्ष नहीं करता वरन् वह इस संघर्ष में एक दूसरे की समझ और सहयोग का भी उपयोग करता है।

उक्त वर्णित आणविक विकास के सिद्धांत से यह प्रगट होता है कि न केवल जीव-निर्माण के उपरांत ही विकास क्रिया में जीव वातावरण की भौतिक-रासयनिक स्थतियों से संघर्ष करते रहे और जो जीव उन स्थितियों में अच्छी तरह रह सके उन्होंने विकास पथ पर आगे का कदम रखा, वरन् पूर्वजीव काल में भी जब पृथ्वी पर प्रोटोप्लाज्म नहीं बना था, अणु भी इसी प्रकार के

संघर्ष में भाग लेते रहे और पृथ्वी के उस समय की भौतिक-रासायनिक स्थिति में जो वृहत अणु अधिक स्थायी रह सके उन्होंने आगे विकास किया एवं इसी अणु-विकास से प्रोटोप्लाज्म नामक द्रव्य संश्लेषित हुआ। अतः प्रोटोप्लाज्म ग्रह के निरंतर भौतिक-रासायनिक स्थितियों के परिवर्तन में सतत संतुलित एक ऐसा द्रव्य है जिसमें स्वयं शक्ति प्रगट करने का, प्रति-लिपिता का और ब्राह्य वातावरण में मन्द गति से होने वाले भौतिक-रासायनिक परिवर्तन से समंज्जित होने का गुण हैं। इन गुणों से परिपूर्ण द्रव्य के संश्लेषण की कल्पना ऐसे सब ग्रहों की सतह पर की जा सकती है जिन पर पानी की भाँति का कोई द्रव हो जिसके माध्यम से विभिन्न अणुओं को पास-पास आने का अवसर मिले, पास में सूर्य की भांति का ऊर्जा-स्रोत हो जहां से पराबैंगनी विद्युत-चुम्बकीय तरंगों के रूप में ऊर्जा प्राप्त हो, जिसके वातावरण की भौतिक-रासायनिक स्थितियों का परिवर्तन मन्द गति से होता हो और अणु-विकास के लिए लगभग 400-500 करोड़ वर्ष मिलें। हाँ, इन विभिन्न ग्रहों पर संश्लेषित प्रोटोप्लाज्म का रासायनिक संयोजन और उससे विकसित जीवों की आकृति पृथ्वी के प्रोटोप्लाज्म और यहां के जीवों के अवश्य भिन्न होगी।

अंतरिक्ष के अद्‌भुत दृश्य*

डॉ. गोरख प्रसाद

अंतरिक्ष के अद्‌भुत दृश्यों में सबसे अधिक रहस्यमय वे नीहारिकाएं हैं जो सर्पिल नीहारिकाएं कहलाती है। एक को छोड़ शेष सभी सर्पिल नीहारिकाएं हमसे इतनी दूर हैं कि बिना दूरबीन के वे हमको नहीं दिखाई पड़तीं। एक जो कोरी आंख से दिखलाई पड़ती है वह केवल धुंधलके छोटे धब्बे की ही तरह दिखलाई पड़ती है, जो तनिक भी सुंदर नहीं जान पड़ती। परंतु बड़ी दूरबीनों से देखने पर, अथवा फोटो लेने पर, वह बहुत ही सुंदर लगती हैं। बीच में अंडाकार चमकीले बादल के समान केंद्र हैं और उसमें से दो भुजाएं निकल कर उसको कुंडली के रूप में घेरे हुए हैं। संसार की सबसे बड़ी दूरबीन 200 इंच व्यास की है। इस दूरबीन से जब पूर्वोक्त नीहारिका का फोटोग्राफ खींचा जाता है और उस फोटोग्राफ को सूक्ष्मदर्शी से देखा जाता है तब स्पष्टतः पता चलता है कि पूर्वोक्त नीहारिका धुआं या गैस नहीं हैं वह प्रायः असंख्य तारों का समूह है। इस नीहारिका का नाम 'देवयानी नीहारिका' है। अंग्रेजी में इसे 'ऐंड्रोमिडा नेब्युला' कहते हैं।

आकाश में करोड़ों नीहारिकाएं हैं। वस्तुतः लगभग एक अरब, अर्थात् 100 करोड़ नीहारिकाओं का पता चल चुका है। इनमें से देवयानी नीहारिका ही सबसे पास वाली है। इसकी दूरी का हिसाब लगाया गया है और पता चला है कि इसकी दूरी लगभग 7½ करोड़ प्रकाश वर्ष है, अर्थात प्रकाश को देवयानी नीहारिका से चल कर पृथ्वी तक पहुंचने में साढ़े सात करोड़ वर्ष लगते हैं। इतनी अधिक दूरी की कल्पना करना ही असंभव है। प्रकाश एक सेकंड में 1 लाख 86 मील चल लेता है; यह इतने अधिक वेग से चलता है कि एक सेकंड में भी देवयानी नीहारिका से पृथ्वी तक पहुंचने में इसे 7½ करोड़ वर्ष लगते हैं। और करोड़ों ज्ञात नीहारिकाओं

---

* विज्ञान, अप्रैल 1961

में से यह निकटतम नीहारिका है।

किसी वस्तु की आकृति अच्छी तरह समझनें के लिए हम इसे ऊपर से, नीचे से, अलग से, बगल से देखते हैं। तभी हम उसकी सच्ची आकृति को जान सकते हैं। परंतु देवयानी नीहारिका तो हमसे बहुत दूर है और हम इसको केवल एक दिशा से देख पाते हैं। तब फिर इसकी सच्ची आकृति का पता कैसे चले? सौभाग्यवश हम अन्य सर्पिल नीहारिकाओं को अन्य दिशाओं से देखते हैं। इसलिए चुनी हुई दस-बीस नीहारिकाओं के फोटोग्राफों को ध्यान से देखने पर पता चल जाता है कि इन नीहारिकाओं की वास्तविक आकृति कैसी है। यदि हम छोटे से पैमाने पर इन नीहारिकाओं की मूर्ति बनाना चाहें तो हम ऐसी चपाती ले सकते हैं जो केवल बीच में फूली हो। यदि हम अधिक सच्ची मूर्ति चाहें तो हमें चपाती के बिना फूले भाग से कुछ अंश निकाल कर फेंक देना चाहिए, जिसमें सर्पिलाकार भुजाएं बन जाएं। स्मरण रहे कि सर्पिलाकार का अर्थ है सांप की तरह गेंडुरी या कुंडली की आकृति का।

देवयानी नीहारिका में कई करोड़ तारे हैं। प्रत्येक तारा हमारे सूर्य के समान अति तप्त पिंड है। तारों की तुलना में तो अंगीठी की आग बहुत शीतल है। अवश्य ही देवयानी नीहारिका का अद्भुत दृश्य है। इस नीहारिका के तारे एक दूसरे से बहुत दूर-दूर पर बिखरे हुए हैं। केवल हमसे बहुत दूर होने के कारण वे एक दूसरे से सटे हुए जान पड़ते हैं। देवयानी नीहारिका का व्यास 30 हजार प्रकाश वर्ष है, अर्थात् परिधि के किसी एक बिंदु से चल कर केंद्र से होते हुए परिधि पर स्थित सम्मुख बिंदु ते पहुंचने के लिए प्रकाश को 30 हजार वर्ष लगेंगे, और हम देख चुके हैं कि प्रकाश कितना शीघ्रगामी है।

विश्व की करोड़ों सर्पिल नीहारिकाओं में से एक में घुस कर हम उसकी जांच कर सकते हैं। आप पूछेंगे : कैसे? तो उत्तर यह है कि हम सब एक अन्य सर्पिल नीहारिका में रहते हैं। यदि कोई बड़ी सी, परंतु छिछली झील हो तो उसके पानी को हम मोटे हिसाब से नीहारिका की आकृति का मान सकते हैं। बीच में फूला हुआ, चारों ओर पतला। यदि इसमें बहुत-सी मछलियां समान रूप से वितरिंत हों तो हम उन्हें तारा मान सकते हैं। यदि पानी पूर्णतया स्वच्छ हो तो अंतरिक्ष मान सकते हैं। अब यदि कोई छोटी मछली केंद्र से एक बगल कुछ हटकर आधी गहराई में पड़ी हो तो उस मछली को हम पृथ्वी मान सकते हैं और अंत में मछली की आंख को हम अपनी आंख मान सकते हैं। तो हमें इस झील में मछलियां किस प्रकार वितरित दिखाई पड़ेंगी? हम ऊपर की ओर कुछ मछलियां

देखेंगे, नीचे की ओर भी कुछ मछलियां देखेंगे, परंतु झील के केंद्र की ओर हमें बहुत मछलियां दिखाई देंगी, क्यों कि इस दिशा में बहुत दूर तक जल है। वस्तुतः, हमें झील के समतल में चारों ओर बहुत अधिक मछलियां कम दिखाई पड़ेंगी, क्योंकि इन दिशाओं में पानी कम है। ज्यों-ज्यों हमारी दृष्टि झील के समतल की ओर झुकेगी, त्यों-त्यों हमें मछलियां अधिक दिखाई पड़ते हैं। जितने भी तारे हमें दिखाई पड़ते हैं वे सब हमारी निजी सर्पिल नीहारिका के सदस्य हैं जिसे हम अपनी मंदाकिनी कहते हैं। हमारी मंदाकिनी भी केवल बीच में फूली हुई चपाती के समान है। हम इसके बिना फूले हुए भाग में हैं। हमारी मंदाकिनी में कई अरब तारे हैं, परंतु वे एक दूसरे से दूर-दूर बिखरे हुए हैं। जो तारे चपाती के समतल में हैं वे हमें इतने घने दिखाई पड़ते हैं कि वे कोरी आंख या छोटी दूरबीन से अलग-अलग नहीं पहचाने जा सकते। यही घना समूह आकाश में हमें आकाश-गंगा के रूप में दिखाई पड़ता है। यदि किसी अंधेरी रात में आकाश को ध्यानपूर्वक देखा जाए तो आकाश-गंगा अवश्य दिखेगी।

कोरी आंख से, अर्थात बिना दूरबीन की सहायता लिए हमें लगभग 6,000 तारे अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं, जिनमें से किसी समय आधे से अधिक एक साथ नहीं दिखाई पड़तें, क्योंकि शेष क्षितिज के नीचे छिपे रहते हैं। ये सब तारे एक प्रकार से हमारे बहुत निकट हैं : वे सब लगभग ढाई हजार प्रकाश वर्ष की त्रिज्या के गोले के भीतर ही हैं। निकटतम तारा हमसे लगभग 4 प्रकाश वर्ष भर हैं। यद्यपि 4 प्रकाश वर्षों में मीलों की संख्या 24 पर 12 शून्य रखने से प्राप्त होगी, तो भी हमारी मंदाकिनी के व्यास की तुलना में यह बहूत कम दूरी है। हमारी मंदाकिनी का व्यास लगभग 1 लाख प्रकाश वर्ष है।

सर्पिल निहारिकाएं एक दूसरे से बहुत दूर-दूर पर स्थित हैं। यदि हम अपनी मंदाकिनी को दिल्ली नगर से निरूपित करें तो देवयानी नीहारिकाएं बहुत दूर-दूर पर बसी हैं और उनके बीच बहुत खाली जगह छूटी है।

रेडियो समस्थानिक कृषि क्षेत्र में*

भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव

कृषि के क्षेत्र में किए गए अनुसंधानों से यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है कि रेडियो समस्थानिकों से विकीरित होने वाली रेडियो सक्रिय किरणों की नपी तुली मात्रा यदि उगते पौधे पर डाली जाय तो पौधे की बाढ़ में तथा उसके फूलने फलने आदि में विशेष उन्नति होती है। इस संबंध में स्वयं हमारे देश में भी महत्वपूर्ण प्रयोग किए जा रहे हैं। दिल्ली में स्थित गामाबाग में रेडियो समस्थानिकों से विकीरित होने वाली गामा किरणों का प्रभाव पौधों की बाढ़ और उनकी उपज आदि पर देखा जाना है।

प्रायः खेत में बोने के पहले ही बीज से रेडियो सक्रिय किरणों की बौछार में निश्चित अवधि तक रखते हैं। ऐसा करने से खेत की फसल में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है। रूस में किए गए परीक्षणों के अनुसार इस विधि से चुकंदर की फसल में लगभग 25 प्रतिशत की वृद्धि की जा सकी है। रेडियो समस्थानिक के घोल में थोड़ी देर तक बीज को डाल कर रखने से भी वे इसी प्रकार प्रभावित हो जाते हैं।

अनाज की सुरक्षा

अनाज के दानों को कीड़ों तथा नन्हें कीटाणुओं से बचाने के लिए इन रेडियो सक्रिय किरणों की मदद ली जाती है। ये किरणें कीटाणुओं का नाश करती हैं, साथ ही उनके अंडों को निष्प्राण भी बना देती हैं। अतः अब यह संभव हो सका है कि भंडार में अनाज को अधिक दिनों तक सुरक्षित रखा जाए। मांस, अंडे, मछली आदि को भी इन किरणों की बदौलत अपेक्षाकृत अधिक दिनों तक ताजा

* विज्ञान लोक, अक्टूबर 1961

बनाए रख सकते हैं। गर्म और तर जलवायु में आलू में से अंकुए निकलने लग जाते हैं अतः वे खाने योग्य नहीं रहते। यदि आलुओं पर रेडियो सक्रिय किरणों की बौछार कुछ देर तक पड़ने दी जाए तो गर्म जलवायु में भी इनमें अंकुए फूटने नहीं पाते, और उन्हें कई वर्ष तक सुरक्षित रख सकते हैं तथा दूर-दूर देशों तक इनका निर्यात किया जा सकता है।

इस सिलसिले में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि रेडियो सक्रिय किरणों से प्रभावित खाद्य पदार्थों के खाने से स्वास्थ्य पर हानिकार प्रभाव तो नहीं पड़ेगा? वैज्ञानिक इस प्रश्न के प्रति भी पूर्णरूप से सचेत हैं। अतः इन वैज्ञानिकों ने ऐसे फार्म बनाए हैं जहां चूहे, बंदर, मवेशी आदि रखे गए हैं। उन्हें रेडियो सक्रिय किरणों से प्रभावित खाद्य पदार्थ भोजन के लिए दिए जाते हैं तथा उनके स्वास्थ की निरंतर जांच की जाती है। कुछ अनुसंधानकों ने सहर्ष अपने ऊपर प्रयोग करने की अनुमति दी है ताकि यह ज्ञात किया जा सके कि ऐसे खाद्य पदार्थों का मनुष्य के स्वास्थ पर क्या असर पड़ता है। इन प्रयोगों में अभी तक कोई अनिष्टकारी प्रभाव नहीं पाया जा सका है।

नई नस्ल के पौधे

पौधों की नई नस्लें तैयार करने के निमित्त भी इन समस्थानिकों का उपयोग किया जा सकता है। जीव तथा वनस्पति विज्ञान के नूतनतम अनुसंधान यह बतलाते हैं कि कास्मिक किरण, एक्स किरण अथवा गामा किरणें कोषतंतुओं में परिवर्तनों का समावेश करके नई नस्ल का प्रादुर्भाव कर सकती है। वास्तव में सृष्टि के आरंभ से ही यह क्रम चला आ रहा है। अनंत अंतरिक्ष से आने वाली कास्मिक किरणें निरंतर वंश परंपरा में परिवर्तनों का समावेश करती रही हैं। किंतु ये परिवर्तन अत्यंत धीमी गति से होते रहे हैं। प्रकृति की इस क्रिया की पुनरावृत्ति अब वैज्ञानिक प्रयोगशाला में रेडियो समस्थानिकों से विकीरित होने वाली किरणों की मदद से की जा सकती है। अतः पौधों की नई नस्लों के निर्माण का कार्य जो प्रकृति द्वारा सदियों में पूरा होता है। वह अब प्रयोगशाला में कुछ ही महीनों में पूरा किया जा सकता है। इस दिशा में आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। उदाहरण के लिए अमरीका में सेम के पौधों की ऐसी नस्ल तैयार की गई है तो अत्यधिक वर्षा सह लेती है तथा रोग कीटाणुओं का उन पर असर नहीं होने पाता।

रेडियो सक्रिय किरणों से नई नस्लों के निर्माण तथा उनके चुनाव द्वारा पौधों की पत्ती रेशों आदि की बनावट में सुधार कर सकते हैं या रोग कीटाणुओं अथवा

ऋतुओं का सामना करने की उनकी क्षमता बढ़ा सकते हैं। इस दिशा में निस्संदेह अनेक क्रांतिकारी उपलब्धियां प्राप्त की जा सकती हैं।

रेडियो समस्थानिक : अनुरेखक के रूप में

अनुरेखक के रूप में रेडियो समस्थानिक कृषि विज्ञान के लिए एक महत्वपूर्ण साधन साबित हुए हैं। मान लीजिए, यह पता लगाना है कि पौधे की वृद्धि के लिए खाद कब देनी चाहिए तथा किस प्रकार–जड़ों में या पत्तियों पर छिड़काव के रूप में। इसके लिए ऐसी सुपर फास्फेट खाद तैयार की जाती है जिसमें फासफोरस का रेडियो समस्थानिक मौजूद हो। इस खाद को पौधों की जड़ के निकट भूमि में विभिन्न गहराइयों पर डाल कर जाइगर गणक को पत्तियों के निकट ले जाकर देखते हैं कि कब यह गणक रेडियो सक्रिय किरणों द्वारा अधिक प्रभावित होता हैं इस प्रकार यह मालूम कर सकते हैं कि खेत में कितनी गहराई पर खाद डालना पौधों के लिए अधिक लाभकारी होगा।

गेहूं के लिए इन प्रयोगों से पता चला है कि पौधे के उगने के प्रथम दो तीन सप्ताह में ही खाद की फास्फोरस पौधे में जज्ब होती है, त्तपश्चात खेत की मिट्टी से ही पोषक तत्त्व पौधे में पहुंचते हैं, खाद से नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि गेहूं के लिए खाद आरंभ में ही डालनी चाहिए। पौधे जब बड़े हो जाए तो खाद डालने से कोई फायदा नहीं। इसके प्रतिकूल आलू के पौधे आरंभ में खाद से पोषक तत्त्व ग्रहण करते हैं और बाद में भी। अतः आलू के खेत में खाद शुरू में भी डालनी चाहिए तथा बाद में भी। इसी प्रकार कपास के लिए प्रयोगों द्वारा यह मालूम किया गया है कि जिन दिनों कलियों का निर्माण होता है इन दिनों जड़ में खाद देने की अपेक्षा अधिक अच्छा होगा कि पत्तियों पर खाद के घोल का छिड़काव किया जाए। क्योंकि इस अवस्था पर पत्तियां खाद से पोषक तत्त्व अधिक आसानी के साथ जज्ब कर लेती हैं।

निस्संदेह रेडियो समस्थानिक पदार्थ कृषि तथा वनस्पति विज्ञान की अनेक गुत्थियों को सुलझाने में महत्वपूर्ण सहायता कर सकते हैं और आशा की जाती है कि अपने नवीन ज्ञान की बदौलत कृषि-वैज्ञानिक निकट भविष्य में संसार की खाद्य समस्या का हल भी ढूंढ़ ही लेंगे।

पौधों में प्रणय*

अ. बि. सीरवाणी

जीवों में प्रणय की भावना प्राकृतिक देन है। विभिन्न प्राणियों में प्रणय की विभिन्न विधियां होती हैं जिनसे हम भलीभांति परिचित हैं, किंतु पौधों में भी प्रणय होता है यह शायद बहुत कम लोगों को ज्ञात होगा। पौधों में भी नर तथा मादा लिंग-भेद होते हैं। नरों की संख्या अधिक रहती है और उन्हें मादा की तलाश में खूब भटकना पड़ता है। इस कार्य के लिए वे कीड़ों का सहारा लेते हैं, मादा स्थायी होती है और नरों को आकर्षित करने के लिए कुछ द्रव पदार्थ स्रावित करती है। नर और मादा को मिलाने का कार्य कीड़े करते हैं। कुछ पौधों में यह कार्य इतनी विचित्र विधि से होता है जिसे देख मनुष्य मात्र को भी आश्चर्य होने लगता है। उसका एक अनोखा उदाहरण युक्का (Yucca) नामक पौधे में प्रणय की विधि है।

इस पौधे में नीचे कई पत्ते होते हैं जिनकी चोटी नुकीली और कांटेदार होती है। वर्षा ऋतु में जुलाई-अगस्त के बीच पत्तियों के बीच से एक डंठल निकलता है जिस पर घंटी के आकार के कई श्वेत पुष्प लगते हैं जो रात में खूब चमकीले मालूम होते हैं। प्रणय का कार्य रात में होता है और वह भी एक विशेष प्रकार के पतंगे द्वारा जिसका नाम है प्रोन्यूबा युकासेला (Pronuba yuccaela)।

मादा प्रोन्यूबा रात के समय अंडे देने के लिए किसी सुरक्षित स्थान की खोज में निकलती है और युक्का के श्वेत चमकदार पुष्पों पर आकर बैठती है। मादा के शरीर पर कई पराग (नर) चिपक जाते हैं और मादा उड़ कर दूसरे पुष्प पर जा कर बैठती है। अब इस मादा का कार्य बड़ा मनोरंजक होता है।

मादा प्रोन्यूबा पुष्प के अंडकोष में छेद करती है और एक अंडा देती हैं। प्रत्येक अंडा देने के बाद वह उड़कर अंडकोष की चोटी पर जा बैठती है और

* विज्ञान, अप्रैल 1961

अपने साथ लाए गए पराग का गोला बनाकर उस पर रखती है तथा उन्हें अपनी जीभ से अंदर धकेल देती है। यह दार्य वह कई बार करती है ताकि उसके द्वारा लाए गए पराग (नर) मादा पुष्प से निश्चित रूप से संयोग कर सकें। प्रणय की यह विधि वास्तव में मनुष्य मात्र को आश्चर्यचकित कर देती है और प्रकृति की रचना की दाद देती है कि किस प्रकार एक प्राणी, एक पौधे के प्रणय कार्य में पूरी सहायता देता है। इतना ही नहीं, यह संबंध आगे चलकर इतना घनिष्ठ हो जाता है कि इस पतंगे और पौधे दोनों का जीवन ही जुड़ जाता है।

देखा गया है कि पतंगे के अंडे से बच्चे निकलते हैं और प्रणय के बाद अंडकोष से फल बनता है जिसमें बीज रहते हैं। बीज तथा पतंगे के बच्चे एक ही फल में साथ-साथ बढ़ते हैं। जब बीज बाहर गिरने लगते हैं तो कीड़े के बच्चे भी फल की दीवार में छेद बना कर बाहर जमीन पर आ गिरते हैं और एक कोष बना लेते हैं। पौधे के बीच और पतंगे की कोषावस्था दोनों ही कुछ दिनों तक आराम करते हैं।

दूसरे वर्ष बीज अंकुरित होकर उससे पौधा बनता है और पतंगा भी कोषा से बाहर आ जाता है और फिर से पौधों के प्रणय में सहायता करता है।

युक्का के प्रणय का यह अनोखा तरीका वनस्पति शास्त्र के विद्वानों के लिए अभी भी एक विचित्र उदाहरण के रूप में उपस्थित है।

भारत में यह पौधा अब कई बगीचों में देखा जा सकता है। दो वर्ष पूर्व युक्का का एक पौधा जबलपुर के विज्ञान महाविद्यालय में लगाया गया। इसमें बड़े सुंदर फूल लगे किंतु फल एक भी नहीं था। कारण स्पष्ट है, जबलपुर में जब तक पतंगा प्रोन्यूबा नहीं लाया जावेगा तब तक युक्का में भी प्रणय नहीं होगा। कई अन्य स्थानों पर भी इस पौधे को लगाया गया किंतु फल बिल्कुल नहीं मिले। जब प्रोन्यूबा पतंगा ऐसे स्थानों पर लाया गया तभी इस पौधे में फल लगने आरंभ हुए।

प्रकृति की कितनी विचित्र लीला है। फ्रांसिस डार्विन ने तो यहां तक कह डाला कि यदि इस संसार में प्रोन्यूबा पतंगा नहीं रहता तो संसार में युक्का पौधा भी नहीं होता।

वायरस*

रमेश चन्द्र तिवारी

जीवाणुओं के अन्वेषण के समय से ही वायरस को 'विष' अथवा 'रोग उत्पादक कीटाणु' के नाम से संबोधित किया जाता था। इस सामान्य शब्द 'विष' का प्रयोग बहुत दिनों तक होता रहा और जब पैथोजेनिक जीवाणु का पता चला तभी से इस शब्द को विष न कहकर वायरस कहा जाने लगा।

जीवाणु शास्त्र के इतिहास के पूर्वकाल से ही यह ज्ञात हुआ कि कुछ ऐसे निस्यंदक हैं जिनके द्वारा निस्यंदन से जीवाणु निस्यंदक पर बच रहते हैं और एक जीवाणु-रहित निस्यंद प्राप्त हो जाता है। रोग- उत्पादक तरलों का परीक्षण, पैथोजेनिक जीवाणुओं की उपस्थित में उनका निस्यंदन करके छनित पदार्थ का प्रयोग करके किया जाता था और वायरस जो कि निस्यंद में आ जाता है, निस्यंदेय जीवाणु के नाम से प्रचलित था। 1892 ई. में एक रूसी वैज्ञानिक **आवनोस्की** ने, वायरस द्वारा उत्पन्न तंबाकू के मुजैक रोग से प्रभावित एक पौधे का रस निकाला और उसे एक स्वस्थ तंबाकू में इंजेक्ट करके देखा कि रस के जीवाणु रहित होते हुए भी पौधा मुजैक से बुरी तरह प्रभावित हो गया जिससे यह स्पष्ट हो गया कि वायरस एक निस्यंदेय जीवाणु है और तभी से इसे **निस्यंदेय-वायरस** कहके संबोधित किया जाने लगा।

कुछ शताब्दियों के पश्चात् जीव-वैज्ञानिक निस्यंदेय शब्द काटकर केवल वायरस शब्द का प्रयोग करने लगे। तभी से वायरस शब्द का प्रयोग सर्वमान्य हो गया।

यह पहले से ही ज्ञात है कि यदि एक स्वस्थ पौधे में थोड़ा सा वायरस इंजेक्ट कर दिया जाए और कुछ समय पश्चात् उस पौधे का रस निकालकर परीक्षण

* विज्ञान, दिसम्बर 1962

किया जाए तो इस रस में वायरसों की पूर्व इंजेक्टेड मात्रा की अपेक्षा कई लाख गुना वायरस-कण मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वायरस में स्वयं-प्रजनन होता है। यह भली-भांति मालूम है कि वायरसों में मेटाबोलिक क्रियाएं नहीं होतीं और इनका प्रजनन उन्हीं के द्वारा प्रभावित पोषक (होस्ट) के कोशिकाओं द्वारा होता है।

वायरस एक अनिवार्य जीवोपजीवी पदार्थ है और पोषक (होस्ट) कोशिकाओं के बाहर इनकी वृद्धि नहीं हो सकती। इतना ही नहीं कोशिकात्मक (साइटोलाजिकल) अध्ययन के अनुसार वायरसों का प्रजनन एक अंतःकोशिकीय क्रिया है। वायरसों के अतिरिक्त कुछ जीवाणु एवं रिक्रेसी भी अनिवार्य जीवोपजीवी हैं जिनकी वायरसों से पृथक् करने में कठिनाई होती है, केवल निस्पंदन करके ही पृथक किया जा सकता है, जब कि वायरस को छोड़कर सभी जीवाणु निपंदक पर बच रहते हैं। अतः उपर्युक्त सभी परीक्षणों और तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् वायरस को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है : **"वायरस तमाम सूक्ष्म जीवाणुओं से संगठित रोग उत्पादक वे निस्पंदेय-कण हैं** (साधारणतया 300 मिलीमाइक्रॉन से कम व्यास वाले) **जिनका प्रजनन एक विशिष्ट होस्ट कोशिका के अंदर ही होता है।"**

वायरसों का समूह विभाजन

वायरसों को उनके पोषकों (होस्ट) के गुणों के अनुसार विभाजित किया गया है। वायरसों को तीन मुख्य समूहों में रखा गया है।

(1) **जीव वायरस :** इस समूह के वायरस कण, जानवरों के जीवोपजीवी पदार्थों से संगठित वे विजातीय पदार्थ हैं जो कि संरचना में उच्च प्रोटीन अणुओं से भी ज्यादा जटिल होते हैं तथा इनको केवल अणुवीक्षण यंत्रों द्वारा ही पहचाना जा सकता है। इनको पुनः कई उपसमूहों में वर्गीकृत किया गया है।

(क) **प्रथम समूह :** इसके वायरसों में 'जटिल शारीरिक विकास चक्र' के मध्य, वीक्षण-यंत्रों द्वारा दृश्य एक *अंतः स्थ पिंड का निर्माण होता है तथा प्रतिजैविक पदार्थों के प्रयोग से इन्हें नष्ट किया जा सकता है। इनका व्यास लगभग 300 मिलीमाइक्रॉन होता है। इसके उदाहरण सिटाकोसिस, लिम्फोमन, लोमा तथा ट्रेकोमा आदि हैं।

---

* **अंतःस्थ पिंड :** इस शब्द का प्रयोग वायरसों की प्रगजनन क्रियाओं के मध्य निर्मित एक असामान्य अंतःकोशिकीय रचना के लिए किया जाता है जो या तो होस्ट कोशिका में किया अथवा पौधों के साइटोप्लाज्म के न्यूक्लियस में निर्मित होते हैं।

(ख) **पाक्स-वायरस समूह :** इनमें भी अंतस्थ पिंड का निर्माण होता है परंतु इसका व्यास लगभग 230 X 300 मिलीमाइक्रॉन होता है। इन पर प्रतिजैविक पदार्थों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। चेचक, मुर्गी-माता, वैक्सीनिया, चुहियों का इलेक्टॉन मेलिया रोग आदि इसके उदाहरण हैं।

(ग) **इनफ्लुएंजा समूह :** इनका व्यास लगभग 1/10 माइक्रान होता है। जहां तक रासायनिक संगठन का प्रश्न है इनका शरीर प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेटस, लाइपिड्स तथा राबोन्यूक्लिक अम्ल के संयोग से बना होता है। रासायनिक संगठन, होस्ट के चरित्र पर निर्भर करता है। होस्ट कोशिकाओं द्वारा उत्पादित 'स्वतंत्र वायरस कण' जटिल जीवन चक्र की सुप्तावस्था में पाए जाते हैं और वे न्यूनाधिक रूप में अंतःकोशिकीय प्रजननीय वायरस के समान होते हैं।

इन मुख्य समूहों के अतिरिक्त, पीतज्वर मम्पृस तथा पोलियोमाइलिटिस उत्पन्न करने के वायरस भी देखे गए हैं।

(2) **पौध वायरस :** पेड़ पौधों के तमाम भयानक रोग वायरस के आक्रमण के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। पौध-वायरसों का एक से दूसरे पौधे में समावेश कीटपतंगों और सांयोगिक दूषण के द्वारा होता है। लगभग सभी मुख्य-मुख्य पौध-वायरसों का शोधन एवं स्फाटीकरण सुगमता से किया जा सकता है क्योंकि वायरसों द्वारा प्रभावित पौधों में इनकी मात्रा शोधन एवं स्फाटीकरण के लिए पर्याप्त होती है। रासायनिक अध्ययन के अनुसार सभी स्फाटीय पौध वायरस, राइबोन्यूक्लियोप्रोटीन की ही देन है। न्यूक्लिक अम्ल को पौध-वायरसों का आनुवांशिक पदार्थ कहा जा सकता है जबकि प्रोटीन का उनके प्रजनन से कोई भी सीधा संबंध नहीं होता। वायरसों से प्रभावित तंबाकू के पौधे से राइबोन्यूक्लियोप्रोटोन निकालकर इससे आरोग्य प्रोटीन तथा आरोग्य न्यूक्लिक अम्ल का रासायनिक विधियों द्वारा पृथक्कीकरण किया जा सकता है।

पौध-वायरस समूह के कुछ मुख्य सदस्य

वायरस	रूप	आकार (मि. माइक्रॉन)
तंबाकू का मुजैक	छड़ाकार	300 X 15
तंबाकू का कुर्चा-रोध	गोलाकार	22
तंबाकू का का परिगलन रोग	”	25
शलजम का पीला मुजैक	”	17
सेम का मुजैक	”	20

जीवाणुभोजी-वायरस

बहुत से जीवाणु, उच्च, विशिष्ट, भोजियों के शिकार हो जाते हैं। यह आक्रमण या तो उसी जाति के जीवाणु द्वारा या उसी श्रेणी के किसी अन्य जाति के जीवाणुओं द्वारा होता है। इस्करीचिया कोलाई (Escherichia coli) स्ट्रेन 'ब' पर आक्रमण करने वाले सभी जीवाणुभोजियों के कणों का विस्तृत अध्ययन किया जा चुका है जिनमें से सात किस्म के जीवाणुभोजियों का, अक्षर 'T' का प्रयोग करके (T_1 T_2 T_3 T_4 T_5 T_6 T_7) नामकरण भी किया गया है।

जीवाणुभोजियों का शारीरिक संगठन

उपर्युक्त सातों जीवाणुभोजियों को इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मवीक्षण यंत्रों द्वारा पृथक किया जा सकता है। इनका शरीर षटकोणीय (अनुप्रस्थ काट के अनुसार) आकार का होता है। शरीर में एक समपार्श्वीय शिर तथा एक पूंछ भी होती है। इसी पूंछ की सहायता से होस्ट कोशिकाओं तथा जीवाणुभोजियों का आपसी संपर्क स्थापित होता है।

गुण एवं चरित्र के अनुसार T_2, T_4 तथा T_6एक दूसरे के बहुत कुछ समान होते हैं। उनका शरीर व्यास में 95 X 65 मिलिमाइक्रॉन होता है। पूंछ 25 मिलिमाइक्रॉन चौड़ी और 100 मिलिमाइक्रॉन लंबी होती है। T_1 तथा T_5 भी चरित्र एवं गुणों में लगभग समान होते हैं और इनका आकार प्रथम श्रेणी के सदस्यों की तुलना में छोटा होता है। T_3 और T_7 की पूंछें अतिसूक्ष्म होती हैं।

इनके शरीर का शुष्क भार के आधार पर रासायनिक विश्लेषण करने से यह निष्कर्ष निकला है कि शरीर का 40 प्रतिशत **डीआक्सीराइबो न्यूक्लियोप्रोटीन** तथा **डीआक्सीराइबोन्यूक्लिक अम्ल** (DNA) के संयोग से बना है तथा शेष भाग प्रोटीन आवरण के अतिरिक्त अन्य पदार्थों से संगठित है। एक से दूसरे पौधे पर आक्रमण, प्रजनन तथा अन्य शारीरिक क्रियाओं का संपूर्ण श्रेय इसी DNA को ही है। प्रोटीन-आवरण के दो मुख्य कार्य हैं–

(1) अपने एक मजबूत आवरण द्वारा DNA की बाहरी प्रतिकूल परिस्थितियों से रक्षा करना।

(2) होस्ट कोशिकाओं एवं जीवाणुभोजियों का एक दूसरे से संपर्क स्थापित करना।

जीवाणुभोजिय वायरस का जीवन-चक्र

एक सक्रिय जीवाणु द्वारा जीवाणुभोजियों के स्वतंत्र कणों के अवशोषण के साथ ही इनका जीवन चक्र प्रारंभ होता है। अवशोषण के पश्चात् ही, न्यूक्लिक अम्ल, को त्यागकर होस्ट-कोशिका में प्रवेश करता है। यह प्रोटीन-आवरण होस्ट कोशिका की सतह द्वारा अवशोषित कर लिया जाता है। इधर जीवाणुभोजी-वायरस का न्यूक्लिक अम्ल (DNA) कोशिका के अंत में प्रजनन प्रारंभ कर देता है और अल्प काल में ही नव अवस्था कणों की उत्पत्ति के लिए स्वतंत्र कणों का पर्याप्त उत्पादन कर लेता है।

प्रजननीय पदार्थ को **वानस्पतिक रूप** कहते हैं। यदि इस प्रजनन काल में होस्ट कोशिका का कृत्रिम कोशविलयन हो जाता है तो किसी भी नव अवस्था का उत्पादन नहीं हो पाता। इसीलिए प्रजनन के इस अवस्था को ग्रहणकाल कहा जाता है। ग्रहणकाल के अंत में (वानस्पतिक रूप) कणों पर प्रोटीन आवरण बन जाता हैं होस्ट कोशिका का कोशविलयन हो जाता है और एक परिपक्व रूप उपस्थित होने के पश्चात् इसी अवस्था में एक नए होस्ट पर आक्रमण हो जाता हैं परंतु यदि नए होस्ट का अभाव है तो यह अंतिम रूप अक्रिय अवस्था में अनिश्चित काल तक पड़ा रहता है और जब नया होस्ट मिल जाता है तो यह अपना जीवन-चक्र पुनः आरंभ कर देता हैं चित्र नं. 1 में जीवन-चक्र को स्पष्ट रूप में समझाया गया है।
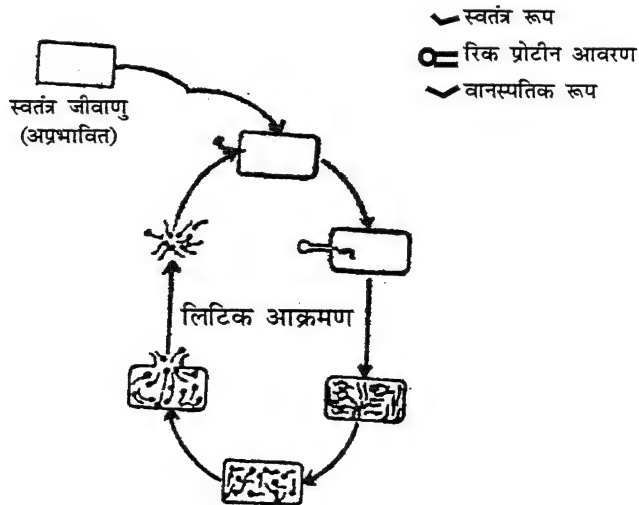
जीवाणुभोजियों का अंतःकोशिकीय विकास

जीवाणुभोजियों के विकास में मुख्य हाथ प्रोटीन का है अथवा न्यूक्लिक अम्ल का इसी प्रश्न के स्पष्टीकरण के लिए 1952 ई. में हर्सी एवं चेज ने रेडियोसक्रिय $P^{32}O_4$ तथा $S^{35}O_4$ का प्रयोग करके बताया कि विकास का संपूर्ण श्रेय न्यूक्लिक अम्ल को ही है। प्रोटीन की अनुपस्थिति में भी प्रजनन क्रिया नियमित रूप से चलती रहती है। न्यूक्लिक अम्ल PO_4 की देन है तथा SO_4 प्रोटीन का मुख्य अंग है। इसीलिए अध्ययन को सुगम एवं पुष्ट बनाने के लिए इनके रेडियो-सक्रिय रूपों का प्रयोग किया गया।

एक अप्रभावित होस्ट कोशिका पर S^{35} तथा P^{32} का प्रयोग करके देखा गया कि S^{35} कोशिकाओं की सतह पर ही अवशोषित हो जाता है तथा इसका प्रजनन से कोई संबंध नहीं होता हैं जबकि P^{32} होस्ट कोशिका के न्यूक्लियस में पहुंचकर प्रजनन कार्य प्रारंभ कर देता है।

लाइसोजेनी–लिटिक जीवन-चक्र के अतिरिक्त जीवाणुभोजियों का होस्ट जीवोपजीवी संपर्क दूसरे प्रकार से भी होता है जिसे 'लाइसोजेनी' शब्द से संबोधित किया जाता है। इसके अंतर्गत, प्रभावित होस्ट जीवाणु, अपना प्रजनन व विकास सामान्य एवं सुचारू रूप से करता रहता है तथा जीवाणुभोजियों के आक्रमण का उन पर कोई तत्काल प्रभाव नहीं पड़ता हैं कुछ काल पश्चात् प्रभावित होस्ट कोशिका एकाएक फट जाती है और जीवाणुभोजियों के नए स्वतंत्र कण उपस्थित हो जाते हैं। जिससे यह स्पष्ट है कि इस प्रभावित काल में होस्ट कोशिकाओं में जीवाणुभोजियों का अंतः विकास निरंतर होता रहता है। इस प्रकार के जीवाणु को लाइसोजेनिक जीवाणु कहते हैं।

जीव वैज्ञानिकों के सजीव एवं निर्जीव श्रेणी-विभाजन के अनुसार वायरस को सजीव पदार्थों की श्रेणी में सजाया गया है। ल्यूरिने ने भी यही स्पष्टीकरण किया कि यदि किसी पदार्थ में एक से अधिक न्यूकिलक अम्ल-अणु उपस्थित हो और उनका स्वयं-प्रजनन इन्हीं न्यूक्लिक अम्लों द्वारा होता हो तो वे सजीव पदार्थ हैं। अतः स्वास्थ्य विज्ञान में भी इसके अध्ययन का काफी महत्व है।

ब्रह्मांड प्रसरण*

शमीम अहमद

पृथ्वी, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह तथा उपग्रहों के संपूर्ण झुंड को ब्रह्मांड के नाम से पुकारते हैं। हमारा चिरपरिचित सूर्य एक नक्षत्र तथा पृथ्वी उसका एक ग्रह है। इसी पकार सूर्य के और अन्य ग्रह हैं। ग्रह अपने जनक नक्षत्र के चारों तरफ चक्कर लगाते रहते हैं। उपग्रह नामक रचना अपने जनक ग्रह के चारों ओर चक्कर लगाती है। रात्रि के समय यदि हम निर्मल आकाश का निरीक्षण करें तो उस समय हमें मुख्यतः दो प्रकार के प्रकाश-बिंदु दृष्टिगत होते हैं—प्रथम तो ऐसे होते हैं जिनके समान रूप से प्रकाश प्रस्फुटित होता रहता है और इनका आकार अन्य की अपेक्षा बड़ा मालूम पड़ता है। दूसरे प्रकार के प्रकाश बिंदुओं से टिमटिमाता हुआ प्रकाश निकलता है। इस टिमटिमाते हुए प्रकाश वाली रचना को नक्षत्र कहते हैं (तथा चमकीले और बड़े प्रतीत होने वाले प्रकाश-कणों को नक्षत्र कहते हैं)। नक्षत्रों की द्युति स्वयं की होती है, आकार बहुत विशाल होता है तथा उनकी दूरी पृथ्वी से बहुत अधिक होती है। यही कारण है कि उनका आकार छोटा प्रतीत होता है। ग्रहों की द्युति नक्षत्रों के कारण होती है और आकार नक्षत्रों की अपेक्षा बहुत छोटा होता है तथा ये बड़े निकट विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ, सूर्य जो कि एक नक्षत्र है हमसे इतनी अधिक दूरी पर स्थित है कि उसके तथा चंद्रमा के द्वारा हमारी आंख पर समान बिंब बनता है और इसी कारण हमें सूर्यग्रहण पूर्ण रूप में भी दिखाई देता है।

रात्रि के धवल चन्द्र दीप्ति पूर्ण निर्मल आकाश में नक्षत्र, ग्रह तथा उपग्रहों के अतिरिक्त एक शुभ्र अथवा श्वेत चादर के समान फैली हुई रचना प्रतीत होती है जिसे हम आकाश-गंगा, (अंग्रेजी में गैलेक्सी अथवा ग्रामीण बोलचाल में डंहर)

* विज्ञान, मार्च 1962

के नाम से संबोधित करते हैं। इसकी रचना का ज्ञान हमें तब तक नहीं हो सका जब तक हमारे पास शक्तिशाली दूरवीक्षण यंत्र नहीं सुलभ हो गए। शक्तिशाली दूरबीनों से देखने पर वैज्ञानिक इस तथ्य पर पहुंचे कि इसकी रचना एक लेंस या ताल के समान है जिसका बीच का भाग मोटा है और किनारे पतले हैं। मूलतः इसमें हमारे सौर-मंडल के समान अनेक नक्षत्रों के परिवार विद्यमान हैं। इस ताल का व्यास 100,000 प्रकाश वर्ष* तथा मध्य भाग की मोटाई 10000 प्रकाश वर्ष है। **प्रो. कैपटिन** ने यह भी बताया कि आकाश गंगा में लगभग 400,000,000,000 नक्षत्र विद्यमान है। हमारा सूर्य इस रचना के केंद्र से लगभग 30000 प्रकाश वर्ष दूर है। आकाश गंगा का मध्य भाग घनत्व में सीमावर्तीय भागों से अधिक है। इसकी कोई सूक्ष्म सीमा नहीं है। इसका केंद्र सैगटीरियस नामक नक्षत्र से होकर जाता हुआ माना जाता है। परंतु इस महान रचना में केवल 2000 प्रदीप्त प्रकाश बिंदु एक स्थान से दिखाई देते हैं। जब धुंधले प्रकाश-बिंदुओं को भी गणना में ले लिया जाता है तो संख्या 6000 तक पहुंच जाती है। कैपटिन ने तो समस्त प्रकाश कणों की गणना करके लगभग 400000000000 संख्या बताई। कैपटिन के अनुसंधानों ने आकाश-गंगा तथा अन्य नीहारिकाओं की रचना को सुलझाने में बहुत योगदान दिया है।

ब्रह्मांड की रचना

जिस प्रकार हमने देखा कि आकाश-गंगा एक धवल चादर मात्र न होकर असंख्य नक्षत्रों का एक भंडार है, इसी प्रकार इस आकाश में और भी रचनाएं विद्यमान हैं जिनको हम उस समय तक अकेली पिंड रचनाएं मानते थे, जब तक आज से 200 वर्ष पहले 'लैंबर्ट' तथा 'कांट' ने यह प्रमाणित नहीं कर दिया कि वास्तव में ये रचनाएं हमारी आकाश-गंगा के समान असंख्य सूर्य तथा नक्षणों के समूह को धारण करने वाली हैं तथा इन रचनाओं में जीवन-अस्तिव संभव है। इस गवेषणा ने ब्रह्मांड रचना को समझने में बहुत योग दिया। यह गवेषणा एक अद्‌भुत यंत्र 'स्पेक्ट्रोग्राफ' के द्वारा संपन्न की गई। स्पेक्ट्रोग्राफ के द्वारा ही हम 'नीहारिकाओं' की रचना, विस्तार एवं अन्य जानकारियों के बारे में अनुसंधान करने में सफल हुए। हमारी आकाश गंगा भी उन्हीं नीहारिकाओं में से एक है।

विशालकाय दूरबीनों की सहायता से निरीक्षण करने पर यह पता चलता

---

* प्रकाश वर्ष वह दूरी है जो प्रकाश की किरणें एक वर्ष में चलती हैं।

है कि कुछ नीहारिकाओं में पंख जैसा कोई भाग मालूम पड़ता है, कुछ की रचना सर्पिल, कुछ की गोलाकार तथा कुछ की अन्य विचित्र प्रतिमूर्तियां प्रतीत होती हैं। यह सब रचनात्मक भेद भिन्न-भिन्न नीहारिकाओं की आंतरिक गतियों का परिचय देते हैं। उदाहरणस्वरूप हमारी आकाश-गंगा अपनी कल्पित दूरी पर चक्कर लगाती है तथा सूर्य इसके साथ-साथ 2,250,000,000 वर्ष में अपना एक चक्कर पूरा कर लेता है। अब प्रश्न उठता है कि उपरोक्त तथ्य को प्राप्त कैसे किया गया तथा इसकी सत्यता की जांच कैसे की गई? इस प्रश्न का उत्तर पाने के पहले एक अत्यंत रोचक सिद्धांत को समझना आवश्यक है और तब इसके बाद उपरोक्त कथन की पुष्टि अपने आप की जा सकेगी।

इस रोचक तथा उपयोगी सिद्धांत का नाम **'डाप्लर सिद्धांत'** है। यह सिद्धांत हमें बताता है कि कोई प्रदीप्त पिंड पर्यवेक्षक से एक समान वेग से दूर जा रहा हो तो पर्यवेक्षक द्वारा प्राप्त उस पिंड के वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) में लाल रंग की वर्ण रेखाएं अपने स्थान से विचलित प्रतीत होंगी और यदि पिंड पर्यवेक्षक के निकट आता होगा तो बैंगनी रंग की वर्ण रेखाएं विचलित प्रतीत होंगी। इस विचलन की मात्रा उस वेग के अनुसार होगी जिससे पिंड गतिमान होता है। इस विचलन का ज्ञान हमें दो समय के अथवा दो प्रदीप्त पिंडों के वर्णक्रम से प्राप्त हो सकता है। इस सिद्धांत की सहायता से अब वैज्ञानिक इस योग्य हो गए कि किसी आकाशीय रचना की सापेक्ष गति का ज्ञान प्राप्त कर सकें। जब 'डाप्लर प्रभाव' मालूम हो गया तो अब हम पहले के प्रश्नों का उत्तर सरलता से प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् विचलन का पा जाना हमारी आकाश-गंगा की गति का पूर्ण परिचायक है। 'स्पेक्ट्रोग्राफीय' अध्ययन के पश्चात् यह विदित हुआ कि हमारी आकाश-गंगा में वर्तमान नक्षत्रों में दोनों प्रकार की गतियों का होना आवश्यक है जो यह प्रमाणित करता है कि कुछ नक्षत्र हमारी ओर अग्रसर हैं और कुछ हमसे दूर। अर्थात् आकाश-गंगा अपनी धुरी पर घूम रही है। अन्य नीहारिकाओं के वर्णक्रम की परीक्षा करने पर यह ज्ञात हुआ कि वे भिन्न-भिन्न गतियों से हमारी आकाश-गंगा से दूर जा रही हैं। इस महान आविष्कार का जन्म सन् 1942 ई. में **हब्बुल** नामक खगोलवेत्ता ने किया। इस सिद्धांत की सहायता से किए गए अनुसंधानों के आधार पर आज हम कह सकते हैं कि ब्रह्मांड में विद्यमान विभिन्न रचनाएं ठीक उसी प्रकार गतिमान हैं जिस प्रकार एक कोष में रखे हुए गैसीय अणु तथा परमाणु। अंतर केवल आकार एवं दूरी का है।

अब प्रश्न उठता है कि इन नीहारिकाओं के अंतःकरण में कौन-कौन से

पदार्थ विद्यमान हैं? इसका उत्तर देना उतना आसान नहीं क्योंकि ये नीहारिकाएं हमसे इतनी अधिक दूरी पर हैं कि प्रकाश को चलने में लाखों वर्ष लग जाते हैं। इसलिए हमें किसी अन्य माध्यम का सहारा लेना पड़ेगा। जैसा कि हम जानते हैं कि जब किसी प्रदीप्त वस्तु से प्राप्त किरण पुंज को त्रिपार्श्व पर डाला जाता है तो उसके द्वारा एक स्पेक्ट्रम प्राप्त होता है जिसमें विद्यमान रेखाएं इस पिंड के आंतरिक पदार्थों की उपस्थिति की परिचायक होती हैं। इस सिद्धांत का आश्रय लेकर वैज्ञानिकों ने अनुसंधान कार्य प्रारंभ किया।

ब्रह्मांड रचना का अध्ययन सर्वप्रथम सन् 1912 ई. में प्रारंभ हुआ क्योंकि इसी वर्ष डॉ. वी. एम. स्लीफर, 'फ्लैगस्टाफ' और 'अरिजोना' ने प्रथम प्रयत्न 'सर्पिल नीहारिका' की गति संबंधी गवेषणा करने में सफल किया था। उस समय उसकी रचना, गति, आकार तथा दूरी के बारे में कोईग ज्ञान नहीं प्राप्त था। कुछ लोगों का अनुमान था कि ये हमारी आकाश-गंगा के अंदर विद्यमान हैं पर कुछ लोगों का कहना था कि ये आकाश-गंगा से बाहर की ही रचनाएं हैं। किसी का कथन प्रामाणिक नहीं था, केवल कल्पनाएं मात्र थी। इनकी क्षीण दीप्ति के कारण वर्णक्रम का फोटो लेना भी एक दुरुह कार्य था। अतः डॉ. सलीफर ने लावेल की वेधशाला में एक न्यून-विस्तरण-स्पेक्ट्रोग्राफ की रचना करके जिसके साथ एक न्यून फोकस का तीक्ष्ण कैमरा भी था, एक 24 इंच के परावर्तक के साथ जोड़ दिया। इस प्रकार उपरोक्त यंत्र की सहायता से सन् 1924 ई. तक 13 तथा 1925 ई. तक 25 नीहारिकाओं की गतियों को डॉ. स्लीफर ने मालूम किया। इसी विधि से यह भी मालूम किया गया कि नीहारिकाओं की दूर जाने की सबसे अधिक गति 1125 मील प्रति सेकेंड है। इसी बीच उच्च्च परावर्तक दूरबीनों की रचना के फलस्वरूप नीहारिकाओं की दूरी के बारे में भी अध्ययन किया गया। सन् 1909 ई. में 60 इंच परावर्तक की दूरबीन काम में लाई गई तथा सन् 1918 ई. में माउंट विल्सन पर 100 इंच परावर्तक की विशालकाय दूरबीन स्थापित की गई। जुलाई सन् 1917 ई. में 'रिशी' नामक वैज्ञानिक ने 60 इंच दूरबीन की सहायता से एक नवीन नक्षत्र का दर्शन NGC6946 नामक नीहारिका में किया जिसके प्रकाश में क्रमशः परिवर्तन होता रहता है और उसे 'नोवा' कहा। इसी प्रकार 'एन्ट्रोमीडा' नामक नीहारिका में भी दो 'नोवा' का पता 'रिशी' ने लगाया। तत्पश्चात् 14 और 'नोवा' इस संस्थान में पाए गए। इन 'नोवा' का प्रकाश आंखों से देखे गए सबसे धुंधले नक्षत्र से 25000 गुना और धुंधला होता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि ये नीहारिकाएं हमसे बहुत दूर स्थिति हैं।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि ये हमारी आकाश-गंगा के अंदर या बाहर विद्यमान हैं। इसका उत्तर 100 इंच की दूरबीन से हुआ। इस विशाल दूरबीन से 'ऐन्ड्रोमीडा' नामक नीहारिका का निरीक्षण करने पर नोवा के अतिरिक्त एक ऐसा नवीन नक्षत्र मिला जो आवर्तनीय क्रम से अपनी द्युति बदलता रहता है। इस नक्षत्र का नाम 'सेफिड वैरियेबुल' रखा गया।

वैज्ञानिकों के प्रयास से एक ऐसा सूत्र प्राप्त हुआ जिसके द्वारा इस नक्षत्र के आवर्तन काल (दीप्यमानता का आवर्तन काल) तथा इसकी दूरी में एक निश्चित संबंध मालूम हुआ। इस प्रकार दूरी की गणना करने पर 900,000 प्रकाश वर्ष प्राप्त हुआ जो यह प्रमाणित करता है कि ये रचनाएं हमारी आकाश-गंगा से बहुत दूर स्थित हैं। तत्पश्चात् गणितीय विधियों से जब इसका विस्तार मालूम किया तो उसका मान लगभग हमारी आकाश-गंगा के विस्तार के बराबर आया। इसी प्रकार अन्य नीहारिकाओं के अध्ययन से फल प्राप्त हुए जो यह प्रमाणित करते हैं कि अन्य नीहारिकाएं भी हमारी आकाश-गंगा के समान शून्य में विद्यमान हैं। उनके भिन्न-भिन्न रूप केवल उनकी आंतरिक गतियों की भिन्नता के कारण दिखाई पड़ते हैं।

रचना संबंधी अंतिम प्रश्न यह हुआ कि नीहारिकाओं का सृजन करने वाले नक्षत्रों तथा उनके किनारे के रिक्त स्थान की क्या रचना है? कौन-कौन से तत्त्व कितनी मात्रा में विद्यमान हैं? इनका उत्तर भी इसी विशालकाय दूरबीन के पर्यवेक्षणों से प्राप्त हुआ। पर्यवेक्षणों के आधार पर वैज्ञानिकों के अनुमान हैं कि नक्षत्रों के बीच रिक्त स्थान में विभिन्न आकार की ब्रह्मांडीय-धूल (कास्मिक डस्ट) विद्यमान है जिसके कारण प्रकाश का विकीर्णन होता है और विभिन्न नक्षत्रों के रंग भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। यदि संपूर्ण तत्वों की आपेक्षिक विद्यमानता को एकत्र किया जाए तो निम्न तालिका प्राप्त होती है—

हाइड्रोजन	1.0000	कार्बन	0.0010
हीलियम	0.5400	मैगनीशियम	0.0010
नियान	0.0100	आयरन	0.0010
आक्सीजन	0.0100	सिलिकन	0.0005
नाइट्रोजन	0.0040	सल्फर	0.0005
आर्सेनिक	0.0020	योग =	1.5700

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मांड की रचना क्या है और उसके अंदर कौन से तत्त्व किस अनुपात से विद्यमान हैं। परंतु अब प्रश्न उठता है कि आकार कैसा है?

ब्रह्मांड का आकार

ब्रह्मांड के आकार को समझने का सर्वप्रथम गणितीय प्रयत्न **आइन्स्टाइन** के सापेक्षवाद सिद्धांत द्वारा संपन्न हुआ। इसके पहले केवल 'पालोमर' वेधशाला की 200 इंच दूरबीन के द्वारा देखा जाने वाला ब्रह्मांड ही केवल हमें मालूम था जिसमें अनेक नीहारिकाओं का विस्तरण माना जाता है। परंतु जब हबुल गवेषणा से यह प्रमाणित हो गया कि ब्रह्मांड प्रसारित अवस्था में है तो सापेक्षवाद ने दो सुझाव हमारे सम्मुख उपस्थित किए।

आइन्स्टाइन की गणना के आधार पर ब्रह्मांड का वक्र होना निश्चय किया गया। परंतु वक्रता दो प्रकार की होती हैं एक उन्नतोदर तथा दूसरी नतोदर। यदि ब्रह्मांड की वक्रता उन्नतोदर है तो यह संभव है कि हम कुछ अरब वर्षों के बाद अपने पीठ पीछे सर के कटे बाल को बिना दर्पण की सहायता के देखने में सफल हो जाएंगे। क्योंकि प्रकाश की किरणें कुछ अरब वर्षों के बाद अवश्य ब्रह्मांड का चक्कर लगाकर जहां से चली थीं वहीं फिर आ पहुंचेगी। परंतु कौनी-सी वक्रता ब्रह्मांड की है इसका उत्तर दृष्टिगत पर्यवेक्षणों के द्वारा ही पुष्ट किया जा सकता है। उन्नतोदर वक्रता का अर्थ यह होता है कि ब्रह्मांड का आयतन सीमित होगा इसलिए इसका प्रसरण एवं संकुचन आवर्तनीय रूप से घटित होगा तथा आवर्तनकाल भी एक सीमा पर निश्चित होगा। अर्थात् समस्त विशेषताएं सीमा के अंतर्गत होगी जैसे एक गोलाकार पिंड। नतोदर वक्रता वाले ब्रह्मांड का आयतन असीम होगा, प्रसरण की सीमा तथा काल असीम होगा अर्थात् सारी विशेषताएं अनंत होंगी। परीक्षणों तथा गणितीग कलनों से ब्रह्मांड की वक्रता का रूप नतोदर ही आता है। परंतु उपरोक्त कथन तभी तक सत्य है जब तक हमारी धारणा के मौलिक सूत्र सत्य हैं अन्यथा इनकी सत्यता का कोई दूसरा आधार नहीं है। इस अवसर पर स्वीडेन के खगोलवेत्ता 'चार्लियर' की 'असीम जटिलता की परिकल्पना' का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। इस परिकल्पना के अनुसार हमारी आकाश-गंगा तथा अन्य नीहारिकाएं एक समूह बनाती हैं, इसी प्रकार शून्य में लाखों-अरबों समूह मिलकर अन्य एक विशाल समूह की रचना करते हैं तथा इसी प्रकार जटिलता का क्रम बढ़ता जाता है जिसको हमारी सबसे

बड़ी आंख भी देखने में असमर्थ है।

प्रसरण

'हबुल' की महान् खोज तथा वैज्ञानिकों के प्रयत्न से यह पूर्ण रूप से प्रमाणित हो गया कि अन्य नीहारिकाएं अधिकांशतः हमसे दूर जा रही हैं उनके दूर जाने के वेग की गणना करने पर बीच की दूरी का समानुपाती पाया गया। गणितीय विधियों द्वारा गणना से यह प्राप्त हुआ कि इन नीहारिकाओं पर मुख्यतः दो प्रकार का बल लगता है—प्रथम आपस में आकर्षण, द्वितीय अटपटी गति के कारण। इन दोनों बलों के लब्ध की दिशा में नीहारिका गतिमान होती है। ज्यों-ज्यों दो नीहारिकाओं के बीच की दूरी बढ़ती जाती है वेग बढ़ता जाता है। परंतु किसी नीहारिका पर आकर्षण अधिक होता है इसलिए उसके वर्णक्रम में बैंगनी विचलन पाया जाता है। 'सांख्यकीय यांत्रिकी' से गणना करने पर नीहारिकाओं की गति ठीक गैसीय प्रकोष्ट में विद्यमान अणुओं की सी पाई गई है। उपरोक्त प्रसरण को समझने के लिए एक सरल उदाहरण पर्याप्त होगा। यदि एक गुब्बारे पर विभिन्न निशान बना दिए जाएं और गुब्बारे को फुलाया जाए तो प्रत्येक चिह्न एक दूसरे से दूर भागता हुआ दिखाई देगा। ठीक इसी प्रकार नीहारिकाएं एक दूसरे से दूर भागती हैं।

'फ्रीडमैन' आदि वैज्ञानिकों ने आइन्स्टाइन के टेन्सरीय समीकरणों को हल करके यह प्रमाणित कर दिया है कि ब्रह्मांड का प्रसरण एवं संकुचन दोनों संभव हैं। प्रसरण हुआ क्यों इसके उत्तर में उनका अनुमान है कि ब्रह्मांड की आरंभिक अवस्था इतनी अस्थिर थी कि जिसका अनुमान उस समय के भयंकर घनत्व (1000,000,000,0 टन प्र. घन सेमी.) से किया जा सकता है। क्योंकि ज्यों-ज्यों पदार्थ का घनत्व बढ़ता जाता है उसका नाभिक अस्थिर होता जाता है।

प्रसरण सांत या अनांत—उपग्रह संबंधी 'स्केप वेलासिटी' का अध्ययन नीहारिकाओं के वेग के ऊपर करने पर गणितज्ञों ने गणना द्वारा प्रमाणित किया है कि ब्रह्मांड के संकुचन की कल्पना निरर्थक है। क्योंकि गुरुत्व अवरोध नीहारिकाओं के वेग की अपेक्षा बहुत कम है इसलिए फिर नीहारिकाओं का इकट्ठा होना संभव नहीं प्रतीत होता।

ब्रह्मांड की आयु—हबुल के समीकरणों का अध्ययन करने पर यह विदित होता है कि जब अवगमन वेग की बीच की दूरी से भाग दिया जाता है तो एक अचर राशि प्राप्त होती है जिसका मान हर नीहारिका की गणना में 1.7×10^9

वर्ष होता है जिसको हम ब्रह्मांड की आयु मान सकते हैं परंतु रेडियो सक्रियता संबंधी गणना द्वारा प्राप्त फल से मेल नहीं खाता। इसका कारण लेमैत्र नामक वैज्ञानिक ने बताया कि उपरोक्त संख्या को 'कास्मोलाजिकल कान्सटेंट' से गुणा कर देने पर सही मान प्राप्त हो जाता है। परंतु होयल 'सतत् रचना' के अनुसार ब्रह्मांड की आयु तथा सब विशेषताएं अनंत हैं।

विज्ञान कथा

अंधविश्वासों की समाधि पर*

डॉ. पद्माकर द्विवेदी, एम.बी.बी.एस.

जो हालत अपने यहां हैजा और चेचक का है, वही 1900 के आसपास दक्षिणी अमेरिका, पश्चिमी द्वीपसमूह की पीले बुखार (यलो फीवर) के नाते थी। इस बुखार में आदमी पीला पड़ जाता है, आंखें लाल हो जाती हैं, सारे बदन में पीड़ा होती है और रक्त वाहिकाओं के फट जाने से जगह-जगह से खून बहने लगता है। उस समय इस रोग से कम से कम बीस फीसदी आदमी मर जाते थे और कभी-कभी यह संख्या साठ फीसदी के भी ऊपर हो जाती थी।

ऐसे खतरनाक बुखार के बारे में लोगों की राय तरह-तरह की थीं। लोगों के विचार क्या थे, पूरे अंधविश्वास थे। ये अंधविश्वास भी ऐसे बढ़े-चढ़े कि बीमारियों के बारे में अपने यहां के अंधविश्वासों को कहीं पीछे छोड़ जाएं। ऐसे ही निराधार विश्वासों में से एक यह था, कि पीला बुखार कपड़े-लत्ते, बिस्तर-बोरे, लोटे-थाली और उन तमाम चीजों से फैलता है जो रोगी के उपयोग में आती है। ऐसे ही विश्वास अमेरिका के सर्जन जनरल का भी था। अमेरिका के हर बड़े चिकित्सक का था और साधारण जनता की तो बात ही अलग रही। वह भी इन्हीं विचारों की शिकार थी। पीत-ज्वर के रोगियों की पूरी शय्या आग के सिपुर्द कर दी जाती थी। मरीजों के रेशम और साटन के लिए लोग कहते भपारा देने से ही काम चल जाएगा और जो अधिक कट्टर होते वे उसे जला देने या दफनाने पर जोर देते। लोग मरीजों से हाथ तक न मिलाते उनके मकान जला देते। जो घर गिराए न जा सकते, उन्हें गंधक के धुएं से भर दिया जाता, लेकिन अगर कोई कुछ न करता तो इतना तो था ही कि सब लोग मरीजों के गांव से निकल भागते। गांव से बहुत दूर कुटियों की यह बस्ती वैसी ही लगती जैसे अपने

---

* विज्ञान-जगत्, जून 1962

यहां ताऊन प्लेग से बचाव के लिए कुछ दिनों पहले बसाई जाती थी। लोग समझते थे कि पीला यमदूत दीवारों के भीतर भी रेंग जाता है और आज यहां तो कल वहां करके सब जगह फैल जाता है।

ऐसे अंधविश्वासों के अंधड़ में, जब विज्ञान के कोई वृक्ष पनपने न पा रहे थे, तो **फिनले** ऐसा बीज बो रहा था, जिससे उत्पन्न वृक्ष इन आंधियों की आड़ दे सकें। फिनले (Carlos L. Finlay) का कहना था पीला बुखार मच्छर के काटने से फैलता है। पर अनेक अंधविश्वासों के बीच फिनले का यह विचार भी किसी अंधविश्वास से कम न लगते। फिनले के इसी विचार के लिए लोग उसे मूर्खाधिराज कहते।

इन भांति-भांति के अंधविश्वासों के बीच मेजर वाल्टर रीड (Walter Reed) ने, 25 जून 1900 को क्यूबा के क्यूमेडांस प्रांत में यह आदेश दिया, "पीले बुखार के कारण और निवारण के लिए विशेष ध्यान दिया जाए।" इस आदेश का मतलब था अंधविश्वासों को एक-एक करके विज्ञान की कसौटी पर कसा जाए और जो खरे न उतरें उन्हें दफना दिया जाए। उनकी समाधि बना दी जाए।

अब सवाल यह था कौन-सा अंधविश्वास पहले कसा जाए। वाल्टर रीड ने सहज बुद्धि से काम लिया। उन्होंने देखा पीले बुखार से हजारों फौजी सिपाही खतम हो चुके हैं। इन सिपाहियों को बड़ी सफाई से रहने की हिदायत है। इन हिदायतों के पालन करने पर भी वे उसी तरह मरते हैं जैसे गंदगी में रहनेवाला मरीज। दूसरी ओर फिनले उन मच्छरों को दिखलाता है जिनके काटने से यह बुखार पनपता है। यही सोचकर रीड ने पहले इसी अंधविश्वास को जांचने की ठानी।

फिनले से उन मच्छरों के अंडे लेकर रीड ने पीले बुखार के मरीजों को डंसवाना शुरू किया। फिर उन मच्छरों से चूहे, बिल्ली, खरगोश आदि जानवरों को डंसवाया। लेकिन इनमें से किसी को बुखार न हुआ। लोगों ने इसे फिनले की असफलता माना। पर रीड ऐसे पीछे हटने वाले नहीं थे। उन्होंने कहा, "अगर काटने से जानवरों में बुखार नहीं होता है तो इससे यह तो साबित नहीं किया जा सकता कि इनके काटने से आदमियों को भी यह बीमारी न हो। इसलिए हमें यह बीमारी आदमियों में पैदा करनी चाहिए।" गिनीपिग की तरह आदमियों को प्रयोगशाला का पशु बनाना चाहिए। लेकिन यह प्रयोग खतरे से खाली न था। अगर फिनले की बात सच निकल गई और मच्छरों के काटने से पीला बुख्यार हो गया तो उन लोगों को मौत के मुंह से निकाला नहीं जा सकता। लेकिन इसके

अलावा चारा भी क्या था। जानवरों को यह बीमारी लगती नहीं थी। मच्छरों की मक्कारी साबित किए बिना इस बीमारी के निवारण के लिए कुछ किया भी नहीं जा सकता था।

रीड की अगली समस्या थी, ऐसे आदमी खोजने की जो मानवता की वेदी पर अपनी बलि देने को स्वयं तैयार हों। रीड की बातों में कोई क्यों आता, इसलिए रीड ने फौजी जवान की तरह काम किया। आखिर एक दिन मरना ही है तो क्यों न सत्कार्य के लिए जीवन समर्पित किया जाए। जो काम दूसरों से लेना है, उसे पहले खुद क्यों न किया जाए। इन्हीं विचारों की उथल-पुथल में उन्होंने अपने कमीशन में कहा, "अगर कमीशन के सदस्य पहले यह खतरा अपने सिर मोल लें और पीले बुखार से मरना चाहें तो इससे अमेरिकी फौजियों के सामने एक आदर्श उपस्थित हो जाएगा और हमारा काम आगे बढ़ निकलेगा..."

रीड की बात पूरी होने के पहले ही लजीर (Jesse W. Lazear) ने बड़ी खुशी से कहा। "मैं तैयार हूं।" उस समय उसने अपनी बीवी और दो बच्चों का कुछ भी ख्याल न किया। जेम्स कैरल (James Carroll) ने कहा, "मैं भी पीछे न रहूंगा श्रीमन्।" उस सहायक सर्जन को अपनी बीवी और पांच बच्चों की मदद के लिए भी काफी पैसे न मिलते थे, उनके लिए कुछ छोड़कर मरने की बात तो अलग रही।

इसी बीच रीड को वाशिंगटन जाना पड़ गया, क्योंकि उन्हें अपने काम की रिपोर्ट पेश करनी थी। जाते समय वे अपने साथियों कैरल और लजीर को मंत्रणाएं देते गए। ये आदेश बड़े ही गुप्त थे, क्योंकि रीड ने इन प्रयोगों के लिए 'ऊपर से हुक्म' नहीं लिया था।

लजीर ने मच्छरों *(Aedes aegypti, stegoma calopus)* को तैयार किया और उनसे डंसे जाने के लिए आदमियों को तैयार किया। उन सात आदमियों के नाम का आज तक नहीं पता है, जिन्हें पीला बुखार फैलाने वाले मच्छरों से कटवाया गया था। इनमें से किसी व्यक्ति को बुखार न चढ़ा। इससे लजीर को निराशा होने लगी, तो कैरल ने ढांढ़स बंधाया। मच्छर मलेरिया और रास की याद दिलाई और कहा, "रीड कह गए हैं, 'मच्छरों में खोजो', इसलिए हमें खोजना है। एक ही प्रयोग की असफलता से हताश होने से काम न चलेगा। अधिक खतरनाक मच्छरों का उपयोग करो। जिन मच्छरों ने तीन-चार बार पीले मरीजों का खून चूसा हो उनसे मुझे डंसवाओ।"

हुआ भी यही। कैरल के हाथों में मच्छरों के चैम्पियन ने डंक मारा। मच्छर

ने चार मरीजों का खून चूसा था। इन मरीजों में से दो तो मौत के पास से ही हो के गुजरे थे। मच्छर के काटते समय कैरल (Carroll) चाहे यह सोच रहा हो कि उसके पांच बच्चे हैं और बीवी भी है और उसके मर जाने पर क्या होगा, लेकिन उस दिन कैरल ने रीड को लिखा, 'अगर मच्छरों में पीला बुखार फैलाने की ताकत है, तो मुझे जोरों से बीमार पड़ना चाहिए।''

दो दिन बाद बदन में दर्द के साथ उसे जोरों को बुखार चढ़ा। कैरल ने सोचा मलेरिया होगा। वह अपनी उंगली से खून निकालकर उसमें मलेरिया के रोगाणु खोजने लगा। पर वहां उसका नामोनिशान न था। बीमारी में उसकी हालत गिरती गई। बीच-बीच में उसे लगता उसका दिल बैठा जा रहा है। लेकिन मच्छरों के साथ उसका प्रयोग सफल हुआ है—यह सोच वह मुस्कराया करता। वह गर्वपूर्वक कहा करता, ''प्रायोगिक पीले बुखार से गिरनेवाला मैं पहला आदमी हूं।''

जब कैरल को सिर दर्द शुरू ही हुआ था तो विलियम डीन को, जिसे वे लोग 'एक्स वाई' कहा करते थे, चार मच्छरों से डंसवाया गया। इन मच्छरों में से एक ने कैरल को काटा था, दूसरे ने छः कम बीमार आदमियों को काटा था, तीसरे ने चार बहुत बीमार मरीजों को और चौथे के काटे मरीज यह दुनिया छोड़ चुके थे। 'एक्स वाई' भी कैरल की तरह बीमार हुए।

इन दोनों मरीजों से सभी खुश हुए, पर लजीर को संदेह बना रहा। कहीं ऐसा तो नहीं है कि इन दोनों को पीला बुखार न होकर कुछ और हुआ हो—ऐसा वह सोचा करता। इस शंका के समाधान के लिए वह खतरनाक मच्छरों से भरी टेस्ट ट्यूब लिए वार्ड में फिरा करता। ट्यूब उलटकर मच्छरों से मरीजों को कटवाता और उन्हें बंद कर मच्छरों को थोड़े दिन आराम करने देता। इसी व्यस्तत्ता में एक दिन 13 सितंबर 1900 को—उसके हाथ में एक आवारा मच्छर ने डंक मार दिया। उसने यह नहीं सोचा कि इसके पास भी पीले बुखार का विषबाण हो सकता है क्योंकि उसे तो मानवता के हित में नरबलि देनी थी। पीतज्वर की अग्नि में आत्माहुति देनी थी। अठारह सितंबर आते-आते अन्यमनस्क-सा दिखने लगा। उन्नीस को बुखार सवा डिग्री और बढ़ गया। बीस को सारा बदन पीला हो गया और पचीस को लजीर परलोकवासी हो गया। कमीशन का एक सेनानी इस तरह पीले बुखार की लड़ाई में काम आया।

रीड अब तक वाशिंगटन से लौट आए थे। उन्होंने लजीर के लिए आंसू बहाते हुए कहा, ''अब मेरी बारी है।'' उनके सहायकों ने जब उन्हें ऐसा करने से रोकना चाहा तो उन्होंने कहा, ''लेकिन हमें इसे साबित करके रहना हैं आखिर

हममें से एक आदमी इसी के कारण मर गया है।" उनके इस दृढ़ निश्चय को जनरल लियोनार्ड वुड ने बड़ा बढ़ावा दिया। वुड ने कहा कि रीड जैसा चाहे वैसा करे। यही नहीं इसके लिए उन्होंने रीड की रुपयों-पैसों से अच्छी मदद की। इन रुपयों से रीड ने सात तंबू ताने। उनमें से एक पर अमेरिका का झंडा लगाया। उस शिविर का नाम रखा 'लजीर कैंप'। इससे उपयुक्त नाम और हो भी क्या सकता था।

लजीर ने अब घोषणा कर दी थी, "लड़ाई फिर से छिड़ गई हैं। लड़ाई आदमियों को मारने के लिए नहीं थी, उन्हें बचाने की थी। जैसा हरेक लड़ाई में होता है, कुछ लोग मृत होते ही हैं। मानवता के हित में कुछ मौतें अशुभ नहीं हैं। अधिक व्यक्तियों के बचाव के लिए कुछ का मर जाना बुरा नहीं है।"

इस घोषणा के बाद जो लोग रीड के पास आए, उनके सामने वे पीले बुखार की तस्वीर खींचते। उसकी भयावनी सूरत दिखाते। उसके खतरों से आगाह करते। ऐसे ही समझाते हुए एक बार उन्होंने ओहिओ के प्राइवेट किसेंगर और जॉन जे. मॉरन ने कहा, "अगर आप लोगों को उन मच्छरों से कटाया गया तो जनरल वुड की कृपा से आपको डेढ़ दो हजार रुपए मिल जाएंगे। लेकिन साथ ही खतरा यह है कि आप पांच व्यक्तियों में ऐसे एक भी हो सकते हैं जो बीमारी से उठकर दूसरी दुनिया में ही जाते हैं।"

"नहीं साहब", उन दोनों ने रीड से विनय की, "हम एक बात पर ही पीले बुखार के मरीज बन सकते हैं और वह शर्त है कि हमें इस काम के लिए एक कौड़ी भी न दी जाए।"

यह सुनते ही रीड ने टोप उतारा और कहा, "महात्माओं! मैं आपको प्रणाम करता हूं।"

फिर उनको बीमार करने की तैयारी होने लगी। पांच दिसंबर 1900 को किसेंगर को पांच खूंखार मच्छरों ने डंक मारा। इनमें से मच्छरों ने पंद्रह और उन्नीस रोज के पहले ऐसे मरीजों को चूसा था जो यह दुनिया छोड़ चुके थे। इनके अतिरिक्त पांच स्पेनवासी थे, जिन्होंने इस सत्कार्य के लिए हजार हजार रुपए लिया था। इनमें से एक को छोड़कर सभी को अच्छा-खासा बुखार चढ़ा। यह दिन रीड के विजयोत्साह का था। उसने अपनी बीवी को लिखा था, "यह खोज डिफ्थीरिया निरोधक सिरम और तपेदिक के जीवाणुओं की खोज के साथ गिनी जाएगी।"

फिनले के अंधविश्वास को अब वैज्ञानिक नींव मिल गई थी। पर रीड अब भी द्विधा में थे। वे सोच रहे थे, क्या और किसी तरीके से भी यह बुखार फैल

सकता है। अब लोगों में फैले अंधविश्वासों की कब्र खोदने की बारी थी। रीड अब यह तय करने जा रहे थे कि मरीजों के कपड़े-लत्तों से पीला बुखार फैल सकता है या नहीं।

इस काम के लिए उन्होंने दो कमरे बनवाए। इनमें से एक चौदह गुना बीस फीट का था। इसमें दो दरवाजे और दो खिड़कियां ऐसी लगी थीं जिससे कोई मच्छर अंदर नहीं घुस सकता था, न हवा का झोंका ही आ पाता। इसमें एक स्टोव कमरे को गरम करने के लिए जला करता। कमरे में पानी के हौदे रखे थे जिससे वातावरण नम बना रहता था। इस प्रकार यह कमरा कतई रहने योग्य न था। इसी कमरे में वे सब बक्से लाकर खोले गए जिसमें मरीजों के कपड़े-लत्ते भरे थे। उनके खुलेन पर कोई नाक बंद करके भी वहां खड़ा न हो सकता था। उसमें उन मरीजों की उलटियों से लथपथ कपड़े थे, तकिये और गद्दे थे। इन सबका अच्छा-खासा ढेर लगा दिया गया। मालूम पड़ता था होलिका दहन होने जा रही है। इसी नरक में डाक्टर कुक और दो फौजी सिपाही—फांक और जर्नेगन—उन कपड़ों का बिस्तर बनाकर लेटे। उनके शरीर पर इन भद्दे कपड़ों के अलावा और कुछ भी न था। ये लोग उसी में लेटे रहे। एक रात, दो रात करते-करते बीस रातें गुजर गईं। उस कमरे की गंदगियां बढ़ती गईं। नाक दबाना चाहते हुए भी वे ऐसा न कर सके। इसके बाद उन्हें अच्छे हवादार कमरे में रखा गया यह देखने के लिए कि उन्हें पीला बुखार होता है या नहीं।

एक तरह से यह अंधविश्वास की कब्र खुद चुकी थी। लेकिन रीड अभी उसे दफनाने से हिचकिचा रहे थे। उनका कहना था, "तीन आदमियों के बच जाने से क्या होता है।" इसीलिए आदमी पर आदमी उस कमरे में पहुंचते रहे, पर उनमें से किसी को बुखार न हुआ। रीड ने फिर शंका की, "हो सकता है, ये लोग पीले बुखार से तगड़े पड़ते हों, जिससे इनमें इस बुखार के रोगाणु का असर नहीं होता।"

इस शंका को दूर करने के लिए इन बचे आदमियों में से फांक और जर्नेगन को उन मच्छरों से कटाया जो मरणासन्न व्यक्तियों से खून चूस चुके थे। दोनों ही बीमार हो रहे। इस तरह रीड ने अंधविश्वासों को जड़ से काटकर दफना दिया। उनकी कब्र खुदवा दी। उन्हें समाधिस्थ बना दिया और खुद अपेंडिसाइटिस के शिकार होकर चल बसे। पांच साल बाद कैरल ने भी परलोक की तैयारी कर ली और इस तरह थोड़े ही दिनों में यह टीम खतम हो गई। लेकिन उनकी कृति अमर है। उन्हीं की खोजों का लाभ उठाकर अमेरिका और पश्चिमी द्वीपसमूह

ने अपने यहां से इस रोग को उठा दिया। मानवता की इस सेवा के नाते अमेरिका की जनता ने ऐसा फंड बनाया जिससे कैरल, लजीर और रीड की विधवाओं को पचहत्तर हजार रुपए हर साल के हिसाब से कई साल तक मिलते रहे।

इन खोजों के कई साल बाद हार्वर्ड विश्वविद्यालय के मैक्सथीलर ने इस बुखार के लिए एक टीका तैयार कर लिया, जिससे तमाम आदमियों की जानें बचने लगीं। पीले बुखार का निवारण जोर-शोर पर होने लगा। मैक्सथीलर की वैक्सीन का उपयोग दूसरे विश्वयुद्ध में बड़ी प्रचुरता से हुआ। इसीलिए 1951 का नोबेल पुरस्कार उन्हें दिया गया। मैक्सथीलर की खोज उन शहीदों की कुर्बानी पर ही आधारित है जिन्होंने उनकी वैक्सीन के लिए मार्ग प्रशसत किया। आइए, हम आप भी रीड, कैरल, लजीर और उन अनेक मूक शहीदों को श्रद्धांजलियां दें, जिन्होंने अंधविश्वासों का गढ़ ढहाने में अपनी जानें गंवायीं।

35

वृद्धावस्था की रोकथाम*

श्यामनारायण कपूर

विज्ञान आज के मानव को सुख-सुविधा के साधन जुटाने के लिए बड़ी द्रुत गति से आगे बढ़ रहा है परंतु मनुष्य को संतोष नहीं। वह तो अधिक से अधिक समय तक सुखी जीवन का उपभोग करना चाहता हैं। दीर्घकालीन उपभोग के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य की आयु भी दीर्घ हो और साथ ही, उस लंबी अवधि तक युवकों जैसी शक्ति उसमें बनी रहे। चिरयौवन की यह अभिलाषा मानव में युग-युगों से बलवती रही है। सुदूर अतीत में इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हठयोग आदि साधनों को अपनाया जाता था। मध्य-युग के कई कीमियागरों ने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए तरह-तरह के नुस्खे तैयार करने की कोशिश की थी; किंतु वे कामयाब न हो सके। इस सिलसिले में जादू-टोने की भी मदद ली जाती थी।

आधुनिक विज्ञान मनुष्य की इस अभिलाषा की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील है। निकट भविष्य में यदि आप पढ़ें कि चिर-यौवन की प्राप्ति के लिए वैज्ञानिकों ने विशेष प्रकार के हार्मोंस-इंजेक्शन तैयार करने में सफलता प्राप्त कर ली है, तो कोई आश्चर्य न होगा। हाल ही में कलकत्ते की इंडियन स्टेटिस्टिकल इंस्टीट्यूट (सांख्यिकी संस्था) के त्तवावधान में मनुष्य की आयु-सीमा तथा यौवन-प्राप्ति की समस्याओं पर अनुसंधान करने की योजना बनाई गई है।

बुढ़ापा जीतने के मार्ग में वैज्ञानिकों को सबसे बड़ी बाधा यह है कि जीव-शास्त्र के अनुसार आयु के विकास-क्रम की जांच किस प्रकार की जाए? प्रो. अलसन नाम के वैज्ञानिक ने इस बाधा को दूर करने में सफलता प्राप्त की है। उन्होंने अपनी प्रयोगशाला में कई वैज्ञानिक प्रयोग करके एक ऐसी विधि खोज निकाली है जिसके द्वारा शरीर के विभिन्न तंत्रों पर आयु के विकास क्रम के प्रभाव का अध्ययन संभव हो सका है।

* विज्ञान, सितम्बर 1962

किशोरावस्था की शक्ति

मनुष्य जैसे-जैसे वृद्ध होता जाता है रोगों से लड़ने की उसकी शक्ति कम हो जाती है। जिन जीवन-त्तवों से हमारे शरीर का निर्माण हुआ है, वे अपने कार्य, विकास तथा नवीनीकरण के लिए पाचक-रस से शक्ति प्राप्त करते हैं। वृद्धावस्था में यह पाचक रस कम हो जाता है। एक वैज्ञानिक का मत कि प्रत्येक व्यक्ति में तनाव और रोगों के अवरोध की जितनी शक्ति 10 वर्ष की आयु में होती है। यदि वह शक्ति आजीवन बनी रहे तो आधी मानव-जाति कम से-कम सात सौ वर्ष तक जीवित रह सकती है। मनुष्य की इस किशोरावस्था की शक्ति के रहस्य और उसके तत्त्वों को ढूंढ़ निकालने के लिए वैज्ञानिक सत्त् प्रयत्नशील हैं।

प्राणियों का आयु-बल

कुछ वर्ष पूर्व तक वैज्ञानिक यह विश्वास करते थे कि सभी जीवधारियों की एक प्राकृतिक आयु होती है तथा वंश-परंपरागत निजी परिस्थितियों के अनुसार आयु-बल घटता-बढ़ता रहता है। नवीनतम अनुसंधानों से इस धारणा को जबर्दस्त धक्का लगा है। कानेल विश्वविद्यालय के डॉ. मैके ने अपने प्रयोगों के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे भी इस धारणा के सर्वथा प्रतिकूल हैं। उन्होंने नवजात सफेद चूहों के दो समूह बना कर एक समूह को संतुलित राशन के साथ शक्कर और चर्बी की अतिरिक्त मात्रा दी और इच्छानुसार भर पेट खाने की स्वतंत्रता भी दी। इस समूह के चूहे अपनी जाति के चूहों के समान 2-2/1/2 वर्ष तक जीवित रहे। सबसे बूढ़ा चूहा 965 दिन तक जीवित रहा।

दूसरे समूह को राशन तो वही दिया गया, किंतु शक्कर और चर्बी की अतिरिक्त मात्रा नहीं दी गई। इससे चूहों का विकास अवश्य कुछ कम हुआ, परंतु वे स्वाभाविक रूप से बढ़ते रहे। बाद में 300 और 600 दिनों के पश्चात् तथा कुछ को 900 दिनों के पश्चात् इच्छानुसार खाने की सुविधा दी गई। इस पर वे बड़ी तेजी से बढ़ने लगे और शीघ्र ही प्रौढ़ावस्था को प्रापत हुए। इस समूह के सभी चूहे 1000 दिन तक जवान बने रहे और एक चूहा तो 1400 दिन तक जीवित रहा!

कुछ और वैज्ञानिकों ने भी अपने प्रयोगों से इसी प्रकार के निष्कर्ष निकाले हैं। आखिर डॉ. मैके के प्रयोग को विशेष महत्व दिया जाने लगा। उन्होंने अपने प्रयोगों से सिद्ध किया कि वंश परंपरा के आधार पर किसी भी प्राणी का आयु-बल

निर्धारित नहीं किया जा सकता। भोजन में समुचित परिवर्तन करके युवावस्था तथा स्वस्थ प्रौढ़ावस्था को शत-प्रतिशत बढ़ाया जा सकता है। बाद में अन्य वैज्ञानिकों के प्रयोगों से यह भी सिद्ध हुआ कि भोजन में संयम से काम लेने पर रोगों को शमन करके दीर्घजीवी बना जा सकता है।

खानपान के नियमों की पाबंदी

चूहों पर जो अन्य प्रयोग किए गए उनमें एक समूह को इच्छानुसार खूब खाने की सुविधा दी। फलतः उस समूह के सभी चूहों में 850 दिन की अवस्था तक पहुंचने के बहुत पहले हृदय अथवा गुर्दे के रोग उत्पन्न हो गए। दूसरे समूह के चूहों को आधे से कुछ अधिक खाने को दिया गया। 850 दिन पश्चात् आधे से भी कम चूहों में रोगों के लक्षण प्रकट हुए। इस समूह के चूहों की औसत आयु पहले चूहों की अपेक्षा नर-चूहों में 200 दिन और मादा चूहों में 350 दिन बढ़ गई। इन प्रयोगों से स्पष्ट हो गया कि संतुलित एवं संयमित भोजन से मनुष्य भी अपनी आयु आसानी से बढ़ा सकता है। संभवतः इसी लिए हमारे पूर्वजों ने खान-पान के लिए कड़े नियम बनाए और उनके पालन पर विशेष बल दिया।

चिर-चौवन और दीर्घायु के लिए आज वैज्ञानिकगण जो प्रयोग कर रहे हैं उनमें खाद्य-संबंधी प्रयोग तो उस शृंखला की एक कड़ी मात्र हैं। वैज्ञानिक विभिन्न प्राणियों के शरीर में उन त्तवों को भी ढूंढ़ निकालने में संलग्न हैं जिनसे वे शैशव अवस्था से निकलकर किशोर और युवावस्था से विकसित होकर वृद्धावस्था प्राप्त करते हैं।

ज्युवेनिल हार्मोन

पच्चीस वर्ष से भी अधिक हुए, केम्ब्रिज में जीव-विज्ञान प्रोफेसर सिसेन्ट वर्गिल्सवर्थ ने ज्ञात किया कि कीड़ों में एक छोटी-सी ग्रन्थि से विशेष प्रकार का हार्मोन स्रावित होता है। जब तक वह कीड़ा पूर्णतया विकसित नहीं हो जाता, वह हार्मोन उसके बुढ़ापे को रोके रहता है। पूरी तौर पर युवा हो जाने के बाद वह ग्रंथि अपना काम बंद कर देती हैं तत्पश्चात् कीड़ा बूढ़ा होने लगता है। वयस्क होने पर इसी ग्रंथि के स्रवन से प्रजनन क्षमता विकसित होती रहती है। इस ग्रंथि से प्राप्त होने वाले हार्मोन को वैज्ञानिकों ने ज्युवेनिल हार्मोन (Juvenile Harmone) का नाम दिया है।

बरसों तक यह हार्मोन अचरज की दृष्टि से देखा जाता रहा। तीन चार

वर्ष हुए हारवर्ड विश्वविद्यालय के प्रो. केरोल विलियम्स ने नवजात चूहों के तंतुओं से एक अन्य अज्ञात पदार्थ निकाला। उन्होंने इस नवीन पदार्थ के इंजेक्शन तैयार किए और बढ़े होने वाले कीड़ों को लगाए। फलस्वरूप कीड़ों का बूढ़ा होना रुक गया। इस नए इंजेक्शन का भी परिणाम ज्युवेनिल हार्मोन के समान हुआ।

बुढ़ापे को स्थगित करने वाला रस

तत्पश्चात् कुछ और नवीन तथ्य प्रकाश में आए। एक नया पदार्थ गाय के बछड़े की हड्डियों, लीवर, मांस पेशियों तथा उपवृक्क ग्रंथियों में मिला। यही पदार्थ मानवीय जरायुनाल और थायमस ग्रंथ में भी मिला। लेकिन अभी तक उस पदार्थ की कार्यप्रणाली का पता नहीं लग सका है कि वह यौवन को विकसित करके बुढ़ापे को कैसे दूर रखती है। कुछ प्रयोगों से यह बात अवश्य स्पष्ट हो गई है कि किशोरावस्था में इस पदार्थ की उपस्थिति के कारण कम उम्र के प्राणियों के जख्म जल्दी अच्छे हो जाते हैं और बुढ़ापे में इस पदार्थ की कमी के कारण रोगों से लड़ने की शक्ति क्षीण हो जाती है।

अमरीकन डाक्टरों के प्रयोग

बाल्टीमोर (अमरीका) में वृदावस्था के विषय में अनुसंधान करने के लिए एक विशेष शोध-संस्था स्थापित की गई है। इस संस्था के डॉ. वाडेनस्टीन ने चीर-फाड़ के कई बहुत नाजुक प्रयोग किए हैं। उन्होंने एक बूढ़े तिलचट्टे को आपरेशन द्वारा जवान तिलचट्टे से जोड़ दिया। साधारणतया एक जवान तिलचट्टे की टांग टूट जाने या अलग हो जाने पर कुछ समय बाद नई टांग स्वतः निकल आती है। बूढ़े तिलचट्टों में यह क्षमता नहीं पाई जाती। आपरेशन द्वारा जोड़े गऐ जवान-बूढ़े जुड़वां तिलचट्टे की एक टांग तोड़ दी। फलतः जवान तिलचट्टे की साधारण प्रकृति के अनुसार बूढ़े तिलचट्टे की भी नई टांग अपने समय पर निकल आई। उन्होंने इस प्रयोग को कई बार दोहराया और हर बार नई टांग निकलती रही। स्पष्ट है कि जवान तिलचट्टे के ज्युवेनिल हार्मोन ने बूढ़े तिलचट्टे को भी जवान बना दिया।

डॉ. मैके ने इसी प्रकार दो चूहों को भी जोड़ दिया। जवान चूहे के साथ जोड़े जाने पर बूढ़ा चूहा भी जवान होता रहा। इतना ही नहीं, उसकी आयु भी 400 दिन हो गई। अतः इनसे आशा है कि वैज्ञानिक शोध ही ज्युवेनिल हार्मोन के इंजेक्शन तैयार करने में सफल हो जाएंगे।

बुढ़ापा क्या है?

बुढ़ापा, उसके कारण तथा निवारण का विधिवत् अध्ययन अभी जारी ही है। अब तक केवल अस्पतालों तथा अन्य चिकित्सा संस्थाओं से बूढ़े व्यक्तियों के संबंध में कुछ शोध-संस्थाओं ने स्वस्थ तथा प्रौढ़ व्यक्तियों का अध्ययन भी आरंभ किया है।

बोस्टन (अमरीका) में डॉ. जेम्स कामिन्स और उनके सहयोगी लगभग 900 स्वस्थ और अवकाश प्राप्त सैनिकों का अध्ययन कर रहे हैं। इनका यह परीक्षण इन सैनिकों के जीवनपर्यंत नियमित चलता रहेगा। इस प्रकार बढ़ती हुई आयु के कारण शारीरिक और मानसिक शक्तियों के ह्रास का अध्ययन प्रारंभ ही से करना संभव होगा। प्रत्येक मनुष्य की दिनचर्या, रहन-सहन, खान-पान, काम-काज तथा बदलती परिस्थितियों में शनैः-शनैः आनेवाले बुढ़ापे और उससे पैदा होने वाले रोगों का विधिवत् अध्ययन किया जा सकेगा।

बाल्टीमोर के बुढ़ापा-शोध-संस्थान के एक अन्य डॉ. नाथनशाक इसी प्रकार गत चार वर्षों से 18 वर्ष की आयु के ऊपर की विभिन्न अवस्था वाले 300 किशोरों का अध्ययन कर रहे हैं। एक दूसरे वैज्ञानिक डॉ. थामस फ्रांसिस की योजना तो
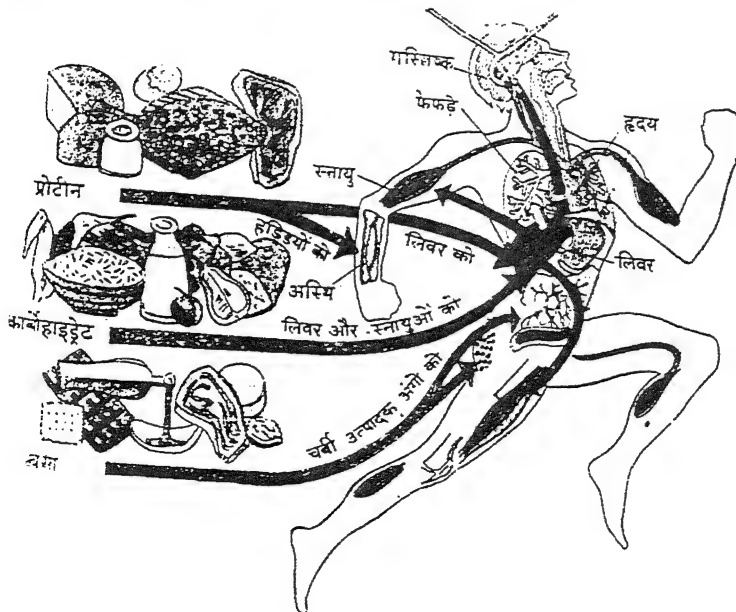
इससे भी अधिक विस्तृत और व्यापक है। वे मिशिगन शहर के समस्त निवासियों का अध्ययन करना चाहते हैं। 8000 से कुछ अधिक व्यक्तियों का वे प्रारंभिक परीक्षण कर भी चुके हैं। इस कार्य के पूरा होने और उससे उपयोगी तथ्य संग्रह करने में ही सौ-पचास वर्ष लग जाएंगे।

बुढ़ापे के रोगों का कारण

बुढ़ापे के विषय में अभी तक जो अध्ययन हुए हैं उनसे अनेक महत्वपूर्ण बातें ज्ञात हुई हैं। आंखों तथा कानों की शक्ति का क्षीण हो जाना, रक्तचाप का कम या अधिक हो जाना और हृदय तथा गुर्दे आदि के रोगों का कारण साधारणतया बुढ़ापा माना जाता है; किंतु अध्ययनों से सिद्ध हुआ है कि ये रोग केवल बुढ़ापे के कारण ही नहीं उत्पन्न होते। अनेक व्यक्तियों में तो बीस वर्ष की आयु से ही इन रोगों को शुरुआत होती देखी गई है।

बहुत से रोगों का सूत्रपात शारीरिक अंगों की अनियमितता (Physiological Disturbance) के कारण अज्ञात रूप से बहुत पहले हो चुका होता है। अतः इस ओर तत्काल ध्यान नहीं जाता और धीरे-धीरे ये रोग बढ़ते रहते हैं। इसके आधार पर यह आवश्यक समझा गया है कि बुढ़ापे की रोकथाम के लिए तरुणावस्था से ही होनेवाली शारीरिक अव्यवस्थाओं तथा रसविपाक संबंधी असंतुलित प्रक्रियाओं को रोका जाए।

पुंसत्व और बुढ़ावा

इस विषय में खोज करने पर वृद्धावस्था और प्रौढ़ावस्था के कई धातक रोगों के निवारण में कुछ सफलता भी मिली है। हृदय-रोग के कारण ढूंढ़ने के भी प्रयत्न हो रहे हैं। वैज्ञानिकों ने यह भी ज्ञात किया है कि पुंसत्व और जरावस्था, दोनों में निकट का संबंध है। जब पुरुषों में वीर्य तथा स्त्रियों में रज की उत्पत्ति तथा संचय कम होने लगता है तो बुढ़ापे का प्रारंभ हो जाता हैं। वीर्य तथा रज की उत्पत्ति पर पिट्यूइटरी, थाइराइड, पैराथाइराइड तथा एड्रीनल आदि अवाहिनी ग्रंथियों का सीधा प्रभाव पड़ता है। ये सभी ग्रंथियों एक दूसरे के कार्यों में सहायक होती हैं। इन ग्रंथियों के कार्य का प्रभाव अन्य ग्रंथियों पर भी पड़ता है। जिस समय प्रजनन ग्रंथि अपने कार्य में रत होती है, उस समय पिट्यूइटरी ग्रंथ अपना कार्य बंद कर देती है। पिट्यूइटरी ग्रंथि का कार्य शरीर का पुनरुद्धार और पुनर्निर्माण हैं। अतः जब प्रजनन ग्रंथि कार्य-रत होती है तो शरीर के पुनर्निर्माण एवं पुनरुद्धार

का कार्य रुक जाता है। इसका स्पष्ट परिणाम शारीरिक स्वास्थ्य का ह्रास है। प्रजनन ग्रंथि का प्रभाव थायमस ग्रंथि पर भी पड़ता है। यौवन के प्रारंभ में यह ग्रंथि विशेष रूप से क्रियाशील होती है। प्रजनन-ग्रंथि की अत्यधिक कार्य शीलता के कारण इसका ह्रास समय के पूर्व प्रारंभ हो जाता है। शरीर में इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो जाने पर जरावस्था बड़ी तेजी से अपना प्रभाव दिखाने लगती है। फलस्वरूप मनुष्य के यौवन की अवधि कम हो जाती है और उसकी आयु भी शीघ्रता से घटने लगती है।

इंद्रिय-निग्रह का महत्त्व

चूहों पर किए गए अनेक प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि उनके शरीर से थायमस ग्रंथि निकाल देने पर वे शीघ्र जवान होने लगते हैं किंतु जल्दी ही बूढ़े होकर अल्पायु में मर भी जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यौवन को अधिक समय तक बनाए रखने के लिए तथा शरीर का बल, उत्साह, सौंदर्य एवं स्वास्थ्य को स्थायी रखने के लिए प्रजनन-ग्रंथ की अस्वाभाविक कार्यशीलता रोकना आवश्यक है। इस ग्रंथि को संयमित करके दूसरी ओर यौवन ग्रंथि को सतत् क्रियाशील बनाए रखना बहुत आवश्यक है। दूसरे शब्द में इंद्रिय-निग्रह यौवन की कुंजी है।

आज का विज्ञान वर्षों के परिश्रम और प्रयोगों के बाद जिस निष्कर्ष पर पहुंचा है हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि उस तथ्य को सहस्रों वर्ष पूर्व ही आत्मसात् कर चुके थे। इसीलिए उन्होंने जीवन में ब्रह्मचर्य, सदाचार एवं नियम-संयम के महत्व पर सदैव विशेष बल दिया और यह निर्धारित किया कि ब्रह्मचर्य और तपस्या से ही देवताओं ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी। उन्होंने मनुष्य शरीर की इन दो विरोधी ग्रंथियों के विषय में जानकारी भले ही आज के वैज्ञानिक रीतियों से न की हो; परंतु उन्होंने इंद्रियों के निग्रह के जिन नियमों का प्रतिपादन किया था उनसे यह स्पष्ट है कि स्वास्थ्य और यौवन की रक्षा के लिए वे इन ग्रंथियों पर नियंत्रण रखने में पूर्णतया समर्थ थे।

अस्तु, चिर-यौवन संबंधी हार्मोन इंजेक्शन जैसे जीवन-रसायन तैयार होने में भले ही विज्ञान को कुछ और समय लग जाए, परंतु प्राचीन ऋषि मुनियों ने 'जीवेम शरदः शतम्' के जो नियम निर्धारित किया हैं उनसे तो हम बिना किसी औषधि-इंजेक्शन के ही अपनी आयु दीर्घ बना सकते हैं पर जीवनपर्यंत स्वस्थ, बलवान और पराक्रम बने रह सकते हैं।

36

गणितम् मूर्द्धनि स्थितम्*

दयालसिंह कोठारी

यूनान के फोनोन से लाखों वर्ष पूर्व शून्याकार अनंत प्रकाश के काले अजिन पर नीहारिकाओं से सौर मंडल की उत्पत्ति के समय प्रकृति ने अपनी कलम से समकोणिक कुंडली बनाई व अनेक पिंडों को गणितीय स्वरूप प्रदान कर शून्य में स्थापित कर दिया। तब से आज तक ये विभिन्न कक्षाओं में घूम रहे हैं। सूर्य रूपी गोले के चारों ओर उसी परिवार का एक सदस्य आकाश के अदृश्य पर्दे पर वर्षों से दीर्घवृत्त बनाने के कार्य में तल्लीन है और अंधकार व प्रकाश, शीत व घाम का क्रम उपस्थित् करता रहा है। मनुष्य की दुर्बल आंखों के सामने नाचते हुए असंख्य परमाणुओं के भीतर सजी हुई प्रयोगशाला में भी यही क्रम निरंतर चलता जा रहा है। टूटते हुए तारों व विद्युत प्रकाश से अंकित रेखाएं न जाने कितनी ही बार बनती-बिगड़ती रही हैं। सहज बालू से लेकर अमूल्य हीरे तक, नमक से लेकर बर्फ तक सभी विविध ज्यामितीय स्वरूपों में अपने रूप को संजोये हमारी ओर निहार रहे हैं।

वर्षा की पहली बौछार के साथ हरियाली का वैभव व ऋतुराज वसंत के आगमन के साथ वायुमंडल में आमों की महक किसी कैलेंडर से सूचना पाकर भर जाती है व कमल और कुमुदनी ने मुकुलित होने के लिए कब मानव निर्मित घड़ी की ओर देखा? प्रकृति कैलेंडर एवं घड़ी तो यह विशाल व्योम मंडल है जिसमें असंख्य तारकारत्न जड़े हैं। वनस्पति जगत के अंग-प्रत्यंग, शाखाओं पर पत्तियां, फलियों में बीज, फूलों में पंखुड़ियां, निश्चित संख्या, समानता व सरूपता लिए हुए प्रकृति के किसी गूढ़ मर्म को अपने अंचल में छिपाए खड़े हैं। वनस्पति वर्ग ही क्यों, पशुवर्ग भी बाह्य सभ्यता के साथ-साथ शरीर के भीतर मांसपेशियों, संस्थानों

* विज्ञान, अप्रैल 1963

व अस्थियों में यह अभूतपूर्व साम्य उपस्थित कर रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सृष्टि के ताने-बाने में गणित की सत्ता भासमान है। **केंट** ने इसे अनुभव किया और कहा कि सृष्टि का रहस्य संख्या व आकार में व्याप्त है। सत्य की प्राप्ति ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है—इससे प्रेरित **प्लेटो** ने कहा कि गणितीय सत्य ईश्वरीय सत्य है व ईश्वर सभी वस्तुओं को ज्यामितीय आकार प्रदान करता है। **महावीराचार्य्य** तो इससे भी कहीं आगे बढ़ जाते हैं और कहते हैं कि इस सचराचर त्रैलोक्य में, जो संख्याओं के असंख्य दीपों से प्रदीप्त है, जो कुछ है वह गणित ही है। प्रकृति का सारा संचालन गणितीय नियमों से हो रहा है। समय व आंधी के थपेड़े इन नियमों में कोई परिवर्तन न ला सके। भास्कर, केपलर व न्यूटन के आकर्षण संबंधी नियम व युक्लिड की अनेक रेखागणितीय स्वयंसिद्धियां, आइन्सटीन के सापेक्ष्यवाद के जन्म के साथ अशुद्ध व भ्रामक सिद्ध हो गए परंतु गणित के प्रकृति में व्याप्त नियम अटल व अपरिवर्तनशील बने रहे।

प्रकृति में व्याप्त अनेक गणितीय नियमों से मानव मस्तिष्क सदा से अनुप्राणित रहा है। दो स्थानों में से कौन-सा अधिक दूर है—इसे जानने के लिए मनुष्य को किसी पटरी की आवश्यकता नहीं थी। दो भूखंडों अथवा चर्मखंडों में कौन अधिक बड़ा है, क्षेत्रफल के ज्ञान के बिना ही मानव मस्तिष्क अनुमान लगा लेता था। अन्न के ढेरोंका परिणाम ज्ञात करने के लिए भी उसे घनफल अथवा मात्रा की पुस्तिका की आवश्यकता नहीं थी। मिठाई के दो टुकड़ों में से कौन-सा बड़ा है—यह नन्हा-सा बच्चा भी पहचानता रहा है। बच्चा ही क्यों अनेक पशु भी इसे समझते हैं। कुत्ते को भिन्न-भिन्न परिमाण के दो रोटी के टुकड़े डालने से यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाएगा। सिंह अपने शिकार पर व मनुष्य निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचने के लिए सरल रेखीय मार्ग का ही अनुसरण करेगा। इसके लिए उसे न तो सरल रेखा के पारिभाषिक इतिहास की अथवा रेखागणित के उस स्वयंसिद्धि के ज्ञान की, जिसके अनुसार त्रिभुज की दो भुजाओं का योग तीसरी से अधिक होता है, आवश्यकता है। दार्शनिक व गणितज्ञ जनो की तर्कना से भले ही द्रुतगामी एचिलस कछुए को पकड़ने में सफल न हो परंतु आखेटप्रिय पशु अपनी व अपने शिकार की चाल को पहचान कर ही उसका पीछा करता है। अजगर को यह जानने के लिए कि वह हिरन को नहीं पकड़ सकेगा अथवा सिंह को यह जानने के लिए कि वह गीदड़ को पकड़ने में समर्थ है किस शाला में समय व दूरी के प्रश्नों का शिक्षण दिया गया? शत्रु व मित्रों के दो दलों के

परिमाण को भी मनुष्य व पशु अपनी-अपनी मति के अनुसार पहचानते रहे हैं। पशु वर्ग अपने परिवार के किसी सदस्य के खो जाने की कमी अथवा किसी अन्य के सम्मिलित हो जाने से हुई वृद्धि को पहचानता रहा है। बंदर पांच-छः सदस्यों के दल अथवा उससे भी बड़े दल को पहचान लेता है। पाषाण युग का मानव भी पर्याप्त बड़े समूहों का लेखा रख लेता था।

इस प्रकार सिद्ध है कि प्रकृति का ताना-बाना न केवल गणित के अत्यंत पतले तारों से बुना हुआ है वरन् उसके संवेदनशील वर्ग में गणित के परिक्रमों को समझने की क्षमता बनी रही है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ गणित के नियमों व मनुष्य की उक्त क्षमता में विकास होता जा रहा है। **लान्सिलोट होगनन** ने अपने ग्रंथ 'मेथेमेटिक्स फोर मिलियन्स' में इसीलिए गणित की सभ्यता का दर्पण (Mirror of Civilization) कहा है। कंदमूल फल अथवा शिकार पर आश्रित घुमक्कड़ मनुष्य ने जब एक स्थान पर बसकर कृषि करना प्रारंभ किया तब से उसे अपने निर्वाह के लिए ग्रह व बाड़ निर्माण-वस्त्रों व कृषि-यंत्रों, आत्मरक्षार्थ शस्त्रों की आवश्यकता के साथ-साथ जमीन के नापने में लंबाई, फसल बोने व काटने के लिए ऋतु, दैनिक लेन-देन में मात्रा के पैमाने के ज्ञान की आवश्यकता पड़ी जिसके फलस्वरूप बालिश्त, हाथ, दंड, फर्लांग, फुट, सेर आदि नापतोल के पैमाने आविष्कृत हुए। सभ्यता के विकास के साथ-साथ जहां इन पैमानों की संख्या बढ़ती गई वहां लेखा व परिगणन की समस्याएं भी जटिल होती गईं जिन्हें मनुष्य अपने सतत प्रयास से हल करता रहा व अपने अनुभवों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ाता रहा। ये अनुभव लेखन कला के अभ्युदय के साथ-साथ भित्तियों, शिलालेखों, ताड़पत्रों, ताम्रपत्रों व पुस्तिकाओं में अंकित होकर ज्ञान की अमूल्य धरोहर के रूप में सुरक्षित होकर आगे बढ़ते रहे।

प्रारंभ में आधुनिक युग की तरह गणित की पृथक सत्ता नहीं थी। ज्ञान के विशाल वृक्ष की शाखाओं के रूप में यह भी अन्य विषयों के साथ पल्लवित होता रहा। गणित अन्य विषयों अथवा ज्योतिष (सिद्धांत) का अंग था। सभ्यता के विकास के साथ-साथ विषयों के वर्गीकरण की आवश्यकता हुई जिससे गणित पर स्वतंत्र रचनाएं की जाने लगीं। धीरे-धीरे गणित, पाटीगणित, बीजगणित आदि उपशाखाओं में विभाजित हुआ और आज हम देखते हैं कि अंकगणित से लेकर सापेक्ष्यवाद तक अनेक उपशाखाओं में गणित का यह विशाल वृक्ष पल्लवित हो रहा है।

प्राचीन भारत में, जब कि यह देश अध्यात्मवाद में उन्नति के उत्तुंग शिखर

पर पहुंचा हुआ था वहां गणित भी अपने परम वैभव पर थी। मोहनजोदड़ों व हड़प्पा की सभ्यता उसके पर्याप्त साक्ष्य हैं। गणित के बिना सभ्यता के ये केंद्र, जहां की सुंदर चौड़ी सड़कें, विशाल स्नानागार, सुयोजित भवन व धातुओं के उपकरण आकर्षण का विषय है, कदापित विकसित न हो सकते। वेदांग ज्योतिष (1200 ई. पू. से पूर्व) में गणित को सर्वोपरित स्थान देते हुए ग्रंथकार ने लिखा है—

> यथा शिखा मयूराणाम् नागानाम् मणयो यथा,
> तद्वदवेदांग शास्त्राणाम् गणितम् मूर्द्धनि स्थितम्।

अर्थात् मोर के मस्तिष्क पर कलंगी, नाग के फणों में मणि का जो स्थान है, वेदांग ज्योतिष में गणित का सर्वोपरि स्थान है। गणित को इतना ऊंचा स्थान प्रदान करना सिद्ध करता है कि आज से साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व देश में गणित का प्रकाश कितनी तीव्रता से फैल रहा था। सूर्य-सिद्धांत सी उत्कृष्ट रचना बिना गणित के समुचित विकास के कभी संभव नहीं थी। गणित का शिक्षण अध्यात्मवाद में किसी प्रकार की रुकावट नहीं करता था वरन् उसके विकास में सहायक था। महात्मा महावीर व बुद्ध ने वर्षों तक गणित का अध्ययन किया। छांदोग्य उपनिषद् में नारद सनत्कुमार से अपराविद्या की याचना करते हैं तो सनत्कुमार को अपने पूर्वज्ञान का विवरण प्रस्तुत करते हुए 72 कला व विज्ञान के साथ-साथ गणित ज्ञान का होना बतलाते हैं। सम्राट खारवेल (163 ई. पू.) ने 16 से 25 वर्ष तक की आयु तक गणित का अध्ययन किया था। जैन अनुयोग के गणितानुयोग में गणित के विभिन्न परिक्रमों का वर्णन किया है व जैन संतों को गणितानुयोग का ज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक बताया है। कौटिल्य (400 ई. पू.) ने अपने अर्थशास्त्र में स्पष्ट कहा है कि यज्ञोपवीत के पश्चात् विद्यार्थी रूप लेख व गणना का ज्ञान प्राप्त करें। भारत के बाहर भी गणित को अध्यात्मवाद के विकास के सहायक के रूप में मान्यता मिलती रही है। केंट ने कहा की गणित वह दण्ड है जिसके द्वारा भौतिकवादियों पर प्रहार किया जा सकता है। प्लेटो ने तो अपने द्वार पर यह लिखकर टांग दिया कि रेखागणित से अनभिज्ञ कोई भी व्यक्ति मेरे द्वार में प्रवेश न करे।

गणित के अध्ययन से जहां आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता व तर्कना शक्ति का विकास होता है वहां उसमें अनुशासित व्यक्तित्व का निर्माण होता है। देश-काल की सीमाओं की परवाह न कर एक देश दूसरे देश द्वारा ज्ञात नियमों को निःसंकोच अपना लेता है। भारत की नव अंकों, शून्य व स्थानीय मान पर आधारित अंक

प्रणाली जहां पाश्चात्य देशों ने अपनाई वहां भारत ने भी पाश्चात्य देशों द्वारा आविष्कृत अनेक गणितीय नियम अपना लिए। इसके अध्ययन के समय मनुष्य का बाह्य जगत से संबंध टूट जाता है। वह विषय के साथ एकाकार हो जाता है। अर्जुन को जिस प्रकार पेड़-पत्ते न दिखाई देकर केवल चिड़िया की आंख दिखाई देती थी, गणितज्ञ को भी रेलों की चाल संबंधी प्रश्न हल करते समय मनुष्य के चेहरे व चाट की दुकानें नहीं दिखाई देतीं वरन् उसका लक्ष्य तो यही रहता है कि कब रेलें मिलेंगी अथवा एक दूसरे को पार करेंगे। विषय के अध्ययन के साथ-साथ कितनी एकाग्रता उत्पन्न होती है यह आर्किमिडीज के जीवन से स्पष्ट होगा। धमासान युद्ध हो रहा है परंतु आर्किमिडीज अपने प्रश्न के हल में तल्लीन था। नंगी तलवार लिए रोमन सिपाही ने जब गणितज्ञ को ललकारा तो उन्होंने कहा ठहरो मुझे अपना प्रश्न हल करने दो। सिपाही की तलवार किसी प्रश्न की प्रतीक्षा नहीं करती। वह तो जय व पराजय को ही पहचानती है। दूसरे ही क्षण वह गणितज्ञ की गर्दन से पार हो गई और उसका सिर अपने आराध्य देव की गोदी में अर्पित हो गया। प्रश्न के हल में जहां आत्मविश्वास जाग्रत होता है वहां अपूर्व आनंद से हृदय हिल्लोर उठता है। पाइथागोरस (600 ई. पू.) को, जो आवागमन में विश्वास रखता था उस साध्य की जिसके अनुसार समकोण त्रिभुज में कर्ण का वर्ग अन्य दो भुजाओं के वर्गों के योग के तुल्य होता है उपपत्ति ज्ञात करने में इतनी प्रसन्नता हुई कि उन्होंने आटे के सौ बैलों की बलि देकर उसे व्यक्त किया। गणित के क्षेत्र में तात्कालिक लाभ की परवाह न कर गणितज्ञ निःस्वार्थ भाव से कार्य करता रहता है।

व्यावहारिक जीवन में गणित का पग-पग पर उपयोग है। प्रातःकाल घड़ी की टंकार से जगकर रात्रि को निद्रादेवी के आगमन से घड़ी का स्वर सुनाई देना बंद हो जाता है तब तक जीवन के प्रत्येक कार्यकलाप में गणित का सतत प्रयोग होता रहता है। इस तथ्य को, प्रख्यात गणितज्ञ महावीर (825 ई.) ने अपने गणित 'संसार-ग्रह' नामक ग्रंथ में बड़े सुंदर ढंग से यों व्यक्त किया है—

"लौकिक, वैदिक तथा सामयिक जो भी व्यापार हैं उन सबमें गणित का उपयोग है। काव्यशास्त्र, अर्थशास्त्र, गांधर्व शास्त्र, नाट्यशास्त्र, पाकशास्त्र, आयुर्वेद, वास्तुविद्या आदि वस्तुओं में छंद, अलंकार, काव्य, तर्क, व्याकरण इत्यादि में तथा कलाओं के समस्त गुणों में गणित अत्यंत उपयोगी है। सूर्यादि ग्रहों की गति में, ग्रहण में, ग्रहों की द्युति में, दिक-देश और काल को ज्ञात करने में, चंद्रमा के लेख में, सर्वत्र गणित अंगीकृत है। द्वीपों, समुद्र और पर्वतों की संख्या, व्यास

और परिधि, लोक, अंतलोक, ज्योतिर्लोक, स्वर्ग और नरक के रहने वाले सबसे श्रेणीबद्ध भवनों, सभाभवनों एवं गुंबदाकार मंदिरों के प्रमाण तथा अन्य विविध प्रमाण गणित की सहायता से ही जाने जाते हैं। प्राणियों के संस्थान, उनकी आयु और आठ गुण आदि, यात्रा तथा संहिता आदि से संबंध रखने वाले विषय, सभी गणित पर निर्भर हैं। अधिक कहने से क्या प्रयोजनी सचराचर त्रैलोक्य में जो कुछ भी वस्तु है उनका अस्तिव गणित के बिना संभव नहीं हो सकता।"

साढ़े ग्यारह सौ वर्ष पूर्व भारत में विभिन्न विषयों में गणित का इतना उपयोग, जबकि अन्य देशों में गणित अपने शैशवावस्था में ही था, सराहनीय है। आज के बदलते हुए युग में जबकि मनुष्य देश व काल की सीमाओं को लांघ कर तेजी से आगे बढ़ रहा है, गणित का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। गणक की यह प्राचीन परिभाषा जिसके अनुसार संकलन से प्रारंभ होने वाले बीस परिक्रमों व छाया में अंत में होने वाले आठ व्यवहारों को पृथक-पृथक जानने वाला व्यक्ति ही गण है, अब कहीं अधिक विस्तृत व परिवर्धित हो गई है। जल, थल व अंबर को चीरने वाले विभिन्न यान व राकेट, भीमकाय मशीनों, राडर व परमाणु शक्ति का वैभव सभी गणित के सफल उपयोग पर आधारित हैं। विज्ञान की विभिन्न शाखाएं गणित की सुदृढ़ नींव पर खड़ी होकर पूर्णता को प्राप्त करती जा रही हैं या यों कहिए कि विज्ञान पूर्णता के अपने प्रयास में गणितमय होता जा रहा है। विज्ञान की प्रत्येक शाखा में गणित के अत्यधिक प्रयोग के कारण ही उसे निरपेक्ष विज्ञान की संज्ञा से संबोधित किया गया है। प्रोफेसर बाल के शब्दों में 'आज का वैज्ञानिक पहले गणितज्ञ है फिर वैज्ञानिक।' 'वैज्ञानिक गवेषणाओं को समझने के लिए उसे गणित में होने वाले अनुसंधानों से परिचित होना आवश्यक है।'

इस प्रकार व्यावहारिक, सांस्कृतिक व अनुशासनात्मक दृष्टिकोणों से गणित एक परमोपयोगी विषय है। इसी दृष्टि से आधुनिक पाठ्यक्रम में उसे जो स्थान प्रदान किया है वह न्यायसंगत है। गणित को आज हाई सकूल व उच्चतर माध्यमिक स्कूलों के पाठ्यक्रम में अनिवार्य विषय के रूप में स्वीकार किया गया है परंतु अनिवार्य विषय बना देने मात्र से ही शिक्षाशास्त्री अपने दायित्व को निभा पावेंगे यह समझना भारी भूल होगी। गणित को आज स्वतंत्र विषय के रूप में नहीं वरन् सामाजिक ज्ञान व सामान्य विज्ञान के साथ पढ़ाया जा रहा है। यह वर्गीकरण किस मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया है यह तो हमारे शिक्षाशास्त्री ही जानें परंतु यह अवश्य ही निश्चित है कि इसके परिणाम निराशाजनक हैं। गणित से

गंभीर विषय को उक्त विषयों के साथ बांधने से विद्यार्थी वर्ग गणित में वह कुशलता प्राप्त नहीं कर पा रहा है जिसके लिए अनिवार्य विषय घोषित किया गया हैं। राजस्थान में आज गणित में स्वतंत्र रूप से सफल होना अनिवार्य नहीं है। विद्यार्थी को तीनों विषयों में मिलाकर किसी प्रकार न्यूनतम अंक प्राप्त कर लेने हैं और इसके लिए भी दसवीं से लेकर ग्यारहवीं की पूरक परीक्षा तक उसके पास उत्तीर्ण होने के चार अवसर हैं। अच्छे अंक प्राप्त करने का भी कोई महत्व नहीं है। ऐसी अनाकर्षक स्थिति में दोषपूर्ण पाठ्यक्रम व अव्यावहारिक पुस्तकों के द्वारा गणित को प्रदान किए गए अत्यल्प समय में प्रश्नपत्रों में चयन की भारी सुविधा का उपभोग कर पंचमांश अंक प्राप्त कर लेने मात्र से विद्यार्थी गणित का कितना ज्ञान प्राप्त कर पाता होगा, यह एक विचारणीय व गंभीर प्रश्न है जिसके हल किए बिना शिक्षाशास्त्री अपने दायित्व से वंचित नहीं हो सकते।

ऐच्छिक विषय के रूप में गणित को आज एक दूसरे प्रकार की समस्या का सामना करना पड़ रहा है। पाठयक्रम में गणित को जहां ह्यमेनिटीज व विज्ञान खंडों में समुचित स्थान प्रदान किया गया है वहां व्यवहार में गणित को ऐच्छिक विषय के रूप में अध्ययन करने के अवसर साधारणतया वहीं प्रदान किए जाते हैं जहां ऐच्छिक विज्ञान में और वह भी भौतिक शास्त्र में शिक्षण होता है। गणित विज्ञान की भाषा है जिसका प्रश्रय लेकर विज्ञान आज पूर्णता को प्राप्त करता जा रहा है अतः विज्ञान के साथ उसे पढ़ाया जाना आवश्यक है। परंतु उसे विज्ञान कक्षा तक ही सीमित करना भूल होगी। गणित का इतिहास बतलाता है कि गणित कभी भी विज्ञान की छत्रछाया में पल्लवित नहीं हुआ। यदि ऐसा होता तो विशुद्ध गणित जो आज के विज्ञान का जीवन है उसका कभी भी विकास नहीं होता। सापेक्ष्यवाद का जन्मस्थल कोई विशिष्ट प्रयोगशाला नहीं थी वरन् महान गणितज्ञ आइन्स्टीन की कुटीर थी। गणित जगत में ऐसे अनेक साधक हुए हैं जिन्हें विज्ञान की हवा तक न लगी। यदि गणित भविष्य में भी इस प्रकार विज्ञान शाखाओं की चहारदीवारी में आबद्ध रही तो वह दिन दूर नहीं जब माता भारती अपने अनेक मेधावी पुत्रों की सेवाओं से वंचित हो जाएगी।

इस प्रकार देश में जहां गणित अध्ययन की व्यापक सुविधा प्रदान करने की आवश्यक है वहां अनिवार्य विषय के रूप में गणित शिक्षण में बरती गई शिथिलता के फलस्वरूप गणित के गिरते हुए स्तर से देश को बचाने की परम आवश्यक है। यह बड़े हर्ष का विषय है कि आज के बदलते हुए वैज्ञानिक संसार में एक सुसंस्कृत, अनुशासित व स्वस्थ व्यक्ति के निर्माण में गणित का कितना

महत्वपूर्ण योग है—इसे हमारे विधायकों ने भली प्रकार समझा है। मेधावी गणितज्ञ श्रीनिवास रामानुजम के सम्मान में 22 दिसंबर '92 को 15 नए पैसे का डाक टिकिट जारी करना व डॉ. बी. एन. प्रसाद को पद्मविभूषण की उपाधि से अलंकृत करना इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। गणितज्ञों को सम्मानित करने की इस परंपरा के साथ ही गणित शिक्षण व अनुसंधान की सुविधाएं भी यदि विकसित होती रहीं तो वह दिन दूर नहीं जब वेदांग ज्योतिष के प्रणेता की यह वाणी 'गणितम् मुर्द्धनि स्थितम्' फिर से साकार हो उठेगी और यह देश फिर गणित संसार में अपना सर्वोच्च स्थान स्थापित कर सकेगा।

37

आहार औषधि है*

डॉक्टर छबीलदास

पूर्वकाल में जब मानव-शरीर एक रहस्मय वस्तु थी और रोग का कारण भूत-प्रेतों का दुष्प्रभाव अथवा नजर लगना समझा जाता था, उस समय इस देश में भोजन संबंधी प्रतिबंधों का बहुत महत्त्व था। यदि कोई रोगी चिकित्सालय अथवा किसी निजी चिकित्सक के निदान गृह में जाता है तो वह भले ही बुखार, अपच, नेत्र व्रण और यहां तक कि टांग के व्रण (घाव) से ही पीड़ित क्यों न हो, वह परहेज के विषय में अवश्य पूछताछ करता है और जब तक उसे भोजन-संबंधी पाबंदियां नहीं बता दी जाती, वह वहां से नहीं जाता।

शरीर–एक रासायनिक इकाई

आज यह सिद्ध हो जाने पर कि शरीर एक रासायनिक इकाई है और रोग उसके रासायनिक उपादानों में संतुलन भंग होने के कारण होते हैं तो यह देखकर आश्चर्य होता है कि ये धारणाएं किस सीमा तक बदल गई हैं। अब चिकित्सक द्वारा बताए गए परहेज का अच्छा स्वागत नहीं होता और कभी-कभी तो इस पर आपत्ति भी की जाती है। मनुष्य यद्यपि विवेकशील प्राणी है, किंतु रोग होने पर मनुष्य की अपेक्षा पशु अपनी सहज प्रवृत्ति से यह अच्छी तरह जानता है कि क्या किया जाना चाहिए। पशुओं में और विशेषकर जंगली पशुओं में विस्मयकारी रूप में यह प्रवृत्ति विद्यमान है। रोगी होते ही पशु खाना छोड़ देता है। इसके विपरीत मनुष्य इस भ्रम से शरीर में भोजन ठूंसते रहते हैं कि रोग की अवस्था में शरीर की शक्ति बनाए रखनी चाहिए। जिगर तथा परिशुद्धि के अन्य अंगों के लिए रोग चेतावनी मात्र होता है कि कोशिकीय अपचय (सेल केटाबोलिज्म) को तीव्र

* आपका स्वास्थ्य, अक्टूबर 1964

और उपचय (एनाबोलिज्म) को मंद करने की आवश्यकता है जिसका अर्थ है अधिक परिशुद्धि और कम पोषाहार। वास्तव में रोग की अवस्था ऐसा समय होता है जबकि शरीर के अंगों को अपने घर सफाई के लिए अवकाश दिया जाना चाहिए। ऐसी अवस्था में प्रकृति नहीं चाहती कि पाचनतंत्र को अवांछित आहार के लिए परिश्रम करना पड़े। इस विषय में मनुष्य पशुओं से शिक्षा ग्रहण कर सकता है और रोग आने पर उसे सादा पानी, दूध अथवा ताजा फलों और सब्जियों में विद्यमान प्राकृतिक द्रव छोड़कर अन्य सभी प्रकार के आहारों का त्याग कर देना चाहिए।

रक्त जीवन है

पुरानी बाइबिल में एक उक्ति है कि 'रक्त ही जीवन है।' इसे अब विज्ञान ने शरीर विज्ञान का चिर सत्य सिद्ध कर दिया है। रक्त शरीर की बुनियाद है। यह ऐसा जीवंत ऊतक (टिशु) है जो शरीर के प्रत्येक अंग में, सभी ऊतकों और कोशिकाओं में जीवन प्रवाहित करता है। रक्त में स्वास्थ्य तथा रोग की सभी संभावनाएं विद्यमान रहती हैं। यदि आहार उपयुक्त, विवेकपूर्ण और यथेष्ठ मात्रा में ग्रहण किया जाता है तो रक्त शुद्ध और शरीर रोगमुक्त रहता है। रोग नाम से नहीं, रक्त से संबंधित है। जैसे यदि किसी व्यक्ति के घुटने में संधिशोथ है तो उसका संबंध रक्त से है न कि उसके नाम से। और यदि किसी व्यक्ति को हृदयरोग है तो वह भी रक्त से संबंधित है न कि नाम से। इसी प्रकार यदि एक अन्य व्यक्ति आंख की न्युराइटिस से पीड़ित है और उससे उसकी दृष्टि प्रभावित है और यहां तक कि अंधा हो जाने का भय है तो यह मामला भी रक्त से संबंधित है न कि नाम विशेष से। यदि एक बार यह अनुभव कर लिया जाए कि शरीर एकीकृत एकात्मक व्यवस्था है तो रोग की पुरानी धारणा, उसका नाम और स्थान निरर्थक हो जाते हैं। इस जैव तथ्य से हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि रोग की अवस्था में प्रभावित अंग की अपेक्षा समस्त शारीरिक व्यवस्था पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

अम्लोपचय (एसिडोसिस)

मनुष्य का रक्त क्षारीय होता है। इसका पी-एच. मूल्य (अमलत्व तथा क्षारत्व का एक माप) 7.35 और 7.45 के बीच होता है। जब रक्त अम्लीय हो जाता है तो इससे अम्लोपचय (एसिडोसिस) नाम का रोग उत्पन्न होता है। शरीर की हर गति चाहे वह पलक झपकाना हो, मुस्कराना हो या क्रोध में भौंहे चढ़ाना हो

या श्वास क्रिया से संबंधित पेशीय क्रिया हो अथवा शरीर की 600 पेशियों में से किसी भी पेशी की हरकत हो, हर बार यह क्रिया रक्त में एक अम्लीय अवशेष छोड़ देती है जिसे क्षार अथवा अम्लरोधक आहार (एसिड बाइंडिंग फूड्स) के द्वारा शरीर निष्प्रभाव करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है। अतः रक्त की क्षारीय प्रतिक्रिया को बनाए रखने के लिए ऐसे आहर तत्त्वों का प्रचुर मात्रा में सेवन आवश्यक है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए अम्लरोधक और अम्लकारी भोजन का अनुपात 2:1 का होना चाहिए। यह तर्क किया जा सकता है कि अम्लोपचय को सोडा कार्बोनेट जैसे क्षारों अथवा मेगनीसिया दुग्ध (मिल्क आप मैग्नीसिया) के प्रचुर सेवन से ठीक किया जा सकता है। जब हम अकार्बनिक (इनऑर्गेलिक) क्षारों के क्षणिक प्रभाव को और आमाशय की श्लेष्म झिल्लियों पर होने वाले उनके कुप्रभाव को ध्यान में रखते हैं तो यह दलील बेकार हो जाती है। खाद्य पदार्थों में जो क्षार मिलते हैं उनका प्रभाव न केवल टिकाऊ होता है बल्कि उनसे आमाशय भित्ति को शक्ति मिलती है।

आहार-रसायन

खाद्य पदार्थ केवल भोजन नहीं है। वे रसायन हैं। कुछ खाद्य पदार्थों की रासायनिक क्रिया से हानि पहुंचती है और कुछ की रासायनिक क्रिया सहायक होती है। यह बात मान लेने पर उपयुक्त भोजन चुनने में सहायता होती है। सभी प्रकार के मीठे और खट्टे फल, सभी प्रकार की पत्तीदार अथवा अन्य तरकारियां, खरबूजा, तरबूज, ककड़ी, खीरा, कद्दू तथा अखंड गेहूं, बाजरा और ज्वार, सभी अनाजों का छिलका, सोयाबीन, दूध और अंडे का पीतक ऐसे पदार्थ हैं जिनकी गिनती अम्लरोधक खाद्य पदार्थों में होती है। मांस, मछली, मुरगा, अंडे की सफेदी, मैदे से बनी सभी वस्तुएं, सभी प्रकार की दालें, मूंगफली, सफेद चीनी, चाकलेट, चाय, कहवा और अलकोहल ऐसे पदार्थ हैं जो अम्लकारक हैं।

वनस्पति जगत के अधिकांश खाद्य पदार्थों में और दूध, पनीर, दही, मक्खन आदि में बुनियादी तत्त्व—खनिज, क्षार, विटामिन आदि—उपलब्ध हैं, जो शरीर निर्माण की सामग्री प्रस्तुत करते हैं और शरीर के रक्षक तथा शोधक हैं। इनमें नीचे लिखे तत्त्व सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

खनिज

कैल्शियम—कैल्शियम घावों को भरने में अत्यंत सहायक है और स्नायविक श्रांति

की रोकथाम करता है। रक्त को गाढ़ा रखने के लिए कैल्शियम अपेक्षित है। कैल्शियम और फासफोरस स्वस्थ दांतों, अस्थियों और तंत्रिकाओं के आवश्यक तत्त्व हैं। हरी तरकारियों, विशेषकर चौलाई, मेथी, सैजन, मीठी नीम की पत्तियां, सरसों का साग, सलाद, जलकुंभी, सोयाबीन, चना और उरद की जैसी अन्य फलियां, दूध, पनीर और तिल कैल्शियम की दृष्टि से उत्तम पदार्थ हैं। केकड़े की पेशियां कैल्शियम की दृष्टि से सबसे अधिक समृद्ध खाद्य पदार्थ है।

लोहा–लोहा एक महागुणकारी खनिज है जो प्राणों को शरीर में प्रदीप्त रखता है और रक्त की लाल कोशिकाओं में प्रवेशकर हीमोग्लोबिन के रूप में विद्यमान रहता है। लोहा आक्सीजन को श्वास द्वारा फेफड़ों में पहुंचाकर उसे शरीर की प्रत्येक कोशिका में प्रसारित करता है और इस प्रकार शरीर को शक्ति एवं गर्मी प्रदान करता है। सेब, खजूर, नींबू, आम, आड़ू, मूली, किशमिश और गहरे रंग के अन्य सभी फलों, सोयाबीन तथा अन्य फलियां, तिल; सभी प्रकार की पत्तीदार सब्जियां और विशेषकर चौलाई, चने तथा अन्य दलों के पौधों की पत्तियां, मेथी, पोदीना, सरसों का साग, और जलकुंभी लोहे की दृष्टि से उत्तम खाद्य-पदार्थ हैं।

ताम्र–आहार में बहुत थोड़ी मात्रा में ताम्र की आवश्यकता होती है; किंतु इसका महत्त्व किसी प्रकार भी कम नहीं है, कारण कि यह लोहे के लिए उत्प्रेरक का काम करता है। जिन खाद्य-पदार्थों में लोहा उपलब्ध है उनमें सामान्यतः ताम्र भी रहता है।

आयोडीन–मनुष्य की ग्रंथि-व्यवस्था में अवटुग्रंथि (थायरायड ग्लैंड) का स्थान सर्वोपरि है जिसके फलन (कार्य) के लिए आयोडीन आवश्यक है। मछली के जिगर, वरुण घास, समुद्री काहू और अन्य समुद्री घासों में यह प्रचुर मात्रा में मिलता है। आयोडीन के अन्य खाद्य स्रोत हैं आलू का छिलका, लहसुन, करमकल्ला, अनन्नास, स्ट्राबेरी और अखंड गेहूं।

क्लोरीन–क्लोरीन एक ऐसा खाद्य तत्त्व है, जो आमाशय में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल और हारमोनों के निर्माण के लिए आवश्यक है। यह तत्त्व स्तनधारी, दूध देने वाले पशुओं के दूध में और हरी पत्तीवाली तरकारियों और टमाटर में वर्तमान होता है।

फ्ल्यूरीन–इसके विषय में समझा जाता है कि यह आंखों और दांतों की सफेदी बनाए रखने में सहायक है। इधर मालूम हुआ है कि हड्डी की जुड़ाई में भी यह सहायक है। अनेक तरकारियों तथा अनाजों की प्राकृतिक अवस्था में यह तत्त्व न्यूनमात्रा में उपलब्ध है।

मैगनीज–आक्सीजन के प्रसार और शरीर की लोच कायम रखने की दृष्टि से इसका गुण लोहे के सदृश्य है। नींबू जातीय फलों में, गिरीदार और अनाजों के छिलकों में और खाद्य पौधों की पत्तियों में मैगनीज उपलब्ध है।

फास्फोरस–फास्फोरस का काम है कैल्शियम के साथ मिलकर कैल्शियम-फास्फोरस का संतुलन कायम कर हड्डियों तथा दांतों की वृद्धि करना और तंत्रिकाकोश एवं तंत्रिका ऊतकों का निर्माण करना। खाद्य पदार्थों में दूध, अंडा, मछली, कलेजी, सेम, सोयाबीन, चना, गाजर, गिरीदार फल और इनमें विशेषकर बादाम, काजू, मूंगफली और तिल फास्फोरस के स्रोत हैं।

क्षार

सोडियम–सोडियम एक शक्तिशाली क्षार है, जो रक्तशुद्धि और ग्रंथीय स्राव के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। दूध, पालक, टमाटर और बेर में सोडियम उपलब्ध है।

पोटेशियम–दिल की क्रिया जारी रखने के लिए पोटेशियम क्षार आवश्यक है। सोडियम की भांति पोटेशियम भी हारमोन-निर्माण के लिए आवश्यक तत्त्व है। ककड़ी, खीरा, आलू, अनन्नास, नारंगी, नींबू, चकोतरा और हरी पत्तीदार तरकारियों में पोटेशियम मिलता है।

मैग्नीशियम–यह एक ऐसा खनिज है, जो तंत्रिका प्रणाली के फलन (कार्य) में सहायक है और रक्त के लिए क्षार संचय करता है। फलों का रस, और तरकारियों की हरी पत्तियों में मैग्नेशियम विशेष रूप से मिलता है।

सिलीकॉन–यह खनिज त्वचा, बाल और नखों के निर्माण में काम आता है। दांतों की चमकदार परत को कड़ा करने में भी यह सहायक होता है। सिलिकॉन सेब, चेरी, शतावर, सेलरी तथा अन्य पत्तीदार तरकारियों में मिलता है।

विटामिन

विटामिन वे यौगिक हैं जो विभिन्न खाद्यों में विद्यमान खनिजों को कार्यरत करते हैं। ये कोशिकाओं के निर्माण और उनकी वृद्धि में सहायक है। विटामिन और खनिज दोनों ही जीवनरक्षा करनेवाले तत्त्व हैं।

विटामिन ए–ए विटामिन शुष्क अक्षीपाक (ज़िरोपथेल्मिया) और रोग संक्रमण का प्रतिरोधी तत्त्व है। इस विटामिन की कमी से आंख, कान और विवरों के संक्रमण का प्रतिरोध क्षीण हो जाता है और अश्रुग्रंथि अतिसार और गुर्दे तथा मूत्राशयी

पथरी संबंधी विकार उत्पन्न होते हैं। मक्खन, घी, दूध, अंडे का पीतक, मछली का तेल (कॉड, हैलीबट, शार्क तथा सा मछलियां) ऐसे पदार्थ हैं जिनमें विटामिन -ए मिलता है। यह विटामिन वनस्पतिजगत् में उपलब्ध नहीं है, किंतु उसका पुरोगामी रूप कैरोटीन में विद्यमान है। यह रंजकद्रव्य सबसे पहले गाजर (कैरट) से प्राप्त किया गया था और उसी के नाम (कैरट) पर इसका नाम कैरोटीन पड़ा। कैरोटीन शरीर के लिए ए विटामिन का कार्य कर सकता है। हरी पत्तीवाली तरकारियां जैसे चौलाई, मेथी, पालक, धनिए की पत्तियां, चने का साग, सैजन की पत्तियां और करमकल्ला; पीतवर्ण के फल जैसे आम, पपीता, नारंगी और टमाटर में कैरोटीन भी मिलता है। धरती के अंदर से निकलने वाली तरकारियां कैरोटीन की दृष्टि से अच्छी नहीं हैं इनमें गाजर अपवाद है और गाजर में कैरोटीन प्रचुर मात्रा में है। पीत अन्न (मक्का आदि) और ताड़तेल (लाल) भी कैरोटीन के उत्तम स्रोत हैं।

विटामिन बी 1—यह बेरीबेरी का प्रतिरोधी और तंत्रिकाशोथरोधी विटामिन है। बी-वर्ग के विटामिनों में से यह एक महत्त्वपूर्ण विटामिन है। सबसे पहले यही विटामिन खोजा गया था। इस विटामिन की कमी से बेरी-बेरी रोग पैदा होता है। कार्बोहाइड्रेट तत्त्वों के यथेष्ट उपयोग में भी यह विटामिन सहायक है। विटामिन बी-1 के सर्वाधिक समृद्ध स्रोत हैं, बिना मशीन का कुटा अनाज, दालें, गिरीदार फल और विशेषकर मूंगफली और केले तथा नारंगी के छिलकों के नीचे की सफेदी।

बी-वर्ग के विटामिन में कई प्रकार के अन्य विटामिन हैं। उनमें जो तत्त्व विद्यमान हैं उनमें नीकोटिनिक अम्ल, राइब्रोफ्लेविन, पेंटोथिनिक अम्ल, पिरिडोक्सिन आदि हैं। जीभ की लाली और ओष्ठ संगमपर घाव, कनीनका व्रण, त्वचाशोथ का कारण राइब्रोफ्लेविन का अभाव या कमी है। पेंटोथिनेट कैल्शियम से पांव के तलवे की जलन शांत होने का समाचार मिलता है। सभी अन्न, दालें, गिरीदार फल ऐसे खाद्य पदार्थ हैं जो राइब्रोफ्लेविन की दृष्टि से उत्तम है। मूंगफली और काजू में राइब्रोफ्लेविन प्रचुर मात्रा में मिलता है। दूध, मखनिया दूध, दूध से बन पदार्थ, जैसे मट्ठा, दही, पनीर, अंडा, कलेजी, इस वर्ग के विटामिन के लिए सर्वोत्तम स्रोत हैं।

विटामिन सी—यह स्कर्वीरोधी विटामिन है। यह सामानयतः ताजा फलों में और विशेषकर आंवला, अमरूद, नींबूजातीय फल, टमाटर तथा ताजी तरकारियों में मिलता है। सी विटामिन के प्राकृतिक स्रोतों में आंवला प्रथम श्रेणी का पदार्थ है। ताजा आंवले के स्वरस में विटामिन सी की मात्रा नारंगी के रस से लगभग

बीस गुना अधिक है और अमरूद में यह मात्रा दस गुना अधिक है।

विटामिन डी–यह रिकेटरोधी विटामिन है। यकृत, यकृत तेल, अंडे का पीतक, दूध, धूप में हरी घास खाने वाले पशुओं के दूध से बने पदार्थ इस विटामिन के स्रोत है। मछली के यकृत के तेल में यह विटामिन सबसे अधिक है।

विटामिन ई–यह वंध्यत्वरोधी विटामिन है। इस विटामिन के अभाव से जननशक्ति समाप्त हो जाती है और गर्भकाल में विकार उत्पन्न होते हैं तथा भ्रूण की मृत्यु हो जाती है। गेहूं के बीजाणुओं का तेल इस विटामिन की प्राप्ति के लिए सबसे समृद्ध स्रोत है। जलकुंभी और काहू भी उसके उत्तम स्रोत हैं।

विटामिन जी–यह पेलाग्रारोधी विटामिन है। कलेजी, चर्बीरहित मांस, अंडा और दूध इस विटामिन के सर्वोत्तम स्रोत है। उसके अतिरिक्त आलू, चुकंदर, पोदीना और अखंड अन्न उसके उत्तम स्रोत हैं।

शरीर : एक रसायन प्रयोगशाला

मानव शरीर एक विलक्षण रसायन-प्रयोगशाला है। इसमें जो रासायनिक प्रक्रियाएं और क्रियाएं हो रही हैं, उनसे संसार का सबसे बड़ा रसायनज्ञ भी परिचित नहीं है। शरीर स्टार्ची तत्त्वों को शर्करा तत्त्वों में, सम्मिश्रित शर्कराओं को साधारण रूपों में, प्रोटीन तत्त्वों को एमिनों अम्लों में और एमिनो अम्लों की विशेष प्रोटीनों में परिवर्तित कर रहा है। शरीर अनेक किण्वों का निर्माण भी कर रहा है जो भोजन पचाने और आंखों, त्वचा तथा बालों को रंगद्रव्य प्रदान करने के लिए अपेक्षित हैं। ग्रंथियों द्वारा शरीर औषधियां (हारमोन) बना रहा है जो वाणिज्य संस्थानों की प्रयोगशालाओं द्वारा बनाई गई औषधियों से कहीं अधिक शक्तिशाली है। इन सब प्रक्रियाओं में आहार कच्चे माल की जगह है। यदि शरीर को विवेकपूर्वक भोजन उपलब्ध किया जाए तो उसमें जो अनेक रासायनिक प्रक्रियाएं चल रही हैं, वे इसे निश्चय ही स्वस्थ अवस्था में रखेंगे।

खाद्य पदार्थो का औषध रूप

बरसों पहले संयुक्त राज्य अमेरिका में खाद्य तथा औषध ब्यूरो के डाक्टर हार्वी ने एक महान् भविष्यवाणी की थी कि 'भोजन भविष्य में औषध रूप हो जाएगा।' कोशिका रसायन (सेल केमिस्ट्री) में इधर जो खोजें हुई हैं उनको दृष्टि में रखते हुए उनकी यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई है। कोशिकीय स्वास्थ्य वास्तविक स्वास्थ्य है। इस जैव तथ्य से यह परिणाम निकलता है, कि यदि शरीर की

कोशिकाओं को वह सब आहार उपलब्ध किया जाता है जो उनके विकास और पुनरुत्पादन के लिए अपेक्षित हैं, तो कोशिकीय विषों को नियंत्रित करने तथा उन्हें गुर्दों, आंतों, फेफड़ों, तवचा और श्लेषिक झिल्लियों द्वारा बाहर फेंकने में शरीर सफल हो जाएगा। विषाकत तत्त्वों की इस निरसन-क्रिया से कोशिकाएं रक्षित तथा पुष्ट रहेंगी और कोई भी रोग हो और जो भी उसका नाम तथा स्थान हो, उस पर विजय पा ली जाएगी। कोशिकीय विकार ही रोग हैं। रोग का कारण अम्ल की अत्यधिकता या क्षारीय आहार की अति न्यून मात्रा हो सकता है। रोग का एक अन्य कारण विटामिनों की कमी हो सकती है। इसी प्रकार खनिजों की कमी भी रोग का कारण हो सकती है। वस्तुतः लगभग सब रोग रक्त के अम्ल-क्षार संतुलन में विकृति उत्पन्न होने से उत्पन्न होते हैं। यह नहीं भूलना चाहिए कि शारीरिक शक्तियों की प्रवृत्ति बीज रूप से निरोग करने की ओर होती है। आवश्यकता इस बात की है कि इन शक्तियों का क्षतिपूर्ति के लिए पूरा उपयोग हो। इसके लिए आवश्यक है कि शरीर के उत्पादन तत्त्वों को आहार द्वारा उपलब्ध किया जाए। जिस प्रकार भू-रसायनविद् (सॉयल केमिस्ट) उन तत्त्वों को बताकर जो खेत की मिट्टी में नहीं हैं, उत्तम फसल उगाने में सहायक हो सकता है, उसी प्रकार उन आहारविद् आहार तत्त्वों के सेवन का परामर्श देकर अल्पापोषण को ठीक करने में सहायक हो सकता है। यदि खेत की मिट्टी में खनिज तत्त्वों का अभाव है तो उपयुक्त फसल नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था में पौधे रुग्ण तथा प्रतिरोधित रहते हैं। मनुष्य में खनिजों के अभाव का भी वैसा ही नतीजा होता है।

आहार से उपचार

मनुष्य के शरीर को स्वस्थ रखने के लिए प्रकृति कार्यशील होती है और इसमें वनस्पतियों का आधारभूत योग है। पौधों में आवश्यक आहार तत्त्व विद्यमान हैं जो स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। मीठे, पके और सूरज की गरमी से गदरायें फलों का और ताजा, रसपूर्ण तरकारियों का यत्किंचित् सेवन भी कोशिकाओं का नवीनीकरण करता है। इस कार्य के लिए प्रकृति को कार्बनिक खनिजों की आवश्यकता होती है जिनका भंडार उसके पास फलों, तरकारियों और दुग्ध आदि में है। कार्बनिक खनिजों का पूर्ववर्ती रूप अकार्बनिक ही होकता है, किंतु जब वे खनिज (भूमि) जगत् से वनस्पति जगत में पहुंचती है तो प्रकृति मिट्टी, धूप, हवा और पानी की अपनी प्रयोगशाला में एक रहस्यमय प्रक्रिया द्वारा

उन्हें अकार्बनिक से कार्बनिक खनिज में रूपांतरित कर देती है। कहीं-कहीं कंदों की अपेक्षा पत्तीदार तरकारियां खनिजों की दृष्टि से अधिक उत्तम है और कहीं-कहीं पत्तीदार तरकारियों की अपेक्षा कंद अधिक उत्तम हैं। कंदवर्गीय तरकारियां सादा कार्बोहाइड्रेड और स्टार्च की दृष्टि से घनी हैं और उनमें सेलूलोज भी अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में मिलता है जो कोष्ठबद्धता दूर करने में बहुत उपयोगी है। फलों में वे खनिज भी उपलब्ध होते हैं तो सब्जियों और तरकारियों में इसलिए उपलब्ध नहीं होते कि उनके पौधों की जड़ें जमीन में उतनी दूर तक नहीं पहुंचती जहां वे खनिज विद्यमान हैं। अतः कार्बनिक खनिजों की दृष्टि से फलों का अधिक महत्त्व है और उनमें सब प्रकार के अपेक्षित खनिज उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त फलों और तरकारियों में कार्बनिक अम्ल, कार्बनिक क्षार, किण्व, विटामिन और हारमोन भी उपलब्ध हैं। इस प्रकार फल और तरकारियां शरीर के अनेक रोगों के लिए सार्थक रूप से उपचारात्मक आहार सामग्रियां हैं। तुरंत लाभ की दृष्टि से इन तत्त्वों को संश्लिष्ट विधि से तैयार संद्रित रूप में (कंसंट्रेटड फॉर्म) लिया जा सकता है, किंतु स्थायी लाभ की दृष्टि से भोजनगत तत्त्वों पर ही निर्भर रहना चाहिए।

पत्तीदार तरकारियां

पत्तीदार हरी तरकारियां जीवनसार की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें प्रकृति ने आहारीय क्षारों, खनिजों और विटामिनों की निधि सुरक्षित की हैं वास्तव में बाल-पशुओं के विकास और वृद्धि का आधार यह हरी पत्तियां ही हैं। दूध पर ही विचार कीजिए; वह हरी पत्तियों के घोल का ही एक रूप है। जो पत्तीदार हरी तरकारियां सबसे अधिक परिचित हैं और जिनका सबसे अधिक प्रयोग होता है उनमें पालक, मेथी का साग, मूली के पत्ते, धनिए की पत्तियां, तांबूल, चौलाई की पत्तियां और सलाद मुख्य हैं। इन सब्जियों में लौह, कैल्शियम, विटामिन ए बी सी तथा ई प्रचुर मात्रा में विद्यमान है इसके अतिरिक्त इनमें सोडियम, क्लोरीन, आयोडिन और फासफोरस है। हाइपोक्रीमिक रक्तहीनता में और कैल्शियम की कमी से उत्पन्न रोगों में सब्जियां बहुत उपयोगी हैं। चौलाई की पत्तियों में कैल्शियम की मात्रा का अनुपात सबसे अधिक है। वर्द्धमान बच्चों, गर्भवती स्त्रियों और दूध पिलानेवाली माताओं को इन पत्तियों का कच्चा ताजा स्वरस खूब लेना चाहिए। चौलाई में राइबोफ्लेविन भी अच्छी मात्रा में विद्यमान है अतः जिह्वाशोथ और मौखिक घाव के उपचार की दृष्टि से मूल्यवान हैं। कैरोटीन की दृष्टि से तरकारियां और

विशेषकर मीठी नीम, धनिए की पत्तियां, तांबूल, चने की पत्तियां, चौलाई की पत्तियां और पालक बहुत उत्तम हैं और इनमें प्रति औंस कैरोटिन की मात्रा 2,000 से 3,000 अंतर्राष्ट्रीय इकाइयां (इंटरनेशनल यूनिट्स) है। गौदुग्ध के मक्खन में प्रति औंस विटामिन ए का अंश केवल 1600 अंतर्राष्ट्रीय मात्रक है। अतः निशांधता, शुष्क अक्षिपाक और विटामिन ए की कमी से प्रत्युत्पन्न रोगों की रोकथाम के लिए यह सब्जियां घी के स्थान पर अच्छी तरह इस्तेमाल की जा सकती हैं। इस विटामिन की दैनिक आवश्यकता की पूर्ति 3,000 से 4,000 मात्रक से हो सकती है जो इन तरकारियों की एक औंस मात्रा से सरलता से प्राप्त की जा सकती है।

गोभी परिवार—इस परिवार की तरकारियों में ब्रूसेल्स का करमकल्ला और सलाद (लेटूस) भी शामिल है। अन्य सब्जियों की भांति ये सब्जियां भी विटामिन ए बी सी और ई की दृष्टि से बहुत धनी हैं और इनमें लोहा, कैल्शियम, पोटाशियम, सोडियम तथा फासफोरस भी अच्छी मात्रा में मिलता है। कच्चा इस्तेमाल करने पर इनका आहार मूल्य अधिक होता है। सलाद तंत्रिका शामक है। इसमें विटामिन ई सबसे अधिक है। विटामिन ई जननग्रंथियों का अपेक्षित विटामिन है। और जनन शक्ति का वर्द्धन करता है। सलाद का स्वरस एक औंस, मीठे नीबू या चकोतरे का रस 6 औंस और एक अंडे का पीतक—इन तीनों को मिलाकर एक उत्तम कोटि का पेय तैयार होता है। ब्रूसेल करमकल्ले में इंस्युलिन है, अतः इसमें शर्करा अंश केवल 3 प्रतिशत है और यह मधुमेह के रोग में बहुत उपयोगी है।

अजवायन (सेलरी) की पत्तियां तथा टहनियां—इस सब्जी में सोडियम बहुत अधिक है और इसमें क्षारीय तत्त्व भी अच्छी मात्रा में हैं। अतः यह संधिशोथ में बहुत उपयोगी है क्योंकि जोड़ों में ठहरा हुआ कैल्शियम इससे विघटित होता है। यह उन तंत्रिका द्रव्यों में स्थिरता पैदा करता है जिनमें सांवेगिक तथा मानसिक उत्तेजनाओं से निर्बलता उत्पन्न हो जाती है। अजवायन की पत्तियों का स्वरस 2 औंस, गाजर का 1 औंस और नारंगी का रस 3 औंस—इन तीनों को मिलाकर जो पेय तैयार होता है। वह मानसिक अथवा सांवेगिक सदमे के असर को दूर करने के लिए लिया जा सकता है और उससे व्यक्ति नई ताजगी का अनुभव करेगा।

कंदवर्गीय तरकारियां

चुकंदर—यह कंद दिल के लिए एक उत्तम टॉनिक है, क्योंकि इसमें पोटेशियम

और मैगनीज अच्छी मात्रा में मिलते हैं जो दिल की पेशियों को मजबूत करते हैं।

गाजर–गाजर में पीत रंगद्रव्य प्रचुर मात्रा में मिलता है जिसका उपयोग प्रकृति उस विटामिन ए का निर्माण करने में करती है जो रहस्यमय होने के साथ-साथ अत्यंत महत्त्वपूर्ण विटामिन है। यही कारण है कि इस रंग द्रव्य का नाम गाजर (कैरेट) से व्युत्पन्न है। गाजर से नाक, विवरों, कंठ, पित्ताशय और पित्तवाहिनी की श्लेष्म झिल्ली मजबूत होती है।

प्याज तथा लहसुन–ये मूल्यवान क्षारत्ववर्द्धक खनिजों के उत्तम स्रोत हैं और अच्छे श्वसन-पूर्तिदोष रोधी (रेस्पिरेटरी एंटिसेप्टिक) खाद्य हैं। इनके इस गुण का आधार इनमें विद्यमान एक तेल है। प्याज या लहसुन खानेपर इनका यह तेल फेफड़ों से निष्कासित होता है।

मूली-शलजम आदि–यद्यपि इनमें स्टार्च नहीं होता फिर भी इनकी गिनती कार्बोहाइड्रेट खाद्यों में है। अपनी इस विशेषता के कारण मधुमेह के रोग में ये बहुत उपयोगी हैं।

ककड़ी, खीरा आदि–इन तरकारियों में कार्बनिक पोटाशियम प्रचुर मात्रा में है। यह खाद्य खनिज रक्त की लाल कोशिकाओं का महत्त्वपूर्ण उपादान तत्त्व है। इसके अतिरिक्त इन तरकारियों का अम्लत्वरोधी गुण विशेष है और ये उत्तम प्राकृतिक मूत्रवर्द्धक है।

टमाटर–यह द्रुत क्षारवर्द्धक खाद्य है और कोशिकाओं को बल प्रदान करता है जिससे वे दृढ़ तथा उद्दीप्त रहती है। इसमें सी विटामिन अच्छी मात्रा में उपलब्ध है और सी विटामिन की कमी पूरा करने में यह नीबूजातीय फलों के स्थान पर अच्छी तरह इस्तेमाल किया जा सकता है।

फल

अपनी 'आहार औषधियां' (फूड मेडीसिन्स) नामक पुस्तक में डाक्टर एच. सी. मेनकेल लिखते हैं–''इतिहास में इन परिस्थितियों का उल्लेख नहीं मिलता जिनके प्रभाव में मनुष्य फल, मूल, शाक, अनाज और गिरीदार फलों के अपने पुरानें आहार में परिवर्तन कर सर्वहारी बना और पशुओं के मांस की ओर झुका। आहार के इस परिवर्तन की परिणति शारीरिक विकृतियों और संदूषणशीलता में हुई। शरीर में इससे जो अपेक्षित खाद्य तत्त्वों की कमी पैदा हुई उसके प्रभाव और तत्संबंधी कारणों का ज्ञान इधर हाल में हुआ है। इस ज्ञान के आधार पर आहार

विशेषज्ञों और पोषाहार गवेषकों द्वारा यह प्रेरणा दी जा रही है कि मनुष्य को अपनी भोजन संबंधी आदतों में सुधार करना चाहिए और अपने पूर्वकालीन आहार की ओर लौटना चाहिए।" ऊपर के इस वक्तव्य से अधिक सत्य दूसरा नहीं हो सकता। महात्मा गांधी सत्य के महान् शोधक थे। उन्होंने अपना जीवन इस जीव-वैज्ञानिक सत्य पर आधारित किया कि मनुष्य जन्मना मांसाहारी प्राणी नहीं है, बल्कि उसका स्वाभाविक भोजन फल, शाक आदि हैं जो धरती माता उगाती है। वह अपने और अपने अन्य हजारों साथियों के अनुभव के आधार पर इस नतीजे पर पहुंचे कि मांसाहारी लोगों की अपेक्षा शाकाहारी लोगों का स्वास्थ्य बेहतर होता है। फलों के बारे में लिखते हुए सर राबर्ट मेककारिसन कहते हैं—"वे समस्त खाद्य वस्तुओं में सबसे उत्तम हैं और हमारे दैनिक आहार में एक अच्छा अंश उनका होना चाहिए। उनमें अनेक प्रकार के क्षारवर्गीय खनिज लवण होते हैं जो रक्त को शुद्ध रखते हैं और उसे अम्लीय होने से रोकते हैं। आंतों को स्वस्थ तथा क्रियाप्रवण रखने के लिए फल अत्यंत उपयोगी हैं।" फलों से हमें क्षारीय खनिज, ए और सी विटामिन, मौलिक अम्ल, सिट्रिक अम्ल तथा टारटारिक अम्ल और पेक्टिन प्राप्त होता है। अधिकांश फलों में यह अधिकांश तत्त्व विद्यमान है।

आंवला—सी विटामिन के लिए आंवला सबसे प्रचुर प्राकृतिक स्रोत है। सी विटामिन की दृष्टि से एक आंवले का मूल्य दो संतरों के बराबर है। फलों और तरकारियों को गर्म करने से सामान्यतः इनका सी विटामिन नष्ट हो जाता है। इसमें आंवला अपवाद है। इसमें ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं जो गर्म करने या सुखाने पर भी उसकी सी विटामिन की अंशतः रक्षा करते हैं। आंवले का रस अत्यधिक अम्लीय है जो अपने इस गुण के कारण सी विटामिन की रक्षा करने में समर्थ है। यही कारण है कि आंवले से बनी वस्तुओं में सी विटामिन बहुतांश में रक्षित रहता है।

38

शरीर की जटिल विचित्र भाषा और उसके अक्षर तथा शब्द*

रमेशदत्त शर्मा

संसार में अनेक भाषायें हैं। किसी में बहुत अधिक अक्षर हैं तो किसी में बहुत कम। जिस प्रकार मनुष्यों ने आपसी व्यहवहार के लिये भाषा बनाई है उसी प्रकार प्रकृति ने जंतुओं और पेड़-पौधों के शरीर के अंगों के आपसी व्यवहार के लिये भी एक भाषा बनाई है। वास्तव में यह 'भाषा- बहुत छोटी है, पर जटिल और विचित्र है तथा उससे जीवधारियों के प्रत्येक अंग का संचालन एक अटूट नियम से होता है।

यह वह भाषा है जो सूरजमुखी के फूल को सूरज का रुख देखकर अपना मुख बदलने का संकेत देती है। आम के बौर की तरह-तरह के मीठे-मीठे आम लगाने का हुक्म देती है, हमारे हृदय को धड़कते रहने के लिए मजबूर करती है और जो घास के तिनके से लेकर मानव तक संपूर्ण चेतन जगत् की चेतन है और जिसके आदेश पर जीवों के शरीर की कोशिकाएं हजारों ऐंजाइम, हारमोन और प्रोटीन नाती हैं और इस अद्भुत जीवित कारखाने को चालू रखती हैं।

इस विचित्र भाषा में शब्द हैं—साइटोसाइन, ऐडीनाइन, थाइमाइन और गुएनाइन। जब ये एक निश्चित क्रम से जमाये जाते हैं तो एक 'फीते' सदृश आकृति बनती है। वास्तव में इनके जमाने से एक यौगिक बनता है, जिसे रसायन, शास्त्री 'डि-आक्सीराइबोन्यूक्लिक एसिड' (संक्षेप में **'डी. एन. ए.'**) कहते हैं।

इस रासायनिक 'फीते' की संरचना को ज्ञात करने पर हार्वर्ड विश्वविद्यालय के डॉ. जेम्स डैकी बाटसन, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के डॉ. फ्रांसिस एच. सी क्रिक, तथा किंग्स कॉलेज, (लंदन विश्वविद्यालय) के डॉ. मारिस एच. एफ. विल्किस को

* विज्ञान प्रगति, दिसम्बर 1964

1962 का शरीर क्रियाविज्ञान और चिकित्सा विज्ञान (फिजिओलोजी एंड मेडीसिन) संबंधी नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया। उन्होंने खोज की कि **डी. एन. ए.** का फीता, उस घुमावदार सीढ़ी की तरह है जिसके हाथ से पकड़ने वाले डंडे फास्फेट और एक शर्करा, डैक्स्ट्रोराइबोज', के बने हों और पैर के नीचे आने वाली साढ़ियां साइटोसाइन, गुएनाइन, थाइमाइन और ऐडीनाइन की बनी हों। फास्फेट और शर्करा आपस में हाइड्रोजन के एक अणु से जुड़े रहते हैं। यही है भेद उन गुणसूत्रों, क्रोमोसोम का, इन छोटे-छोटे धागों का, जो जीव की प्रत्येक कोशिका में मौजूद हैं और मां-बाप के गुणों को संतान में पहुंचाते हैं। रासायनिक दृष्टि से हर 'गुणसूत्र', **'डी. एन. ए.'** का बना होता है। जिन जीवों में 'गुणसूत्र' नही पाए जाते, जैसे कि जीवाणु बैक्टीरिया और विषाणु (वाइरस) में, उनमें भी **'डी. एन. ए.'** अवश्य मिलता है। हर कोशिका में गुणसूत्र होते हैं, यानी हर कोशिका में **'डी. एन. ए.'** होता है।

संदेश वाहक

'डी. एन. ए.' को इस प्रशासनिक कार्य में सहायता पहुंचाता है, **'आर. एन. ए.'** (राइबो न्यूक्लिइक एसिड) जो **'डी. एन. ए.'** द्वारा ही बनाया जाता है, 'आर. एन. ए.' कोशिका में प्रोटीनों का निर्माण करता है। जीव वैज्ञानिकों ने **'डी. एन. ए.'** से संदेश लेकर जाने वाले **आर. एन. ए.'** और उस संदेश के हिसाब से विभिन्न अमीनो एसिडों को पकड़-पकड़कर प्रोटीन की सांकल में बांधने वाले **'आर. एन. ए.'** की हर बारीकी का अध्ययन कर लिया है। **डी. एन. ए.** से **आर. एन. ए., आर. एन. ए.** से प्रोटीन, प्रोटीन से हजारों एंजाइम और हार्मोन बगैरह, इस तरह कोशिका-दर-कोशिका काम चलता रहता है। कोशिका में बाहर से पहुंचा हुआ कोई अवांछनीय पदार्थ इस कार्यक्रम में गड़बड़ी पैदा कर सकता है। कोई जीवाणु विषैले रसायन छोड़ देता है तो कोई विषाणु हमारी कोशिका में अपना **डी. एन. ए.** पहुंचा कर हमारे **डी. एन. ए.** के काम में भी अड़चन डाल देता है। परमाणु-विकिरण **डी. एन. ए.** के फीते पर के रासायनिक के फीते रासायनिक अक्षरों का क्रम बदल सकते हैं। परिणाम यह होता है कि शरीर विकारग्रस्त हो जाता है।

एक कोशिका में 1000 विश्वकोष

हमारे शरीर में आधा **डी. एन. ए.** तो पिता का अंश है और आधा मां का।

उस मूल **डी. एन. ए.** पर सूत्रधार के जो भी संदेश लिखे थे उनके अनुसार ही हमारे शरीर का निर्माण हुआ था। कभी एक कोशिका से इस शरीर का बनना शुरू हुआ था। आज इस शरीर में लगभग 60 अरब कोशिकाएं हैं। एक कोशिका में मौजूद **डी. एन. ए.** के फीते को खींचकर लंबा कर दें तो उसकी लंबाई पांच फुट हो सकती है। कल्पना कीजिये कि 60 अरब कोशिकाओं के **डी. एन. ए.** को लंबाई में खींचकर एक दूसरे से जोड़ दें तो जितनी लंबी सीढ़ी बनेगी वह शायद नानी की कहानियों वाली 'सुरंग नसैनी' ही बन जाये। तभी तो शिकागो विश्वविद्यालय के प्रेसीडेंट डॉ. बीटिल ने एक बार कहा था कि 'आदमी की एक कोशिका के **डी. एन. ए.** फीते पर चार अक्षरवाली रासायनिक भाषा में लिखे संदेशों का अगर अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करें तो 'ब्रिटिश एंसाइक्लोपीडिया' जैसे 1000 कोष बनेंगे।''

आनुवंशिक संकेत लिपि (जेनेटिक कोड)

शरीर की इस रासायनिक भाषा को पढ़ने के लिए रासायनिक परीक्षणों का ही सहारा लेना पड़ता है। डॉ. फिक्र से लेकर डॉ. नीरनबर्ग आदि अनेक जीव वैज्ञानिकों ने इस संकेत लिपि को पढ़ने के अथक प्रयत्न किये हैं। इस महान् प्रयोगों में एक अत्यंत सूक्ष्म जीव का उपयोग किया गया है। यह जीव जीवाणु को खा जाने वाली एक विषाणु है, जिसे विज्ञान की भाषा में 'बैक्टीरियोफाज' —टी-4 कहते हैं। इस जीवाणुभोजी को जब जीवाणु पर हमला करने के लिए छोड़ा जाता है तो 25 मिनट में ही बेचारे जीवाणु का काम तमाम हो जाता है और एक जीवाणुभोजी की सौ संतानें तैयार हो जाती हैं।

जिस दिन वैज्ञानिक शरीर की इस भाषा को पढ़ने की कोई आसान तरकीब निकाल लेंगे, वह दिन मानव के इतिहास में एक युगांतरकारी दिन रहेगा, क्योंकि उसके बाद तो उस प्रथम कोशिका के **डी. एन. ए.** जिससे बढ़कर एक शिशु बनता है, के सभी गलत संदेशों को सुधारा जा सकेगा। फिर न तो कोई जन्मांध होगा और न किसी अन्य जन्मजात विकार से ही पीड़ित होगा। इसी प्रकार जिन शिशुओं से आगे चलकर देश की रक्षा का काम लेना है, उनके **डी. एन. ए.** में शरीर को सबल बनाने वाले संदेश भरे जा सकेंगे, जिनसे देश के बौद्धिक निर्माण में सहायता लेनी है, उनमें पैनी बुद्धि बनाने वाले संदेश भरे जा सकेंगे।

गुप्त भाषा और जीवन रहस्य

इतना ही नहीं बल्कि शरीर की इस गुप्त भाषा का भेद जान लेने से जीवन का रहस्य प्रकट होने की भी संभावना बढ़ गई है। प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि हमारे शरीर में तो **डी. एन. ए.** मां-बाप से आया, मां-बाप में उनके मां-बाप से, आखिरकार सृष्टि के सबसे पहले जीवन में **डी. एन. ए.** कहां से आया होगा? बेंडरविल्ट यूनिवर्सिटी के डॉ. बेरिसिली का विचार है कि सृष्टि में प्रथम **डी. एन. ए.** पिण्ड का उद्भव पृथ्वी के उन आदि समुद्रों में हुआ, जिनसे समस्त प्राणि-जगत् और वनस्पति जगत् का उद्भव माना जाता है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि डार्विन के विकासवाद के बाद जीव विज्ञान (बायोलोजी) की सबसे बड़ी खोज, **डी. एन. ए.** की रासायनिक संरचना और रासायनिक भाषा की खोज ही है। इसी खोज ने जीव विज्ञान की एक नवीनतम शाखा आणविक जीव विज्ञान (मोलीक्यूलर बायोलोजी) की नींव रखी है और अब तमाम जीवनक्रियाओं-प्रक्रियाओं का आणविक स्तर पर अध्ययन किया जा रहा है।
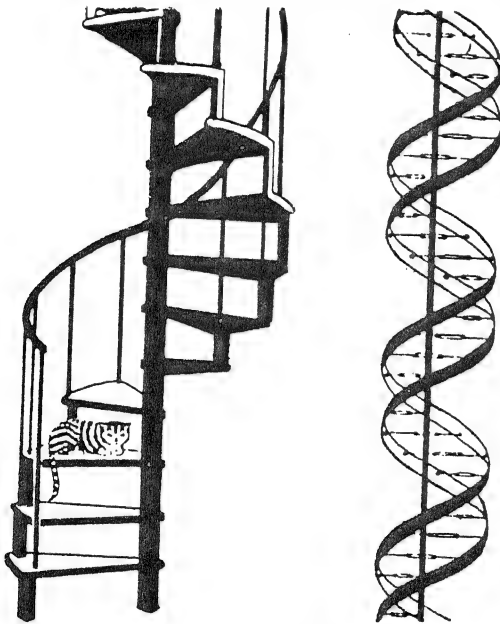
दो कुण्डलिनियां
एक मानव-निर्मित (बाएं) दूसरी प्रकृति-निर्मित डी.एन.ए. की कुण्डलिनी

मानव और परमाणु विस्फोट*

डी. एस. कोठारी

"हम आपके सामने वर्तमान युग की सबसे उलझन भरी उस समस्या को पेश करते हैं जो दुर्दमनीय, भयानक और अनिवार्य है और जिससे बचा नहीं जा सकता। प्रश्न यह है कि क्या हम सदा के लिये युद्ध बंद करने की घोषणा कर सकते हैं या हम मनुष्य जाति को समूल नष्ट करना चाहते हैं? यदि हम सदैव के लिये युद्ध से विमुख हो जाते हैं तो हम एक ऐसा समाज निर्माण कर सकते हैं जिससे आनंद, ज्ञान और बुद्धि की सतत प्रगति हो सकती है। तो क्या हम इस स्वर्गीय आनंद के बदले विनाशक मृत्यु को इसलिये चाहते हैं, क्योंकि हम अपने झगड़े समाप्त नहीं कर सकते। हम आप से मनुष्य होने के नाते मनुष्यता के नाम पर यह निवेदन करते हैं कि आप सब कुछ भूल कर केवल अपनी मानवता को याद रखें। यदि आप यह कर सकते हैं तो निश्चय ही नये स्वर्ग के लिये रास्ता खुला है। किंतु यदि आपको यह मंजूर नहीं है, तो आपके सामने मानव मात्र की मृत्यु का संकट उपस्थित है।"

उपरोक्त कथन उस वक्तव्य का अंश है जो जुलाई, 1955 में संसार के प्रसिद्ध वैज्ञानिकों और दार्शनिकों ने परमाणु-शक्ति के गलत उपयोग के बारे में दिया था। इस वक्तव्य पर हस्ताक्षर करने वालों में अन्य लोगों के अतिरिक्त जगत् प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. अल्वर्ट आइंस्टीन, प्रसिद्ध दार्शनिक बरट्रेंड रसल, डॉ. एच. जे. मुलर, प्रो. एच. युकावा और प्रो. मैक्सबोर्न भी थे। स्मरण रहे कि श्री बरट्रेंड रसल परमाणु विस्फोटों के खिलाफ आंदोलन करते हुए जेल भी हो आए हैं।

---

* विज्ञान प्रगति, मार्च 1964

सभ्यता के विलुप्त होने का खतरा

आज से आठ नौ वर्ष पूर्व जो बातें उपरोक्त वक्तव्य में कही गयी थीं, वे मनुष्य जाति के लिए आज और भी अधिक जोर के साथ लागू होती हैं। क्योंकि आज मानवता परमाणु विस्फोट रूपी व्यापक और सघन दावानल के मुंह तक पहुंच चुकी है और परमाणु शक्ति के जाने अथवा अनजाने गलत इस्तेमाल से संपूर्ण मानव जाति के विनष्ट होने पर हमारी सभ्यता के विलुप्त होने का पूरा-पूरा खतरा पैदा हो गया है। किंतु शतप्रतिशत सचाई से भरी यह बात न तो आम लोगों में व्यापकता से फैल पाई है और न आम जनता इसको गंभीरता से महसूस कर रही है। इसका कारण यह है कि लोगों को इस विषय से संबंधित सूचनाओं को बताने का कोई गंभीर और सतत प्रयत्न किया ही नहीं गया, जैसा कि प्रो. लाग्रोस क्लार्क ने 1961 में ब्रिटिश एसोसिएशन में अपना अध्यक्षीय भाषण देते हुए कहा था "अब हमें अपने को धोखे में डालकर इस भयानक सवाल से बचने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। जो हमारे सामने धीरे-धीरे इस रूप में उभरता आ रहा है कि क्या मानव सभ्यता की उस विशाल इमारत को, जिसको मनुष्य जाति ने धीरे-धीरे बड़ी मेहनत से एक के ऊपर एक ईंट रखकर पिछले हजारों सालों में खड़ा किया है, विनष्ट होने से बचाया जा सकता है और जो आज मानव प्रतिभा के गलत इस्तेमाल, राजनैतिक सत्ता और आर्थिक महत्ता के अंकुशहीन संघर्ष के परिणामस्वरूप विनाश के तट पर आ पहुंची है।"

भयावह स्थिति का कारण

इस भयावह और दुखांत स्थिति के पैदा होने का कारण यह है कि वैज्ञानिक व टैक्नीकल ज्ञान और राजनीति, व्यवहारकुशलता तथा नैतिक मूल्यों के बीच पड़ी हुई दरार तेजी से बढ़ती जा रही है जिसके कारण विज्ञान और अध्यात्म, परमाणु और अहिंसा का संतुलन गड़बड़ा गया है। इसलिए आज संपूर्ण मानव जाति को इस असंतुलन के कारणों की खोज करके उसको खत्म करना अनिवार्य हो गया है। क्योंकि जिस तेजी से संसार के बड़े राष्ट्रों में परमाणु अस्त्रों की होड़ बढ़ रही है यदि इसकी गति इतनी ही रही तो मनुष्य जाति के विनष्ट होने का निश्चित खतरा है। यह होड़ 16 जुलाई 1945 को अमेरिका द्वारा प्रथम परमाणु विस्फोट के परीक्षण से शुरू हुई थी। 6 तथा 9 अगस्त, 1945 को अमेरिका द्वारा जापान के क्रमशः हिरोशिमा और नागासाकी नगरों पर जो परमाणु बंब छोड़े गये थे,

उससे परमाणु में निहित शक्ति के जिस विराट रूप का दर्शन हुआ, उसके कारण ही रूस ने भी इस क्षेत्र में प्रवेश किया और 29 अगस्त, 1949 को उसने अपना पहला परमाणु विस्फोट किया। रूस और अमेरिका की इस होड़ में ब्रिटेन भी पीछे नहीं रहना चाहता था। इसलिए उसने भी अक्टूबर, 1952 में अपना पहला परमाणु विस्फोट किया। और फिर इसी क्रम में फ्रांस ने फरवरी, 1960 में अपने परमाणु बंब का परीक्षण किया।

यह होड़ केवल परमाणु बंब तक ही सीमित नहीं है वरन् तीन बड़े राष्ट्रों में हाइड्रोजन बंब को लेकर उससे भी भयानक होड़ लग गई। अमेरिका ने नवंबर, 1952 में, रूस ने अगस्त, 1953 में और इंग्लैण्ड ने मई, 1957 में हाइड्रोजन बंब के प्रथम परीक्षण किये। इस बीच में एक अच्छी बात यह हुई कि अक्टूबर, 1958 से अगस्त, 1961 तक स्वेच्छा से अमेरिका और रूस ने परमाणु अस्त्रों का परीक्षण बंद कर दिया। किंतु सिंतबर-नवंबर 1961 में रूस ने अपने परीक्षण फिर शुरू कर दिये। 30 अक्तूबर, 1961 को संसार का सबसे बड़ा परमाणु विस्फोट हुआ। यह शायद लगभग 100 मैगाटन का था किंतु इसको 60 मैगाटन का ही बताया गया था। इसके प्रतिक्रिया स्वरूप अमेरिका ने 25 अप्रैल, 1962 से अपने परमाणु विस्फोट फिर शुरू किये जिनमें 'क्लीन बंब' (जिनके विस्फोट होने के बाद वातावरण में कोई बुरा प्रभाव नहीं रह जाता) और न्यूट्रोन बंब भी शामिल हैं।

परमाणु विस्फोट की भयानक शक्ति

परमाणु विस्फोट की भयानक शक्ति का कुछ अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि एक मैगाटन से अधिक के परमाणु विस्फोट (जैसा कि अमेरिका ने अपने मार्च, 1954 के परीक्षण में और रूस ने नवंबर, 1956 में इस्तेमाल किये थे) से इतनी विस्फोटक शक्ति मुक्त होती है जितनी आज तक के इतिहास में छोड़े गए कुल विस्फोटों से पैदा हुई है, इसमें द्वितीय महायुद्ध से हुए विस्फोट भी शामिल हैं। यदि एक मैगाटन धारिता के परमाणु बंब से मुक्त शक्ति को टी. एन. टी. या बारूद जैसे रासायनिक विस्फोटों से प्राप्त किया जाये तो इन विस्फोट पदार्थों का मूल्य ही केवल 2000-3000 करोड़ रुपए होगा। इस में विस्फोटक को लाने ले जाने का खर्चा शामिल नहीं किया गया है। इन विस्फोट पदार्थों की मात्रा का एक अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि एक मैगाटन बंब की विस्फोट शक्ति के तुल्यांक बारूद या टी. एन. टी. को यदि मालगाड़ी के डिब्बों में भरा जाये तो इन विस्फोट पदार्थों की कुल मात्रा इतनी अधिक होगी

कि उस सबको एक मालगाड़ी में भरने के लिये इतने डिब्बों की जरूरत पड़ेगी कि यदि इन डिब्बों को एक के बाद एक लगाया जाये तो उनकी लंबाई उतनी होगी जितनी कश्मीर से कन्याकुमारी तक की है। फिर इन रासायनिक विस्फोटों की तुलना में परमाणु विनाशक अस्त्रों को बनाने में लागत कम लगती है। उदाहरण के लिए एक हाइड्रोजन बंब की कीमत केवल कुछ करोड़ रुपए ही आती है। इसका कारण यह है कि इन बंबों को बनाने के लिए अब ऐसी विधियां विकसित कर ली गयी हैं जिनमें मंहगे यूरेनियम-235 के स्थान पर सस्ते यूरेनियम-238 का इस्तेमाल किया जाता है।

सचाई तो यह है कि परमाणु शक्ति के इस विराट रूप की कल्पना इसको बनाने वाले देश तक नहीं कर सके थे; जैसा कि 1956 में प्रकाशित श्री ट्रूमैन के संस्मरणों से पता चलता है। वे इसमें कहते हैं कि "1945 में एक ऐसी अद्भुत घटना घटी जो निकट भविष्य में शेष संसार के साथ हमारे संबंधों में क्रांति पैदा करने वाली थी और जिसके कारण मनुष्य जाति एक ऐसे युग में पदार्पण करने वाली थी जिसके परिणाम और जिससे पैदा होने वाली समस्याओं की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। यह अद्भुत घटना परमाणु बंब था।"

इसी प्रकार श्री किजिंगर अपनी पुस्तक *न्यूक्लीयर आर्मस एण्ड फौरन पौलिसी"* (परमाणु अस्त्र और विदेश नीति) में प्रथम रूसी परमाणु विस्फोट परीक्षण की चर्चा करते हुए कहते हैं, "अंतर्राष्ट्रीय गुटों की राजनैतिक शक्ति संतुलन पर जो प्रभाव रूस द्वारा परमाणु बंब बनाने की सफलता का पड़ा है उसके कारण परमाणु अस्त्रों के क्षेत्र में हमारा एकाधिकार खत्म हो गया है। यदि रूस द्वारा संपूर्ण पश्चिमी यूरोप भी कब्जे में कर लिया जाता तो भी शक्ति संतुलन की दृष्टि से हमारी उतनी हानि न होती।

विनाश का ताण्डव नृत्य

पिछले कुछ वर्षों में इस विराट शक्ति से होने वाले विनाश के अनुमान लगाये हैं, किंतु केवल एक हाइड्रोजन बंब ही विनाश का इतना विराट ताण्डव उपस्थित करता है कि इसके द्वारा होने वाली मृत्यु संख्या को आसानी से लिखने के लिये हमें अब अपने गिनने की इकाई ही दूसरी बनानी पड़ी है। इस इकाई को मैगा-डेथ कहते हैं जो 10 लाख मृत्यु के बराबर होती है। परमाणु बंब से केवल 10 वर्गमील क्षेत्र का ही संपूर्ण विनाश होता था, किंतु हाइड्रोजन बम्ब से निकली आग और लपटें ही एक हजार वर्गमील क्षेत्र को नष्ट कर देती हैं। इसके अतिरिक्त 10

हजार वर्गमील का क्षेत्र इससे निकले विकिरण पदार्थों द्वारा नष्ट हो जाता है। इस तरह एक हाइड्रोजन बंब से निकली लपटें और गर्मी ही संसार के बड़े से बड़े नगर को नष्ट करने के लिये काफी है।

उपरोक्त आधार पर परमाणु युद्ध में यमराज का कैसा विकराल ताण्डव होगा इसका भी कुछ अनुमान लगाया गया है। उदाहरण के लिये यदि 10 हजार मैगाटन के परमाणु अस्त्रों से अमेरिका पर हमला किया जाये तो उसकी पूर्ण जनसंख्या का केवल दसवां भाग ही जीवित रह सकेगा, शेष 90 प्रतिशत मारा जायेगा। स्मरण रहे कि इस अनुमान में उन मृत्यकों की गिनती नहीं की गई है जो परमाणु विस्फोटों से पैदा हुए दूसरे कारणों से होगी।

भविष्य में परमाणु युद्ध की वीभत्स लीला केवल युद्ध में रत देशों तक ही सीमित नहीं रहेगी वरन् इसके संहारकारी प्रभावों से तटस्थ देश भी नहीं बच सकेंगे। परमाणु अस्त्रों से मुक्त रेडियो सक्रिय पदार्थ और विकिरण तटस्थ देशों के वातावरण में भी घुल-मिल जाएंगे जिसके कारण बिना लड़े ही उनकी जन संख्या का 5 से 19 प्रतिशत भाग नष्ट हो जाएगा।

इन अनुमानों की पुष्टि अमरीकी सैन्य अनसंधान और विकास विभाग के प्रमुख लैफ्टीनेंट जनरल जैम्स गैविन के उस बयान से भी हो जाती है जो उन्होंने मई 1950 में अमेरिका के सिनेट की सिमटन कमेटी के सामने दिया था।

जब लैफ्टीनेंट जनरल गैविन से सिनेटर डफ ने पूछा, "क्या आप कृपा करके मुझे यह बता सकेंगे यदि हमें परमाणु यद्ध में शामिल होना पड़े और यदि परमाणु अस्त्रों से सुसज्जित हमारी वायुसेना रूस पर हमला कर दे तो आपके विचार में इन परिस्थितियों में मृत्यु आदि के रूप में रूस की कितनी हानि होगी?" जनरल गैविन ने इसका उत्तर देते हुए कहा था, "मौजूदा अनुभवों के अनुसार इस हमले के कारण मित्र या शत्रु दोनों ही पक्षों की अपार हानि हो सकती है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि हवा का रुख उस समय किस ओर को होगा। यदि हमले के समय हवा की दिशा दक्षिण-पूर्व हुई तो अधिकांश रूस के अरबों नागरिक मृत्यु का शिकार बन जाएंगे यद्यपि जापान और यहां तक कि फिलिपाइन क्षेत्र तक पर भी इसका संहारक प्रभाव पड़ेगा। किन्तु यदि वायु इसके विपरीत दिशा में बहती है तो पश्चिमी योरोप के अरबों नागरिक इस हमले का शिकार होंगे।"

घनघोर रूप से भयानक लड़ाई

ऐसी घनघोर रूप से भयानक लड़ाई के लिए आज दोनों विपक्षी तैयारियों में रत

हैं और अनुमान किया जाता है कि अब तक दोनों गुटों ने इतना कच्चा माल इकट्ठा कर लिया है कि जिससे 30 हजार मैगाटन शक्ति के परमाणु बम्ब बनाये जा सकते हैं। यानी आज भी परमाणु शक्ति के संग्रहित कच्चे माल में इतनी संहारक शक्ति मौजूद है जो अमरीका जैसे 6 देशों के 90 प्रतिशत नागरिकों को नष्ट कर सकती है।

इस भयानक स्थिति तक पहुंचने के बाद भी अभी तक संसार के बड़े राष्ट्रों की आंखें नहीं खुली हैं। तभी तो वे निःसंकोच परमाणु विस्फोट (रूस द्वारा 170 मैगाटन, अमरीका और इंग्लैण्ड द्वारा 125 मैगाटन और फ्रांस द्वारा एक मैगाटन से कुछ कम) संबंधी परीक्षणों को करते चले आ रहे हैं। स्मरण रहे कि इसमें अमरीका द्वारा आज कल हो रहे परमाणु परीक्षणों से मुक्त शक्ति शामिल नहीं है जो लगभग 20 मैगाटन के बराबर होगी। परीक्षणों से मुक्त यह शक्ति, द्वितीय महायुद्ध में सभी श्रोतों से जितनी विस्फोटक शक्ति मुक्त हुई उसका भी सैकड़ों गुना अधिक है। यह हाल तो आज शांतिकालीन परीक्षणों से हो रहा है पर यदि परमाणु युद्ध हो गया तो क्या हाल होगा?

भयंकर नतीजे

शांतिकालीन परीक्षणों से ही इतने भयंकर दुष्परिणाम होने वाले हैं जो मनुष्य जाति की आंखें खोलने के लिए काफी है। क्योंकि इनसे जो विकिरण शक्ति के रूप में रेडियो सक्रिय स्ट्रोंशियम-90 मुक्त हुआ है वह ही आने वाले 30 वर्षों में डेढ़ लाख व्यक्तियों के लिए ल्यूकेमिया नामक अणु-रोग के रूप में मृत्यु का कारण बनेगा और 50 हजार लोगों की मृत्यु इससे पैदा हुए हड्डी के फोड़ों के कारण होगी। इसका प्रभाव मृत्यु संख्या पर यह पड़ेगा कि मनुष्य जाति की मृत्यु संख्या प्रति सप्ताह 2 व्यक्ति और बढ़ जायेगी।

उपरोक्त आंकड़े इस आधार पर दिये गये हैं कि स्ट्रोंशियम-90 का अर्ध-जीवन 30 वर्ष होता है। किंतु यदि इस संभावित विनाश के औसत को एक शताब्दी पर फैलाया जाय, जो 100 मैगाटन फिशन शक्ति से मुक्त स्ट्रोंशियम-90 के कारण पैदा होती है तो विनाश के उपरोक्त आकंड़े दुगने हो जायेंगे।

परीक्षणों से मुक्त रेडियो सक्रिय कार्बन-14 के कारण 30 लाख मृत्यु होंगी जिनमें से 10 प्रतिशत यानी 15 हजार अगली पीढ़ी में ही हो जायेंगी। इसके अतिरिक्त इन परीक्षणों से जो दूसरे रेडियो सक्रिय पदार्थ मुक्त हुए हैं उनके कारण एक लाख पित्रेयक मृत्यु होंगी। मृतकों की इस संख्या से केवल बाल मृत्यु (जिसमें
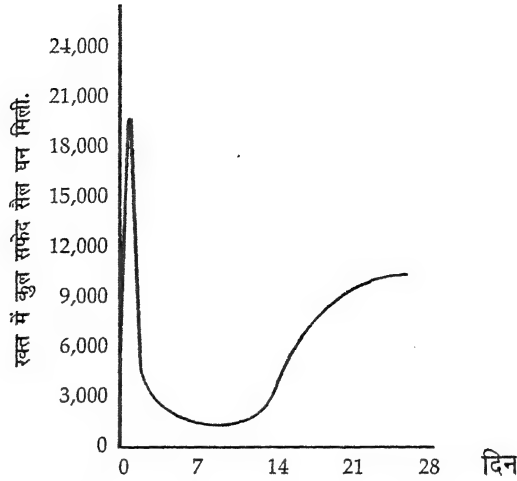
विकरणों से उत्पन्न बीमारी में समय के साथ रक्त के सफेद सैलों की संख्या में होने वाला परिवर्तन

मरे हुए नवजात भी शामिल हैं) ही शामिल की गई है (गर्भावस्था और नवजात बच्चों की मृत्यु इसमें शामिल नहीं की गई है?)। इन आंकड़ों से यह साफ जाहिर है कि अब तक जो परीक्षण हुए उन से होने वाला विनाश ही भयंकर है और यह जरूरी हो गया है कि इस बात का अध्ययन किया जाये कि स्ट्रोंशियम-90 वातावरण में किस तल तक मौजूद हैं। उन देहाती क्षेत्रों में इस प्रकार के अध्ययन करने की अत्यधिक आवश्यकता है जो नगर क्षेत्रों से पृथक पड़े हैं। इसके साथ यह भी याद रखना आवश्यक है कि स्ट्रोंशियम-90 से उन क्षेत्रों में उपरोक्त अनुमान से कहीं अधिक मृत्यु होगी जहां लोग अपनी कैलशियम आवश्यकतायें वनस्पति (दूध-दही) श्रोतों से पूरी करते हैं और जहां कम पोषक खाद्य लोगों को मिलते हैं।

संहारक युद्ध अन्य ग्रहों पर भी

आदमी इन संहारक युद्ध को पृथ्वी ग्रह तक ही सीमित नहीं रखना चाहता। वह तो इस लड़ाई को दूसरे ग्रहों पर भी ले जाने के मनसूबे बना रहा है। यह बात अमेरिकी वायु सेना के एक जनरल की आगे लिखी बातों से साफ जाहिर होती है जो 'आई. एफ. स्टोन्स वीक्ली' के 20 अक्तूबर, 1958 के अंक में प्रकाशित हुई थी। यह स्पुतनिक छोड़े जाने से पहले की बात है। इस जनरल ने सैन्य सेवाओं

की हाउस कमेटी के सामने बयान देते हुये कहा था यदि अमेरिका चंद्रमा पर प्रेक्षण अस्त्रों का केंद्र बना सका तो इस स्थान से हाइड्रोजन बंबों से सुसज्जित निर्देशित प्रेक्षण अस्त्र पृथ्वी के किसी भी भाग के लिये छोड़े जा सकेंगे। उनको बीच में टोक कर जब किसी ने उनको यह बताया कि रूस भी ऐसा कर सकता है तो उन्होंने कहा 'अमेरिका को मंगल और शुक्र ग्रह पर भी अधिकार कर लेना चाहिये।'' (क्योंकि उस समय यह समझा जाता था कि रूस वाले इन ग्रहों तक पहुंच ही नहीं सकते।) इससे जाहिर है कि यदि घृणा और भय का वातावरण बराबर बना रहा तो मनुष्य विनाश के इस ताण्डव नृत्य को पृथ्वी पर ही नहीं, अंतरिक्ष में भी फैला देगा।
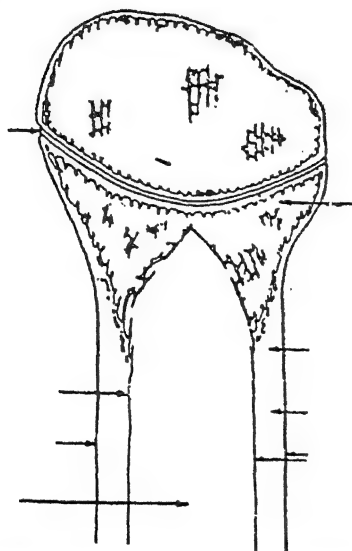
विकरण से निकले रेडियो एक्टिव तत्वों का चूहे की विकसित हड्डी में जमाव : प्रस्तुत चित्र में दी गई हड्डी के सबसे ऊपर वाले भाग में स्ट्रोंशियम और बेरियम, उसके अन्तरस्थ भाग में खनिज रचना धारी स्ट्रोंशियम और बेरियम, पर्यस्थ भाग में सीरियम आंशिक रूप में प्लूटोनियम तथा मज्जा गुहा में पलूटोनियम।

परमाणु अस्त्रों से पैदा हुए भय का प्रभाव आज इस भयानक स्थित को पहुंच गया है कि लड़ने वाले दोनों पक्षों ने लाखों मैगाटन शक्ति के परमाणु शस्त्र न केवल बना कर रख लिए हैं वरन् उनको इस भांति सजाया हुआ है कि कुछ मिनटों से लेकर कुछ घंटों तक में ही उनको पूर्व निश्चित लक्ष्यों पर छोड़ा जा

सकता है। ये लक्ष्य आमतौर पर या तो बड़े-बड़े नगर है या अत्यधिक जनसंख्या वाले केंद्र हैं। परमाणु युद्ध में परमाणु अस्त्र छोड़ने वाली पनडुब्बियों आदि जैसे सैन्य लक्ष्य की अपेक्षा नगर लक्ष्य अधिक लाभदायक समझे जा रहे हैं, जिससे एक साथ ही न केवल लाखों करोड़ों लोगों की मृत्यु होती है वरन् आम जनता का आत्म-विश्वास और नैतिक बल भी समाप्त होता है।

आज पृथ्वी पर परमाणु अस्त्रों के कारण भयानक भय मनुष्य के सिर पर तलवार की तरह लटक रहा है और पता नहीं कब यह गाज उस पर गिर पड़े। यदि विनाशकारी शक्तियों को समय रहते नहीं रोका गया तो निश्चय ही एक दिन मानवीय भावनाओं का ऐसा विस्फोट होगा जो परमाणु की सहायता से सम्पूर्ण मानवता को सदा के लिए मिटा देगा।

युद्ध रोकने के लिए सामूहिक प्रयत्न

अभी कुछ समय पहले श्री एल.एफ. रिचर्डसन ने युद्धों के बारे में एक बड़ा दिलचस्प सांख्यीय विश्लेषण किकया है। इस विश्लेषण से यह नतीजा निकलता है कि मानव इतिहास के लम्बे युगों में युद्ध का वितरण ''पोशन वितरण'' के नियमानुसार होता है। यह वितरण नियति या चांस के ऊपर निर्भर करता है इसलिए मनुष्यों के केवल चाहने भर से युद्धों को नहीं रोका जा सकता। संभावनाओं पर आध ारित कभी भी फूट पड़ने वाले युद्ध जैसी घटनाएं तो केवल सामूहिक प्रयत्न और सहयोग के द्वारा ही रोकी जा सकती हैं। यह तभी हो सकता है जब हमारे आदर्श पवित्र हों और उद्देश्य बहुत ऊंचे हों। आज हम एक ऐसे चौरोहे पर खड़े हैं जो विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय से बनने वाली है या चाहें तो ऐसे रास्ते पर जा सकते हैं जहां सम्पूर्ण मानव समाज अपने से टकरा कर चकनाचूर हो जाएगा। हमें कौन-सा रास्ता चुनना है यह सोचने में हम जितनी देरी करेंगे उतना ही संकट बढ़ता जाएगा। मनुष्य ने अपने प्रयत्नों से ऐसी वैज्ञानिक उप लब्धियां प्राप्त कर ली हैं जिनके कारण वह आज एक विराट विश्व का नागरिक बनने जा रहा है। शर्त यह है कि वह अपनी मूर्खता और अहमता से कहीं परमाणु अस्त्रों के सर्पिलाकार भंवर में न फंस जाए। इसलिए इस दिशा में आज जो भी छोटे से छोटा काम होगा वह निश्चय ही हमें इस संकट से दूर करने में सहायता करेगा।

परमाणु विस्फोट से मुक्त विकिरण और उससे बचाव*

विष्णुदत्त शर्मा

जब कभी कोई परमाणु विस्फोट होता है तो उससे रेडियोधर्मी विकिरणें निकलती हैं, जो मनुष्य, जानवर और पेड़ पौधे सब के लिए अत्यंत हानिकारी होती हैं। ये रेडियोधर्मी विकिरणें क्या हैं, किस प्रकार उत्पन्न होती है और इनका उपयोग करते हुए भी इनसे किस प्रकार सुरक्षित रहा जा सकता है? ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनका उत्तर प्रत्येक व्यक्ति जानना चाहता है, क्योंकि संसार में कहीं पर भी परमाणु विस्फोट के परीक्षण क्यों न हों, उनका प्रभाव काफी व्यापक क्षेत्र में होता है।

रेडियोधर्मिता

रेडियोधर्मिता की खोज फ्रांस के वैज्ञानिक हैनरी बिक्वरेल ने 1896 में की थी। उसने यह पता लगाया था कि यूरेनियम जैसे कुछ तत्वों में से, जो रेडियोधर्मी तत्व कहलाते हैं और जिनकी संख्या आज काफी बढ़ गई हैं, कुछ ऐसी विकिरणें निरंतर निकलती रहती हैं, जिनमें पदार्थों को भेद कर निकल जाने की अद्भुत क्षमता होती है।

रेडियोधर्मिता क्या है? यह समझने के लिए हमें रासायनिक प्रक्रियाओं में भाग लेने वाले तत्वों के सबसे छोटे कणों, परमाणुओं आदि की संरचना के बारे में जानना जरूरी है। परमाणु में एक नाभि (न्यूकिलअस) होती है, जिसके इर्द-गिर्द विभिन्न कक्षाओं में इलैक्ट्रोन घूमते रहते हैं। नाभि में अन्य कणों के साथ

* 'विज्ञान प्रगति', अक्टू. 1964

बिजलीधारी (धन-आवेशित) प्रोटीन होते हैं और बिजलीहीन (ऋण-आवेषित) न्यूट्रोन।

साधारण (रेडियोधर्मी) तत्वों के नाभिक स्थायी होते हैं जबकि रेडियोधर्मी तत्वों से सदैव ही एक निश्चित गति से, जिसे किसी भी भौतिक अथवा रासायनिक विधि से नियंत्रित नहीं किया जा सकता. इलैक्ट्रोन, प्रोटीन अथवा न्यूट्रान निकलते रहते हैं। ये कण एक परमाणु की नाभि में से निकल कर दूसरे परमाणु की नाभि में घुस जाते हैं और उसकी नाभि को छिन्न-भिन्न होने में मदद देते हैं। एक बार आरम्भ होने के बाद यह क्रिया एक श्रृंखला-प्रतिक्रिया में बदल जाती है और अत्यधिक ऊर्जावान रेडियोधर्मी विकिरणों को जन्म देती है।

वास्तव में जब रेडियोधर्मी तत्व का परमाणु टूटता है तो उसमें से तीन प्रकार की विकरणें निकलती हैं, जिन्हें लार्ड रूथरफोर्ड के सुझाव के अनुसार अल्फा, बीटा, और गामा किरणें कहते हैं। इन किरणों के गुण क्रमशः ऐनोड, कैथोड और एक्स किरणों के समान होते हैं।

अल्फा किरणें—ये किरणें वास्तव में ऐसी हीलियम नाभिकों की समूह हैं, जो अपने दो इलैक्ट्रोन खो चुके हों, इसलिये ये धन-आवेशित होती हैं। इनकी गति प्रकाश की गति की 5-6 प्रतिशत होती है। ये ऐनोड किरणों की भांति चुम्बकीय तथा विद्युत क्षेत्रों से प्रभावित होती है। पदार्थो को भेद कर निकल जाने की इनकी शक्ति बीटा ओर गामा किरणों की तुलना में बहुत कम होती है।

बीटा किरणें—ये किरणें लगभग प्रकाश की गति से चलती हैं और इलैक्ट्रोनों के समूह होने के कारण ऋण-आवेशित होती हैं अल्फा किरणों की तुलना में ये किरणें चुम्बकीय और विद्युत क्षेत्रों में अत्यधिक प्रभावित होती है।

गामा किरणें—ये किरणें कणों का समूह न होकर वास्तव में किरणें ही हैं। इनकी गति प्रकाश की गति के बराबर और इनकी भेदन क्षमता अत्यधिक तीव्र होती है। ये अनावेशित होती हैं, इसीलिए चुम्बकीय और विद्युत क्षेत्रों के प्रभावों से मुक्त रही है।

रेडियोधर्मी विकिरणों का प्रभाव शरीर पर दो प्रकार से पड़ता है। इन विकिरणों से क्रोमोसोमों का म्यूटेशन हो सकता हैं ऐसी दशा में यह प्रभाव प्रभावित मनुष्य के शरीर पर दिखाई न देकर उसकी भावी पीढ़ियों पर पड़ सकता है। समझा जाता है कि यह उस समय होता है जब किसी मनुष्य पर काफी समय तक विकिरणों की थोड़ी-थोड़ी मात्रा पड़ती रहती है। दूसरे प्रकार का प्रभाव मनुष्य की लैंगिक कोशिकाओं पर न पड़ कर, उसके शरीर की अन्य कोशिकाओं पर पड़ता है।

अब स्वाभाविक रूपसे ही यह प्रश्न उठता है कि हमारा शरीर रेडियोधर्मी विकिरणों की कितनी मात्रा बिना हानिकारी प्रभावों के सह सकता है। वास्तव में इस मात्रा के बारे में वैज्ञानिक एकमत नहीं हैं ये अलग-अलग मनुष्यों के लिये अलग-अलग पायी गई हैं। साधारण तौर पर यह पाया गया है कि 500 रोंतजन शक्ति विकिरणें मनुष्य के लिये मृत्युकारी सिद्ध होती हैं। इसका अर्थ यह होता है कि यदि कुछ मनुष्यों के ऊपर 500 रोंतजन विकिरणें डाली जायें तो एक माह के भीतर उनमें लगभग 50 प्रतिशत व्यक्तियों की मृत्यु हो जायेगी। 200 रोंतजन की विकिरण शक्ति की मात्रा रोग पैदा कर देती है। शायद यह जान कर आपको आश्चर्य हागा कि हम में से प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर रेडियोधर्मी विकिरणें निरंतर पड़तीं हैं। ये विकिरणें पृथ्वी में मौजूद रेडियोंधर्मी तत्वों के कारण अपना कास्मिक किरणों द्वारा उत्पन्न होती है और अब इनमें वे विकिरणें भी शामिल हो गयी हैं, जो परमाणु विस्फोट से उत्पन्न होती है। परन्तु इन सब की मात्रा बहुत कम है और ये शरीर को कोई हानि नहीं पहुंचाती।
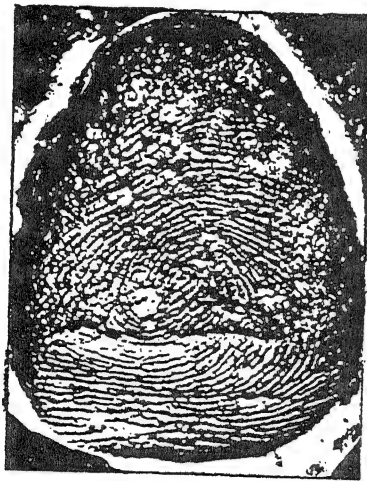
रेडियम-सुईयों के हस्तन से सर्जन की अंगुली-छाप में स्थायी परिवर्तन

मनुष्य को इन विकिरणों का स्वयं कोई पता नहीं चलता। इसलिये इन्हें नापने के लिए गाइगर-मूलर काउंटर और मोनीटर जैसे उपकरण इस्तेमाल किये जाते हैं।

सुरक्षा :

यह प्रश्न उठता है कि वे मनुष्य,जो परमाणु रिएक्टरों में अथवा ऐसे स्थानों पर काम करते हैं, जहां निरंतर बड़ी मात्रा में रेडियोधर्मी विकरणें निकलती रहती हैं, जहां निरंतर बड़ी मात्रा में रेडियोधर्मी विकिरणें निकलती रहती हैं, अपने आपको किस प्रकार सुरक्षित रखते हैं? यह साधारण मनुष्य के लिये जानना इसलिये और जरूरी हो गया है कि अब वायुमंडल में परमाणु-विस्फोटों के कारण रेडियोधर्मिता निरंतर बढ़ती जा रही है। सुरक्षा की दृष्टि से निम्नलिखित सावधानियां बरतना आवश्यक पाया गया है।

(1) रेडियोधर्मी विकिरणों से प्रभावित किसी खाद्य वस्तु का उपयोग नहीं करना चाहिये।

(2) जब किसी ऐसी वस्तु का उपयोग करना हो, जो रेडियोधर्मी विकिरणो से प्रभावित है तो उसे विशेष प्रकार के दस्ताने पहन कर अथवा किसी युक्ति द्वारा उठानी चाहिये।
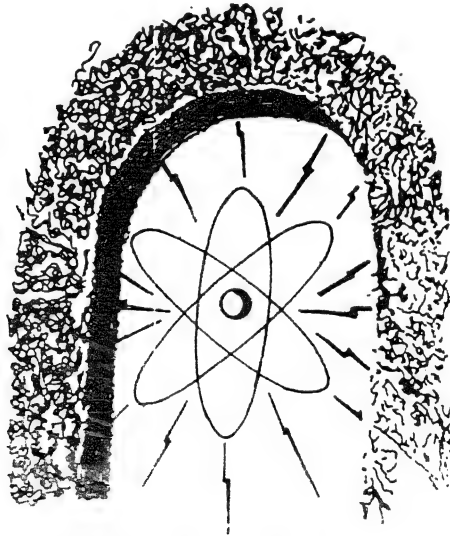
परमाणु रिएक्टर की ढाल का एक चित्र

(3) विकिरण–रोक दस्ताने पहनने से पहले यह भली-भांति देख लेना चाहिये कि उनमें कोई सूराख तो नहीं है। उतारने से पूर्व उन्हें भली प्रकार साबुन से धोना चाहिये। अधिक दूषित हो जाने पर उन्हें फेंक देना चाहिये।

(4) रेडियोधर्मी पदार्थ का उपयोग करते समय ऐसे वस्त्र धारण करने चायिे जो विकिरणों को रोक सकें।

(5) विकिरण—सक्रिय क्षेत्र छोड़ने से पहले 'मोनीटर' यंत्र से अपने शरीर की रेडियोधर्मिता की जांच कर लेनी चाहिये। यदि रेडियोधर्मिता की मात्रा अधिक हो तो उसे कम करने के संबंध में तुरन्त उपचार किया जाना चाहिये। रेडियोंधर्मिता की मात्रा 0.4 रोंतजन प्रति माह से अधिक हो जाने पर हानिकारी सिद्ध हो सकती है।

रेडियोंधर्मी व्यर्थो को नष्ट करना :

जो पदार्थ रेडियोधर्मी बन गये हैं और जिनका भविष्य में कोई उपयोग नहीं होना है, उन्हें समुचित तरीकों से नष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है। उन्हें लापरवाही से इधर-उधर नहीं फेंकना चाहिये। आजकल ऐसे व्यर्थो को नष्ट करने का सबसे अच्छा तरीका उन्हें एक विशेष प्रकार के डिब्बों में बन्द करके समुद्र में बहुत गहराई में डुबो देना है। समुद्र में उनके विच्छेदन से जो रेडियोधर्मी विकिरण उत्पन्न होती है वे बहुत क्षीण हो जाती है।

रेडियोधर्मी तत्व :

रेडियोधर्मी तत्वों के परमाणु, उनकी नाभिओं में से निरन्तर इलैक्ट्रोन, प्रोटोन, निकलते रहने के कारण अन्य तत्वों के परमाणुओं में स्वतः ही बदलते रहते हैं। परिवर्तन की यह क्रिया, एक निश्चित गति से, जो किसी भी प्रकार अब तक नियंत्रित नहीं की जा सकती हैं और प्रत्येक तत्व के लिये अलग अलग होती है, उस समय तक चलती रहती है जब तक कि रेडियोधर्मी तत्व सीसे (लैड) में नहीं बदल जाते। ज्ञात रेडियोधर्मी तत्वों की संख्या 21 है। ये हैंः—टैक्नेशियम, प्रोमेथियम, पोलोनियम, ऐस्टैंटीन, रेडोन, फ्रांसीसियम, रेडियम, एक्टिनियम, यूरोपियम, थोरियम, प्रोटैक्टनियम, यूरेनियम, नैप्यूनियम, प्लूटोनियम, अमेरिसियम, क्यूरियम, कैलीफोर्नियम, आइंस्टाइनियम, फार्मियम, मैडेलेवियम और नाबेलियम।

विकिरणों के हानिकारी प्रभाव :

रेडियोधर्मी विकिरणों की खोज के कुछ महीनों पश्चात् ही वैज्ञानिकों ने यह पता लगा लिया था कि गामा किरणें भी एक्स-किरणों की भांति शरीर के लिये बहुत हानिकारी हैं। इन विकिरणों का प्रभाव धीरे-धीरे पड़ता है और उस समय न

रेडियोधर्मी पदार्थों के सम्पर्क के दाएं हाथ में कैंसर

प्रतीत होकर कुछ वर्षो पश्चात् मालूम होता है, जिसका अंतिम परिणाम मृत्यु है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि रेडियोधर्मी विकिरणों का कोई तात्कालिक प्रभाव नहीं होता। अधिक समय तक इनमें रहने पर शरीर तत्काल ही बुरी तरह से झुलस जाता है। रेडियोधर्मी विकिरणों के प्रभाव के कारण अनेक वैज्ञानिकों का बलिदान हो चुका है। मैडम क्यूरी की मृत्यु का कारण भी ये ही विकिरणें थी।

परमाणु-घड़ी*

कृष्ण बिहारी पाण्डेय

परमाणु-घड़ी किसी घड़ी का व्यवसायिक नाम नहीं है और न ही यह कोई ऐसी घड़ी है जो परमाणु शक्ति द्वारा चलायी जाती है, अपितु यह एक आयुमापक विधि है जिसके द्वारा पचीस हजार वर्ष तक के पुराने कार्बनिक पदार्थों की आयु ज्ञात की जा सकती है। इस आयु-मापक विधि का आविष्कार अमेरिका के महान् रसायन-वेत्ता **डॉ. लिब्बी** ने किया है और इसी महान् कार्य के लिए उन्हें 1960 के लिए विज्ञान में नोबुल पुरस्कार प्रदान किया गया है। इसी विधि का प्रयोग करके आज विश्व के कोने-कोने में वैज्ञानिक अनेक प्राचीन ध्वंसावशेषों, खनिजों तथा प्रागैतिहासिक वनस्पति एवं जीव-अवशोषों की आयु ज्ञात करने में समर्थ हुए हैं।

परमाणु घड़ी के कार्य-करण सिद्धांत का अध्ययन हम निम्न तीन शीर्षकों द्वारा कर सकते हैं :—

(1) ऊपरी वायुमंडल में ब्रह्माण्ड (cosmic) किरणों की क्रियाशीलता के फलस्वरूप रेडियोकार्बन का उत्पादन :—बाह्याकाश से वायुमण्डल पर गिरती हुई कास्मिक किरणें न्यूट्रान उत्पन्न करती हैं। वे न्यूट्रान वायुमण्डल में उपस्थित नाइट्रोजन से टकराते हैं, जिसके परिणामस्वरूप रेडियो सक्रिय कार्बन से रेडियो कार्बन का निर्माण होता है।

(2) वनस्पतियों द्वारा रेडियो कार्बन का शोषण:—उपर्युक्त रेडियो कार्बन आक्सीजन से संयोग करके रेडियो सक्रिय कार्बन डाइ-आक्साइड बनाता है जो वायुमण्डल में उपस्थित सामान्य कार्बन-डाइ-आक्साइड से मिश्रति हो जाती है। चूंकि धरती का संपूर्ण वनस्पति जगत् कार्बनडाइ-आक्साइड का शोषण करता है

* विज्ञान, जून-जुलाई 1964

अतः उसके द्वारा साधारण कार्बन के साथ अवश्य ही रेडियो कार्बन की भी एक निश्चित मात्रा शोषित होती है।

(३) रेडियो सक्रिय कार्बन के आधार पर आयु निर्धारण :—जिस कार्बनिक पदार्थ की आयु ज्ञात करनी होती है, सर्वप्रथम हम उसमें साधारण कार्बन तथा रेडियोसक्रिय कार्बन का अनुपात ज्ञात कर लेते हैं। तत्पश्चात् किसी सद्यः पतित कार्बनिक पदार्थ में साधारण कार्बन तथा रेडिओ सक्रिय कार्बन का अनुपात ज्ञात करते हैं। इन दो अनुपातों के आधार पर हम यह ज्ञात कर सकते हैं कि इस कार्बनिक पदार्थ की निश्चित मात्रा में सद्यः पतित अवस्था (अर्थात् जबसे इसने कार्बन डाइआक्साइड का शोषण बंद किया) में रेडियोकार्बन की मात्रा कितनी थी और इस समय उसमें कितना रेडियो कार्बन उपस्थित है। अब हम निम्नलिखित सूत्र द्वारा आयु निर्धारण कर सकते हैं।

$$N=N_0e^{-yt}$$

जहां, N_0= सद्यः पतित अवस्था में रेडियो कार्बन के परमाणुओं की संख्या।
N = इस समय उपस्थित रेडियो कार्बन के परमाणुओं की संख्या।
t = पदार्थ की आयु (सेकेंडों में)

तथा y है रेडियो कार्बन का क्षय-स्थिराङ्क, जिसका मान डॉ. लिब्बी ने ज्ञात किया है।

डॉ. लिब्बी ने अपनी परिकल्पना की सत्यता की जांच ऐसी वस्तुओं का प्रयोग करके किया जिनकी आयु ऐतिहासिक विधि द्वारा पूर्णतया निर्धारित हो चुकी थी। इस संसर्ग में उन्होंने शिकागो संग्रहालय द्वारा प्रदत्त मिश्र के फरौह सिसोस्ट्रिस तृतीय (Pharaoh Sesostris III) की शव-नौका के एक टुकड़े की आयु ज्ञात की।

इस काष्ठ-खंड को एक विद्युत् भट्टी द्वारा काष्ठकोल में परिणत किया गया, फिर इस काष्ठकोल को चूण करके गाइगर गणक द्वारा इसकी रेडियो सक्रियता को नापा गया और इस प्रकार इसकी आयु 3621 वर्ष निर्धारित की गई जबकि इसकी वास्तविक आयु 3750 वर्ष थी।

डॉ. लिब्बी एवं उनके सहयोगियों ने अपनी इस विधि का प्रयोग करके अनेक महत्त्वपूर्ण तिथियों का स्पष्टीकरण किया है। इस प्रकार उन्होंने यह ज्ञात किया है कि उत्तरी अमेरिका का हिम युग 25000 वर्ष पूर्व नहीं अपितु 10000 वर्ष पूर्व है।

परमाणु घड़ी डॉ. लिब्बी द्वारा विज्ञान को एक महान् देन है। इसके द्वारा भूगर्भ शास्त्र, पुरातत्त्व विज्ञान, प्राणि शास्त्र तथा वनस्पति शास्त्र पर अद्भुत प्रकाश पड़ा है।

आस्तिकता*

डॉ. सत्यप्रकाश

आस्तिकता से क्या अभिप्राय है? पहला तो यह कि हम यह मानें कि शरीर से भिन्न हम कोई एक ऐसी सत्ता है जो शरीर के प्रतिक्षण परितवर्तित होते हुए भी जन्म से मृत्यु तक अक्षुण्ण बनी रहती है, और जिसके उद्देश्य-विशेष के लिए ही शरीर करण-मात्र है। दूसरा यह कि हम यह भी मानें कि शरीर के भीतर रहने वाले हम शरीर से पहले भी थे और शरीर छूट जाने के अनंतर भी हम बने रहेंगे। तीसरा यह कि हम यह माने कि शरीर के भीतर हम स्वयं नहीं आये, किसी अन्य सत्ता की प्रेरणा से हमें यह शरीर उपयोग के लिए मिला है। चौथा यह कि वही सत्ता जिसकी प्रेरणा से हम शरीर में आते-जाते हैं, वही उस सृष्टि का रचयिता भी है, जिसके हम एक छोटे से अंग हैं। पांचवां यह कि वह सत्ता ज्ञान, शक्ति, और आनंद देने वाली है, और उसका और हमारा एक घनिष्ट संबंध है। छठा यह कि हम यह माने कि जिस प्रकार वही परम-सत्ता सृष्टि का रचयिता है, वही ज्ञान का भी आदिस्रोत है; और तुच्छ चेतन सत्ताओं के स्वातंत्र्य की रक्षा करते हुए भी जिसे जितने ज्ञान की अपेक्षा है, उसकी व्यवस्था करती है। सातवां यह कि इस सत्ता द्वारा ही पाप-पुण्य, आचार-अनाचार, प्रत्यक्ष और परोक्ष, मुक्ति और बंध, सुख-दुःख आदि द्वंद्वों की व्यवस्था होती है।

उन्नीसवीं शती का विकासवादी वैज्ञानिक इस अर्थ में नास्तिक था—पहला यह कि वह शरीर में व्यक्त चेतनता की व्याख्या जड़ पदार्थों की विशेष रासायनिक प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न वैशिट्य के आधार पर करता था, दूसरा यह, कि परिस्थितियों के प्रभाव और जीवन संघर्ष के नियमों के आधार पर ही विभिन्न जातियों के विकास को वह स्वीकार करता था। तीसरा यह, कि वह मानता था कि व्यक्ति

* विज्ञान, नवम्बर 1964

तो मरणधर्मा है, पर उसमें यह क्षमता है, कि अपने समान ही किसी एक अथवा अनेक व्यक्तियों को जन्म दे जावे, और ये व्यक्ति अपने मरण से पूर्व उसी प्रकार अपने ही जैसे कुछ और व्यक्तियों को जन्म दे जावें, और इस भांति परंपरा जीवित रहे। दूसरे शब्दों में यह कि व्यक्ति की बलि होती रहे और जाति अमर रहे, अथवा दीपक की प्रत्येक चिनगारी बुझती रहे, फिर भी ज्वाला का सातस्य बना रहे। चौथा यह कि जड़ प्रकृति के अनंत कणों के मध्य अनंत काल की अवधि में अकस्मात् प्रतिक्रियाओं के होते रहने के कारण ही सृष्टि के विभिन्न पिण्डों का जन्म हो गया। अनुकूल परिस्थिति आने पर इन पिण्डों पर निम्न श्रेणी की चेतनताओं का प्रादुर्भाव हुआ, और इन चेतनताओं से ही मनुष्य के समान प्राणियों की विशिष्ट चेतनताओं का भी विकास हुआ। रसायनशालयों में ऐसे-ऐसे यौगिकों का संश्लेषण किया गया, जो गुणों में प्रोटीन भी संश्लेषित हो जायेंगे जिनमें चेतनता ऐसी विलक्षणता होगी, और जिनसे सम्पन्न कोशिकायें अपने से मिलती-जुलती अन्य कोशिकाओं को जन्म देने में समर्थ होंगी। पांचवां यह कि अधिकतम व्यक्तियों की सुविधा देखते हुए जो कुछ भी अधिकतम कल्याण हो सकता है, वही आचार का मूल है, इसके अतिरिक्त पाप-पुण्य, धर्माधर्म आदि द्वंद्व कुछ भी नहीं। छठा, यह, कि जिस प्रकार जड़ एवं चेतन जगत् का श्रेणीबद्ध विकास हुआ, उसी प्रकार ज्ञान, भाषा और आचरण का भी विकास हुआ, और इतिहास जीवन के इस सर्वांगीण विकास का साक्षी है। सातवां यह कि पृथ्वी ही ऐसा पिण्ड है जिस पर जलवायु की ऐसी परिस्थितियां हैं, जहां वनस्पतियों और प्राणियों का-सा जीवन संभव है। कम से कम इस सौर-मण्डल में तो ऐसा और कोई पिण्ड प्रतीत नहीं होता जहां जीवन की संभावना स्पष्ट गोचर हो।

वैज्ञानिकों की तीन श्रेणियां हैं—नास्तिक विकासवादी वैज्ञानिक, आस्तिक वैज्ञानिक, और उदासीन वैज्ञानिक। अंतिम वर्ग के वैज्ञानिक आस्तिकता, आत्म-अनात्म आदि विषयों को अपने क्षेत्र से बाहर का विषय मानते हैं। उनका कहना यह है कि उनके शास्त्र की मीमांसा उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित है, जिनका ज्ञान इंद्रियगम्य हो और जिनकी व्याख्या गणित और रसायन के सूत्रों की सहायता से की जा सके।

न्यूयार्क एकेडमी आव साइन्सेज के भूतपूर्व एक अध्यक्ष डॉ. ए. क्रेसी मोरिसन (A. Cressy Morrison) ने सात तर्क उपस्थित किये जिनके आधार पर वैज्ञानिक को ईश्वर में विश्वास रखना आवश्यक हो जाता है।

पहला तर्क—असन्दिग्ध गणितीय नियमों द्वारा हम सिद्ध कर सकते हैं कि

हमारा विश्व एक महान् चेतन सत्ता द्वारा विधिपूर्वक रचा गया होगा।

मान लें कि आपके पास दस सिक्के हैं, आप उन पर एक से लेकर दस तक के क्रमशः अंक लिख दें। अब इन सिक्कों को आपस में अच्छी तरह गड्ड-बड्ड कर दें। अब यदि हम इनमें से किसी एक विशेष सिक्के को पहली बार में ही निकलाना चाहें, तो ऐसा करने की संभावना दस में एक होगी। यदि हम किन्हीं दो सिक्कों को एक क्रम में एक साथ निकालना चाहें, तो ऐसा करने की संभावना सौ में एक होगी। यदि हम किन्हीं तीन सिक्कों को एक क्रम में एक साथ निकालना चाहें तो ऐसा करने की संभावना 1000 में एक होगी, और यदि हम दसों सिक्कों को एक से दस तक के क्रम साथ निकालना चाहें, तो इसकी संभावना दस अरब (1,0000000000) में एक होगी। यह तो केवल दस तक की गिनती वाले सिक्कों की बात हुई। अब हज़ार तक की गिनती के क्रमशः सिक्के हम लेकर गड्ड-बड्ड कर दें, और फिर उन्हें उछालें, तो इसकी संभावना कि वे एक निश्चित क्रम में ही एक साथ लग जावे, इसकी संभावना निकालने के लिए आपको कितनी बिंदियां लगानी पड़ेंगी, इसका हिसाब तो लगाइये। इस प्रकार जड़ पिण्डों से अकस्मात् दैवयोग से ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न होने वाली रचना बन जाय, जिसमें जीवन रह सके, इसकी संभावना तो नहीं के बराबर ही है। अकस्मात् दैवयोग वाले सिद्धांत से कल्पना के अंतर्गत आने वाले काल में ऐसे जगत् की रचना नहीं हो सकती, जैसा कि हम अपने जगत् को पाते हैं। हां, यदि कोई परम शिल्पी हो, तो वह 'ज्ञानपूर्वक' चयन करके अभीष्ट रचना अवश्य शीघ्र तैयार कर सकता है। छापेखाने के टाइपों को लेकर केवल उछालते रहने पर आकस्मात् तुलसीदास का रामचरितमानस बन जाने की संभावना कितनी है, इसकी कल्पना करें।

हमारी पृथ्वी अपनी धुरी पर प्रति घंटा 10000 मील की गति से चक्कर लगा रही है। ऐसा न करके यदि यह 100 मील प्रतिघंटा की गति से चक्कर लगाने लग जाय तो क्या होगा? फल यह होगा, कि दिन और रात दोनों आजकल के दिन और रातों से दसगुने बड़े हो जायेंगे। फिर इसका परिणाम यह होगा, कि दिन में धूप की गरमी से समस्त वनस्पतियां जल जायेंगी, और रात को जो कुछ भी अंकुर बचे रहेंगे सब दिन में ठिठुर जायेंगे।

और देखिये, सूर्य का ताप 12000 अंश फैरनहाइट है, और यह बिल्कुल हमसे इतनी दूर है, कि केवल आवश्यक मात्रा की गरमी ही हमें मिले। अगर यह गरमी थोड़ी सी भी कम हो जाये तो हम शीत में जमकर मर जायेंगे, और थोड़ी सी भी अधिक हो जाय, तो हम भुलसकर भुन जायेंगे। मानो कि किसी

महान् शिल्पी ने सूर्य का ताप और हमसे सूर्य की दूरी जान बूझकर ऐसी रक्खी है, कि हमारा जीवन सुखपूर्वक चल सके।

हमारी पृथ्वी की धुरी अपनी कक्षा पर 23 अंश के लगभग झुकी हुई है। इस कारण हमारी ऋतुयें नियमानुसार होती हैं। यदि धुरी बिल्कुल सीधी होती तो कल्पना कीजिये कि क्या होता? सोचिये, कि यदि चंद्रमा हमसे उतनी दूर न होता, जितना कि आज है' मान लीजिये कि यह केवल 50 हजार मील की दूरी पर ही होता, तो ज्वार-भाटा इतने जोरों से उठता कि महाद्वीपों का स्थल भाग दो बार ऐसा जलमय हो जाता, कि त्राहि-त्राहि मचने लगती, और कालांतर में पर्वत भी चूर-चूर होकर विदीर्ण हो जाते। हमारी पृथ्वी की पपड़ी आज जितनी मोटी है, अगर उससे केवल दस फुट और मोटी होती, तो जो कुछ हवा में आक्सीजन प्राप्त है, वह कुछ न रह जाता, और हमारा जीवन ही असंभव था। हमारे समुद्र जितने गहरे हैं, उनसे कुछ ही फुट के अधिक गहरे होते, तो हवा में न तो कार्बन डाइऑक्साइड बचती और न ऑक्सिजन ही, तो वनस्पतियां भी विलुप्त हो जातीं। मान लीजिये कि हमारे वायुमण्डल का घनत्व उतना न होता जितना इस समय है, कुछ कम होता, तो पृथ्वी पर उल्कापातों के कारण बराबर सर्वत्र आग लगती रहती और जीवन असंभव हो जाता।

एक दो बातें नहीं, असंख्य ऐसी बाते हैं, जो इस बात का प्रमाण हैं, कि सृष्टि में एक अभीष्ट विधिविधान है, जो महान् शिल्पी की महत् आयोजना का परिचायक है, और यह सृष्टि दैवयोग या अकस्मात् उत्पन्न कोई घटना नहीं है। बिना चेतन शिल्पी के ऐसी सृष्टि के उत्पन्न होने की संभावना करोड़ों अरबों में एक के बराबर भी न थी।

दूसरा तर्क : जीवन के प्रत्येक स्पन्दन में अपने अभीष्ट की सिद्धि की विचित्र सामर्थ्य विद्यमान है, जिसका होना सर्वव्यापक चेतना सत्ता के अस्तित्व का प्रमाण है।

'जीवन' क्या है, इसे कोई आज तक न समझ पाया। इसमें न तो तौल है, और न इसकी कोई माप ही है, पर न जाने इसमें कितना बल है? वर्धनशील वनस्पति की जड़ में इतनी क्षमता है, कि वह पर्वत की शिला को भी विदीर्ण कर सकती है। जीवन ने जल, स्थल और अंतरिक्ष तीनों पर विजय प्राप्त की है, तत्वों पर इसका आतंक इतना है, कि यह इन्हें अपनी अभीष्ट के अनुकूल नयी योजना दे देता है। शिल्पी के समान यह जीव समस्त जीवित पदार्थों को विशेष आकृति देता है। कलाकार के समान यह जीवन प्रत्येक पौधे के प्रत्येक

पत्ते को एक विशेष संरचना देता है, और प्रत्येक फूल को अभीष्ट रंगों से चित्रित करता है। जीवन एक महान् संगीतज्ञ है, और उसने प्रत्येक पक्षी के तरलकण्ठ में एक विशेष स्वर प्रदान किया है, और कीटं-भृंगों को भी दैवी संगीत से सम्पन्न किया है। यही जीवन प्रकाण्ड ही नहीं, किंतु सहृदय रसायनज्ञ भी है जिसने फलों और फूलों में ऐसे स्वाद और गंध ऑक्सिजन के चक्र के नियंत्रण से इस महान् रसायन ने प्राणियों और वनस्पितियों दोनों का जीवन संभव किया। दोनों की परस्परतंत्रता इस महान् रसायनज्ञ की व्यवस्था की उत्कृष्टता का स्पष्ट प्रमाण है।

आदि जीवन के स्रोत प्रोटोप्लाज्म पर तो विचार कीजिये। इसका एक नन्हा सा बिंदु जिसे हम आंख से भी नहीं देख पाते, जो पारदर्शक जेली के समान है पर इसमें विचित्र गति है, और इसमें सूर्य से ऊर्जा के दोहन करने की सामर्थ्य है। इस प्रोटोप्लाज्म की एक सूक्ष्म कोशिका के भीतर आगे व्यक्त होने वाले समस्त जीवन का इतिहास निहित है। इसके भीतर निहित जीवन का ही व्यक्तीकरण समस्त वनस्पति जगत् और प्राणिजगत् में होता है। समस्त जीवन का आविर्भाव यहीं से है, अतः प्रोटोप्लाज़्म की सामर्थ्य जंतुओं और मनुष्यों की सामर्थ्य से कहीं अधिक है। क्या इस जीवन को 'प्रकृति' ने बनाया है? कदापि नहीं। वे शिलायें जो किसी समय आग का पिण्ड थीं और वे समुद्र जिनमें किसी समय लवण तक न था, उन परिस्थितियों को उत्पन्न कर ही नहीं सकते थे, जिनमें प्रोटोप्लाज़्म से व्यक्त होने वाला जीवन अपना अस्तित्व पा सकता। तो फिर आप ही बताएं कि प्रथमतः यह जीवन इस धरा पर आया ही कहां से?

तीसरा तर्क—जंतुओं या प्राणियों में जो मेधा है वह उदार कल्याणकारी सृष्टा के अस्तित्व की ओर संकेत करती है, अन्यथा तुच्छ असहाय प्राणियों के लिए सहारा ही क्या था!

एक छोटी सालमन मछली का उदाहरण लें। यह वर्षों तक समुद्र में रहती है, और फिर अपनी ही नदी की ओर वापस चली आती है, एवं नदी के प्रवाह की विपरीत दिशा में उस तट की ओर ऊपर को चलती है, जिस तट पर वह शाखा-सरिता मिली थी, जिसमें उस सालमन मछली का पहली बार जन्म हुआ था। अगर आप उस सालमन मछली को उठाकर किसी अन्य शाखा-सरिता में छोड़ दें, तो उस मछली को तुरंत पता चल जायगा, कि वह कहीं अन्य स्थान पर धोखे से ला दी गयी है, और वह फिर समस्त विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करेगी, फिर नदी की मुख्य धारा में आ जायगी फिर वहां से वह उलटी दिशा

में चलेगी, और अंत में उसी शाखा-सरिता से आ जायगी जहां पर उसका आदि जन्म हुआ था। सालमन मछली में इस प्रकार की विलक्षण मेधा है।

ईलों का उदाहरण और भी अधिक चमत्कारपूर्ण है। यौवन अवस्था के निकट में ये ईलें सभी तालाबों और नदियों से विदेश-भ्रमण के लिए चल देती हैं। हजारों मील की समुद्र यात्रा करके वरम्यूडा के निकट के गहरे समुद्री खण्डों में पहुंचती हैं। यहां ये अण्डे-बच्चे देती हैं और मर जाती हैं। इन अण्डे-बच्चों को किसी प्रकार किसी बात के जानने के कोई साधन हो नहीं हैं, वे क्या जानें कि उनके माता-पिता कहां के रहने वाले थे। पर आश्चर्य की बात है कि किसी अज्ञात शक्ति से प्रेरणा पाकर वे ठीक उसी समुद्र-तट पर पहुंच जाते हैं। जहां के निवासी उनके माता-पिता थे। यही नहीं, ये उस समुद्र तट पर पहुंचने के अनन्तर वहां से नदियों, झीलों और तालाबों में भी पहुंच जाते हैं। फलतः धीरे-धीरे इन सब स्थानों पर ईलें बस जाती हैं। यह आश्चर्य की बात है कि कभी भी कोई अमरीका देश की ईल यूरोप में नहीं पकड़ी गयी, और न यूरोप देश की ईल अमरीका में। बरम्यूडा से यूरोप अधिक दूर है, और अमरीका कम। इस दूरी का ध्यान रखते हुए प्रकृति में ऐसा नियंत्रण है कि यूरोप की ईल, अमरीका वाली ईल की अपेक्षा प्रौढ़ होने में एक वर्ष के लगभग अधिक समय भी लेती है, जिससे वह इतनी लंबी यात्रा करने में समर्थ भी हो सके। अब आप सोचिए तो कि ईलों को अपना स्वदेश पहिचान लेने और स्वदेश की ओर वापस लौटने की प्रेरणा देने वाली मेधा कहां से आयी!!

ततैये का एक उदारहण लीजिये। ततैया टिड्डी को अपने वश में कर लेता है, और फिर टिड्डी के शरीर में ऐसे स्थल पर डंक मारता है, कि टिड्डी मूर्च्छित तो हो जाती है, पर मरती नहीं। इस मूर्च्छित टिड्डी को ततैया भूमि में छेद करके दबा देता है। इस प्रकार जीवित (किंतु मूर्च्छित) टिड्डी का शरीर सुरक्षित मांस से रूप में बना रहता है। इसके बाद ही ततैया टिड्डी के समीप ही ऐसे स्थल पर अंडे देता है, कि जब इनमें से बच्चे निकलें, तो टिड्डे को बिना मारे ही उसके मूर्च्छित शरीर में से पोषण प्राप्त करते रहें। मृतमांस का सेवन इन बच्चों के जीवन के लिए घातक है। अण्डे देने के अनंतर ही मादा ततैया उड़ जाती है और मर जाती है। वह कभी अपने नवजात बच्चों का मुंह भी नहीं देख पाती। ये बच्चे अपनी बारी में आगे चलकर स्वयं भी ऐसा ही करते हैं। इन्हें ऐसा करना कौन सिखाता है? सभी ततैये अपने जीवन में ऐसा एक ही बार करते हैं। परिस्थितियों में ऐसी शिक्षण की सामर्थ्य नहीं है। ऐसी मेधा अथवा ऐसी प्रेरणा ये जंतु किसी

अन्य उदार कल्याणकारी सत्ता से ही प्राप्त करते होंगे!

चौथा तर्क–प्राकृतिक मेधा के अतिरिक्त मनुष्य में एक और क्षमता है, वह है मनन या तर्क की।

ऋचा में कहा है–"यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपामते तया मेधया मेधाविनं कुरु।" अर्थात् मनुष्य का काम उस मेधा से नहीं चल सकता जो मेधा प्राकृतिक रूप में अन्य प्राणियों को प्राप्त है, उसे तो वह विशेष मेधा चाहिए जो देवताओं और पितरों, पूर्वजों एवं विद्वत् पुरुषों को प्राप्त थी। जंतुओं के संबंध में ऐसा कोई भी प्रमाण या उल्लेख नहीं मिलता, कि वे दस की संख्या भी गिन सकें, अथवा इस की भावना क्या है, इससे परिचित हों। प्राकृतिक मेधा तो वीणा के एक स्वर के समान है, बड़ी मोहक किंतु फिर भी सीमित। पर मनुष्य के मस्तिष्क में वाद्यों के समस्त समवेत स्वयं है। इस सत्य को प्रमाणित करने का उदाहरण देना व्यर्थ है। यह सौभाग्य मनुष्य को ही प्राप्त है, कि वह तर्क कर सके। मनुष्य ही मनीषी है, उसकी क्षमतायें समस्त पशुओं से निराली है। पशु एक-एक स्वर को विशेषता रखता है, पर उसमें सभी स्वरों को समवेत भकृत करने की क्षमता है। उसमें उस महान् चेतन सत्ता की मेधा का एक स्फुलिंग प्राप्त है, जो मेधा समस्त विश्व में व्याप्त है। उस परम मेधावी से ही हम अपनी इस मेधा को प्रेरित करने की याचना करते रहते हैं।

पांचवां तर्क–समस्त जीवन अपना पोषण कहां से प्राप्त करता है, यह बात आज हम जानते हैं, डार्विन के समय में यह रहस्य नहीं ज्ञात था। यह रहस्य निहित है **'जीनो'** में।

ये 'जीन' इतने सूक्ष्म हैं, कि अगर विश्व के समस्त जीवित व्यक्तियों के 'जीन' एक स्थल पर इकट्ठे कर लिये जायं तो वे सब एक अंगुष्ठमात्र देश भी नहीं घेरेंगे। ये 'जीन' और उनके साथी 'क्रोमोसोम' समस्त मनुष्यों, अन्य प्राणियों एवं वनस्पतियों की प्रत्येक जीवित कोशिका में होते हैं, और उनमें ही प्रत्येक प्राणी एवं वनस्पति की विशिष्टतायें निहित हैं। इस समय भूमण्डल में दो अरब मनुष्य रहते हैं। इन सब पुरुषों की समय विशेषतायें समावेश करने वाले 'जीन' अंगुष्ठमात्र से भी कम स्थान घेरें, तो इससे बढ़कर चमत्कार हो ही क्या सकता है। इन 'जीनों' में समस्त पुरुषों के पुरखाओं का इतिहास भी निहित है। सृष्टि के आदि से लेकर के आज तक की परंपरा और आगे आने वाली पीढ़ियों का इतिवृत्त इस सूक्ष्मता से इन जीनों में सुरक्षित है, इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य हो सकता है। समस्त मनोवृत्तियों का भंडार ये सूक्ष्म 'जीन' ही हैं।

छोटी-छोटी कोशिकाओं में 'जीन' रहते हैं, और इन्हीं कोशिकाओं में विकास प्रारंभ होता है। कुछ लाख परमाणुओं के योग से बने हुए इन 'जीनों' के भीतर भूमण्डल के समस्त जीवन का वृत्त परमचेतन सृष्टा के अतिरिक्त और कौन संकलित कर सकता था! इस वैचित्र्य की व्याख्या बिना इस प्रकार की सत्ता को माने हुए करना असंभव है।

छठा तर्क–प्रकृति में इतनी मितव्ययिता है, कि हमें यह मानना ही पड़ता है, कि इसका विधान रचने वाली सत्ता में अनंत बुद्धिमत्ता है, त्रिकालज्ञ सर्वज्ञसत्ता ही समस्य प्राणियों की आवशकताओं की पूर्ति करने की व्यवस्था करने में समर्थ हो सकती थी।

कई वर्ष हुए, आस्ट्रेलिया में सरंक्षी बाड़े के तैयार करने के लिए एक विशेष जाति की नागफनी (कैक्टस) का उपयोग किया गया। आस्ट्रेलिया में कोई शत्रु-कीट न था, अतः यह नागफनी खूब पनपी। यह इतनी फैल गयी, कि इंगलैण्ड के बराबर का लंबा-चौड़ा क्षेत्र इससे आवृत्त हो गया। इसकी बाढ़ से खेतों को हानि पहुंचने लगी, और मनुष्य की आबादी के लिए एक विपदा आरंभ हो गयी। कीटाणु विज्ञान-वेत्ताओं को चिंता हुई। फलतः उन्होंने एक ऐसे कीट का पता लगा लिया, जो नागफनी (कैक्टस) को छोड़कर और कुछ खाता ही न था। यह मुक्त रूप से अण्डे देता था, और आस्ट्रेलिया में इसके कोई शत्रु भी न थे। इस कीट ने नागफनी की प्रगति पर विजय प्राप्त की। ज्यों ज्यों नागफनी की उपज कम होती गयी, इस कीट की संख्या कम होती गयी क्योंकि नागफनी ही एकमात्र इसका पोषण था। इस प्रकार नागफनी और उसका भक्षण करने वाले कीट दोनों का ही नियंत्रण हो गया।

इस प्रकार के सर्वतोमुखी नियंत्रण प्रकृति में सर्वत्र पाये जाते हैं। आज सोचिए तो कि कीट जिनके प्रजनन की गति बड़ी उग्र है, अब तक इतने क्यों नहीं पैदा हो गये, कि आज भूमण्डल पर वे ही दीखते। बात स्पष्ट है। ऐसा इसलिए नहीं हुआ कि इन कीटों के शरीरों में मनुष्य के शरीर जैसे फुफ्फस या फेफड़े नहीं हैं। वे नलिकाओं द्वारा श्वास लेते हैं। जब कीड़े बड़े होने लगते हैं, तो उनके शरीर के अनुपात में ही ये नालिकायें बड़ी नहीं होतीं। इसीलिए कभी कोई कीड़ा बड़े आकार का नहीं बन पाता, इससे पहले ही मर जाता है। इस व्यवधान द्वारा ही कीड़ों की भरमार से हम बच सके हैं। काश कोई कीड़ा भी सिंह के आकार का होता, तो हमारी पृथ्वी मनुष्य के रहने योग्य कैसे बन पाती?

सातवां तर्क–ईश्वर की कल्पना मनुष्य कर सकता है, यह तथ्य ही ईश्वर

के अस्तित्व में प्रमाण है।

हम ईश्वर की कल्पना करने में क्यों समर्थ हुए? इसीलिए कि मनुष्य में 'कल्पना' करने की क्षमता है। ऐसी क्षमता अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलती। 'कल्पना' का अर्थ है, 'अदृष्टो' की प्रमाणिकता। मनुष्य में ही कल्पना करने की क्षमता है अर्थात् जो प्रत्यक्ष नहीं है, उसकी प्रमाणिकता मनुष्य को अपनी इस विशिष्ट क्षमता द्वारा अनुभूत होती है। मनुष्य में कल्पना की क्षमता कितनी विद्यमान है, इसकी सीमा नहीं है। कल्पना द्वारा वह ऐसे तथ्यों का अनुभव कर सकता है, जो अन्यथा असंभव थे। ज्यों-ज्यों मनुष्य अपनी कल्पना को विकसित करता जायगा, उसे उतना ही अधिक इस सृष्टि में कलापूर्ण रचना की सर्वव्यापकता और प्रत्येक पद पर महान् लक्ष्य या उद्देश्य की विद्यमानता स्पष्ट होती जायगी। उसे सर्वत्र ही स्वर्ग का साम्राज्य दृष्टिगत होगा। वह इस अनुभूति से विभोर हो उठेगा कि ईश्वर सर्वत्र ही विराजमान है, और उसका अस्तित्व सबके भीतर-बाहर है 'तदन्तरस्य सर्वस्यनदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'' और हमारी अपेक्षा से जितना निकट अपने ही हृदय में है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं उपनिषद् के शब्दों में–

ऋतं पिवन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहा प्रविष्टो परमे परार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥ (कठ)

यह समस्य सृष्टि उस एक परमशक्ति की ही दिव्य रचना है, जो पुरानी होती हुई भी नित्य नूतन है–देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यते।

अंतरिक्ष रसायन*

डॉ. रमेशचन्द्र कपूर

ब्रह्मांड की रासायनिक संरचना एंव उत्पत्ति के गणना संबंधी विज्ञान को हम **'अंतरिक्ष रसायन'** कह सकते हैं। इस विज्ञान द्वारा तत्वों तथा परमाणु नाभिकों की उत्पत्ति क्रिया तथा उनकी वर्तमान उपस्थिति का ज्ञान होता है। वर्णक्रममापी यंत्रों (Spectroscope) के द्वारा सूर्य तथा अन्य नक्षत्रों के प्रकाशों के विश्लेषण द्वारा यह ज्ञान प्राप्त होता है। उल्काओं का विश्लेषण भी इसमें उपयोगी हुआ है। ग्रहों के निर्माण की रासायनिक क्रियाएं, उनके वायुमंडल तथा उल्काओं की जानकारी के लिए इस विज्ञान का अध्ययन आवश्यक है। हमारी पृथ्वी पर अंतरिक्ष-रसायन तथा भूगर्भ-रसायन (Geochemistry) की सीमायें मिलती हैं। इस संधि के द्वारा पृथ्वी की बनावट तथा विकास का ज्ञान प्राप्त हुआ है।

अंतरिक्ष-रसायन का सबसे आवश्यक अङ्ग है वर्णक्रममापी रसायन विश्लेषण (Spectrochemical analysis) सर्वप्रथम इसके द्वारा तत्वों को उपस्थिति का ज्ञान प्राप्त किया गया। तत्पश्चात् उनकी मात्राओं का सूक्ष्मता के साथ ज्ञान प्राप्त करने में इससे सहायता ली गई। पृथ्वी से बाह्य जगत् के द्रव का वैश्लेषिक ज्ञान प्राप्त करने में प्रकाश वर्णक्रमापन का सर्वश्रेष्ठ स्थान है, क्योंकि नक्षत्रों के प्रकाश विश्लेषण द्वारा ही उसके तत्वों का ज्ञान मिलता है। इसके अतिरिक्त उल्काओं का विश्लेषण भी वर्णक्रममापी यंत्रों द्वारा हो रहा है। उल्कायें ही बाह्य जगत् की प्रतिनिधि हैं जिनकी जांच प्रयोगशाला में की जा सकती है। यह ध्यान देने योग्य है कि उल्काओं की ओसत बनावट द्वारा हम सौर-परिवार तथा कुछ अन्य नक्षत्रों में उपस्थित तत्त्व तथा यौगिकों की कल्पना कर सकते हैं।

---

* विज्ञान, मार्च 1964

बहुत काल तक उल्काओं में उपस्थित यौगिकों की मात्रा सामान्य रासायनिक क्रियाओं द्वारा हुआ करती थी। सहस्रों उल्काओं के विश्लेषण इसी प्रकार किये गये जिनसे यह ज्ञात हुआ कि उनमें उपस्थित यौगिकों की प्रतिशत मात्रा में बहुत अंतर रहता है। यह अंतर कई हजार गुना तक पाया गया। इस कारण इन यौगिकों की मात्राओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अत्यधिक उल्काओं के विश्लेषण आवश्यक हो गये।

इसके विपरीत वर्णक्रममापी यंत्र के प्रयोगों द्वारा प्राप्त प्रतिशत मात्राएं काफी हद तक समान पाई गईं। उदाहरणार्थ स्कैंडियम (Sc) को लीजिए। 21 उल्काओं के विश्लेषण द्वारा प्राप्त इस तत्व की प्रतिशत मात्रा असाधारणतः समान पाई गई। यही नहीं, लीथियम, रुबीडियम, स्ट्रांशियम, बेरियम, जिर्कोनियम आदि तत्वों की प्रतिशत मात्राएं भी समान मिलती, यद्यपि ये मात्राएं अत्यंत सूक्ष्म थीं। इन प्रयोगों द्वारा पृथ्वी तथा उल्काओं की उत्पत्ति की जानकारी में बहुत सहायता मिली है। वर्णक्रमलेखी की उपयोगिता का यह एक ज्वलंत उदाहरण है। इससे तत्वों की वर्तमान तथा पुरातन स्थितियों पर प्रकाश पड़ा है।

सामान्य रासायनिक क्रियाओं तथा वर्णक्रममापी प्रयोगों में इतने अंतर का क्या कारण हो सकता है? सूक्ष्म मात्रा में उपस्थित यौगिकों के सामान्य विश्लेषण करते समय मात्रा के प्रयोग की यथार्थता पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इसी कारण सामान्य क्रियाओं द्वारा प्राप्त परिणाम इतने विभिन्न रहते हैं।

अनेक वर्षों से सूर्य तथा नक्षत्रों में उपस्थित तत्वों की मात्रा प्राप्त करने के प्रयोग किये जा रहे हैं। यह प्रयोग वर्णक्रममापी यंत्रों द्वारा ही होते हैं जिनमें प्रत्येक तत्व की उपस्थिति अवशोषण-पट्ट की चौड़ाई द्वारा ज्ञात की गई है। इनसे यह ज्ञात हुआ है कि हाइड्रोजन, हीलियम, कार्बन, मैगनीसियम, सिलिकन, कैलसियम तथा सोडियम समुचित मात्राओं में नक्षत्रों में उपस्थित हैं। इसके अतिरिक्त गंधक, पौटेशियम, स्कैंडियम, टाइटेनियम, बैनेडियम, क्रोमियम, मैंगनीज, लोहा, कोबाल्ट, निकेल, ताम्र तथा यशद भी विभिन्न मात्राओं में वर्तमान हैं। कार्बन के 12 और 13 द्रव्यमान वाले समस्थानिकों की मात्रा में लगभग 25 गुने का अंतर है। प्रसिद्ध भौतिकज्ञ **एनरिको फर्मी** का मत था कि आरंभ में इनमें केवल तीन गुना अंतर रहा होगा परंतु कालांतर में कार्बन 13 समस्थानिक प्रोटान से अभिक्रिया करके नाइट्रोजन 14 में परिणत होता रहा।

सूर्य—एक परिचय*

कुलदीप चड्ढा

जिस प्रकार इस संसार में अनेक आकार-प्रकार के जीव-जंतु विचरते हैं उसी प्रकार स्रष्टा की विशाल सृष्टि, ब्रह्माण्ड में अनेक आकार-प्रकार के व्योम-पिंड विहार करते हैं। जहां एक ओर लाखों-करोड़ों मील व्यास के विशालकाय नक्षत्र हैं, वहीं इंच अथवा सेंटीमीटर के परिमाण से छोटी क्षुद्र उल्काएं भी अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती हैं—स्वेच्छा से विहार करने वाले अणु-परमाणुओं की भी अलग ही बिरादरी है।

जीव जंतुओं की ही भांति ये व्योमविहारी भी विशाल ब्राह्मण्ड के प्रांगण में, आपस में गुट बनाकर निवास करते हैं। हमारी मानवी परिभाषा में ये गुट परिवार, नगर, प्रदेश, राष्ट्र आदि की छोटी-बड़ी इकाइयों में परिगणित होते हैं। ब्रह्माण्ड के व्योम-विहारियों के गुट भी कुछ इसी प्रकार के छोटे-मोटे वृंदों में बंधे हैं। इस सभी समुच्चय को हम ब्रह्माण्ड का नाम देते हैं। ज्योतिर्विदों की गणना के अनुसार इस ब्राह्मण्ड में लगभग 23 करोड़ नीहारिकाएं हैं। नीहारिकाएं लाखों-करोड़ों नक्षत्रों की समुच्चय हैं और वे ब्राह्मण्ड में ठीक उसी प्रकार बिखरी हुई हैं जैसे कि आकाश में तारे। इन नीहारिकाओं के आयामों का परिचय हम अपनी नीहारिका की पैमाइश प्रस्तुत करके ही करेंगे। दूर से देखने पर यह नीहारिका एक तश्तरी की भांति दिखाई देती है, जिसका मध्यवर्ती उभार ऊपर-नीचे दोनों दिशाओं में एक-सा है। इस तश्तरी की लम्बाई लगभग 100,000 प्रकाश वर्ष (light years) है और बीच के उभार की मोटाई 20,000 प्रकाश वर्ष है।

---

* विज्ञान, मई 1964

कहना न होगा कि प्रकाश वर्ष समय की नहीं, अंतर की इकाई है। वास्तव में सापेक्षवाद के देशकाल के सातात्य में प्रकाश की गति की स्थिरता के कारण, अंतर और समय में सीधा संबंध है। प्रकाश की किरणें एक सेकेंड में 186,000 मील का अंतर तय करती हैं अर्थात् 3 लाख किलोमीठर का। इस हिसाब से एक वर्ष की अवधि में प्रकाश की किरणें लगभग 60,00,00,00,00,000 मील का अंतर तय कर लेंगी। वास्तव में ग्रह-नक्षत्रों के अंतर इतने विशाल हैं कि उन्हें मीलों में प्रकट करते-करते लेखनी थक जाती है। उदाहरण के लिए आप उक्त अंतर को देखें। ऐसे क्या, इससे हज़ारों लाखों गुने बड़े अंतरों का नक्षत्र-विद्या में प्रायः ही हवाला देना पड़ता है। अतः शून्यों से लवालब संख्याएं लिखने के स्थान पर इकाई का बदल देना एक विलक्षण सूझ थी। अस्तु।

100,000 प्रकाश वर्ष लंबी नीहारिका में, पदार्थ समान रूप से वितरित न होकर सर्पिल के रूप में फैला हुआ है। इस रूप का कारण यह भी है कि यह नीहारिका एक लट्टू की भांति घूम रही है, अपने अक्ष के गिर्द। इस परिभ्रमण (Rotation) का एक चक्कर कोई 25 करोड़ वर्षों में पूरा होता है। इससे शायद यह प्रतीत हो कि इस प्रकार तो परिभ्रमण की गति बहुत मंथर होगी पर वास्तव में रेखागत चलन का परिमाण, नीहारिका के अक्ष से दूरी के साथ तीव्रता से बढ़ता जाता है और चूंकि नीहारिका का व्यास हजारों आलोक वर्ष है, अधिकांश पिंड तो घंटे भर में लाखों-करोड़ों मील की दूरी तय करते होंगे।

इस प्रकार के परिभ्रमण में व्यस्त हमारी नीहारिका में अनेक रंग-रूप के पदार्थ हैं।

सबसे अधिक प्रकट रूप तो है उन विशालकाय पिंडों का, जो अपनी ज्योति से चमकते हैं। तारक अथवा नक्षत्र कहलाने वाले इन ज्योति पूञ्जों की हमारी नीहारिका में संख्या का अनुमान दस अरब है।

हमारा सूर्य भी इन दस अरब नक्षत्रों में एक है।

इस प्रकार, नीहारिका एक बड़े परिवार का रूप है, जिसके प्रमुख सदस्य ये नक्षत्र हैं। इसीलिये नीहरिका को तारक पुञ्च (Galaxy) या विश्व (Universe) भी कहा जाता है।

इन अरबों नक्षत्रों में से प्रायः प्रत्येक स्वयं में एक छोटा-सा विश्व—एक छोटा-सा परिवार है। इस स्थल पर भी हम उदाहरण अपने सूर्य का ही लेंगे।

हमारी नीहारिका में सूर्य की स्थिति, नीहारिका के अक्ष से कोई 30,000 प्रकाश वर्ष हट कर है। इस अंतर के कारण अक्ष के गिर्द घूम रही इस नीहारिका में हमारे सूर्य की गति, घंटे भर में कोई 6¼ लाख मील है।

नीहारिका की भांति, सूर्य, स्वतन्त्र रूप से भी अपने अक्ष के गिर्द घूम रहा है। वास्तव में सूर्य न तो एक ठोस पदार्थ ही है और न उसका समूचा शरीर ही एक गति में इस परिभ्रमण में रत है। धरती से देखने पर सूर्य की मध्य रेखा इस चक्कर को 27 दिन में पूरा करती प्रतीत होती है। ज्यों-ज्यों हम अपना ध्यान सूर्य के ध्रुव प्रदेशों की ओर सरकाते जावें, परिभ्रमण अवधि धीरे-धीरे बढ़ती जावेगी। ध्रुवों के निकट पूरा चक्कर लगभग 37 दिनों में पूरा होता है।

ऐडम्ज नामक विज्ञ ने अपने अवलोकनों के आधार पर प्रकट किया कि सूर्य की परिभ्रमण गति केवल मध्य रेखा से दूरी पर ही निर्भर नहीं करती, प्रत्युत गहराई पर भी। उन्होंने अपनी गणनाएं, पूरा चक्कर लगाने की अवधि के स्थान पर, प्रतिदिन की कोणीय गति (Angular Velocity) के आधार पर दी हैं। उदाहरण के तौर पर, सूर्य की मध्य रेखा पर, सूर्य की ऊपरी सतहों की कोणीय गति 15^0 है और 30^0 अक्षांश पर 14.6^0। इसकी तुलना में सूर्य कलंकों की गइराई में यह गति 14.4 और 13.7^0 है।

इस नक्षत्र, सूर्य, का व्यास कोई 864000 मील है अर्थात् लगभग 1400000 किलोमीटर। इसमें पदार्थ की मात्रा का भार धरती की अपेक्षा कोई सवा तीन लाख गुना अधिक है। गणित की पद्धति से इसे 50×10^{20} मन में व्यक्त कर सकते हैं।

पीले सफेद प्रकाश में चमकने वाले इस सूर्य के गिर्द कुछ छोटे आकार के 9 पिण्ड चक्कर काटते हैं। ये पिंड स्वयं प्रकाशित नहीं, प्रत्युत वे सूर्य के प्रकाश की तापशक्ति ग्रहण करके, अपने सारे व्यापार पूरे कर पाते हैं। इसलिए इन्हें ग्रह (Planets) कहते हैं। हमारी पृथ्वी भी इन 9 ग्रहों में गिनी जाती है। पृथ्वी के अतिरिक्त सूर्य की परिक्रमा करने वाले ग्रहों के नाम हैं—बुध (Mercury), शुक्र (Venus), मंगल (Mars), बृहस्पति (Jupiter), शनि (Saturn), वारुणि (Uranus), वरुण (Neptune) और प्लूटो।

इन ग्रहों में से, पृथ्वी समेत अनेक ग्रहों के गिर्द उपग्रह घूमते हैं। हमारी पृथ्वी का उपग्रह चंद्रमा है। इन उपग्रहों, ग्रहों और सूर्य को मिलाकर जो छोटा-सा परिवार बनता है, उसे सौर-मंडल (Solar system) कहते हैं।

हमानी पृथ्वी इस मंडल की मंझोली-सी सदस्या है। आकार में यह सभी ग्रहों के आकार के प्रायः बीचोंबीच है और इसका सूर्य से अंतर भी सब ग्रहों के अंतरों से लगभग बीचोंबीच है। इस अंतर का परिमाण है 93000000 मील अथवा लगभग 14900000 किलोमीटर।

इस प्रकार सूर्य विशाल ब्राह्मण्ड की संख्यातीत नीहारिकाओं में से एक का सदस्य है–वहां भी अरबों तारों में वह एक है। दूसरी ओर इसके गिर्द अनेक ग्रह, अपने उपग्रहों समेत चक्कर काटते हैं।

यह सब जान लेने के बाद, आइये स्वयं सूर्य के बारे में कुछ विस्तार से चर्चा करें।

सूर्य का प्रत्यक्ष भाग अर्थात् उसका धरातल, प्रभा-मण्डल (Photosphere) कहलाता है। पर जिस प्रकार हमारी पृथ्वी के चारों ओर वायुमंडल के रूप में हवा का सागर है, वैसे ही सूर्य के गिर्द भी तप्त वायुओं का मंडल है। इस मंडल के दो भाग हैं–वायु मंडल का निचला भाग वर्णमण्डल (Chromosphere) कहलाता है। इसकी ऊंचाई लगभग 10 हजार किलोमीटर है। वायुमण्डल का बाहरी भाग किरीट (Corona) कहलाता है। जहां वर्णमण्डल प्रभामण्डल के चारों ओर लगभग समान मोटाई का क्षेत्र है, वहां किरीट अनिश्चित अथवा कम निश्चित आकार का क्षेत्र है।

दूर से देखने में हमें सूर्य का प्रभामण्डल सुनहरी थाल के रूप में दिखाई देता है। पर निकट से देखने पर यह सौम्य रूप कुछ विकारों से आच्छादित प्रकट होता है। जब सूर्य के धरातल का सूक्ष्म निरीक्षण किया गया तो प्रभामण्डल का रूप दानेदार-सा प्रकट हुआ। इस रूप के अंशों अर्थात् दोनों को कणिकाएं (Granules) कहते हैं।

कभी-कभी इन कणिकाओं में एक विलक्षण-सी उज्जवलता निकलती है जिसे उज्ज्वाला (Flare) कहते हैं। इन्हीं उज्जवल क्षेत्रों में कुछ समय बाद गहरा काला क्षेत्र प्रकट होता है जो उज्जवालाओं की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्टतया दिखाई देता है। इस क्षेत्र का ही नाम सूर्य-कंलक (Sunspot) है। सूर्य-कलंकों के लोप होने के बाद भी संबद्ध क्षेत्र में कुछ समय तक उज्जवालाएं बनी रहती है।

सूर्य-कलंकों के पड़ोस में एक अन्य प्रकार का भी प्रकाश-खण्ड दृष्टिगोचर होता है, जिसे **फैकुले** कहते हैं। यदि उज्जवाला का रूप बिजली की कौंध के तुल्य है, तो **फैकुले** का छोटे-छोटे मेघ-खण्डों के तुल्य है। इन्हें प्लेज (Plage) भी कहते हैं। फैकुले के संगठन तत्वों को फ्लॉकुली (Flocculi) कहा जाता है।

जिस समय उज्जवालाएं प्रकट होती हैं उस समय सूर्य के सिरों पर प्रायः गहरी लाल वन्हियां (Prominences) भी देखी जा सकती है। जिस समय ये वन्हियां सूर्य के सिरे पर दिखाई देने के स्थान पर सूर्य के प्रमुख बिंब पर प्रकट होती है तो इनका रूप गहरे-भूरे नागों का-सा होता है। इस दशा में इन्हें तन्तुक (Filaments) कहा जाता है।

जब सौर-वन्हियां अत्यन्त विशाल वेग से प्रकट होती है तो इन्हें प्रस्फोट-वन्हियां (Eruptive Prominences) कहा जाता है।

सूर्य तथा अन्य ज्योतित पिण्डों की जानकारी उनसे निकलने वाले प्रकाश के विश्लेषण द्वारा प्राप्त होती है। प्रत्येक पदार्थ गर्म होने पर कुछ विशेष रंगों का प्रकाश देता है। यह प्रकाश पदार्थ के तापमान तथा दाब आदि भौतिक परिस्थितियों के साथ बदलता रहता है। किसी विशिष्ट अवस्था में पदार्थ से निकलने वाले प्रकाश को पदार्थ का वर्णक्रम (Spectrum) कहते हैं।

पदार्थ के वर्णक्रम को जब विशेष यंत्रों की सहायता से फैलाया अथवा छितराया जाता है, तो विभिन्न रंग की किरणों का प्रभाव बारीक अथवा मोटी रेखाओं या फिर कुछ चौड़े पट्टों के रूप में प्रकट होता है। इसे रेखा-वर्णक्रम (Line-spectrum) अथवा पट्टवर्णाक्रम (Band-spectrum) कहा जाता है।

सम्भवतया पाठकों को ज्ञात ही हो, कि विभिन्न रंग का प्रकाश विभिन्न लंबाई की तरंगों के रूप में प्रकट किया जाता है। इस सन्दर्भ में रेखा वर्ण पट्ट में प्रकट होने वाली प्रकाश रेखाओं को विशेष तरंग दैर्घ्य के रूप में उल्लिखित किया जाता है।

डॉप्लर के सिद्धांत के अनुसार, जब प्रकार का स्रोत तीव्र गति से द्रष्टा की ओर अथवा विपरीत दिशा में प्रधावन करता हो तो उससे निकलने वाली प्रकाश की तरंगों की लंबाई बदल जाती है। इसी प्रकार जीमन नामक विज्ञ ने सिद्ध किया कि यदि प्रकाश का स्रोत, चुंबकीय क्षेत्र से घिरा हो तो भी मूल प्रकाश की तरंग दैर्घ्य (Wave-length) बदल जाएगी। इन दो तथा इस प्रकार के अन्य सिद्धांतों के आधार पर, सूर्य के विभिन्न भागों से भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में आने वाले प्रकाश के विश्लेषण से, सूर्य के कलेवर में उठने वाली उहापोह तथा विद्युतचुम्बीय परिवर्तनों का आभास मिल सकता है।

इसी प्रकार, जब प्रकाश किसी कम तापमान के क्षेत्र से गुजरता है तो उसमें से कुछ विशेष रंगों की किरणें सोख ली जाती हैं। सोखी जाने वाली किरणों का रंग कम तापमान के क्षेत्र की बनावट और भौतिक लक्षणों आदि पर निर्भर करता है। सूर्य के वर्णक्रम में इस प्रकार की अवशोषण रेखाओं को सर्वप्रथम फ्रानहीफ़र ने देखा था। उसी के नाम पर इन्हें "फ्रानहौफ़र रेखाएं" कहा जाता है। सूर्य के बारे में बहुत सी जानकारी इन्हीं फ्रानहौफर रेखाओं के अध्ययन द्वारा प्राप्त हुयी थी।

सूर्य का समूचा प्रकाश कम गहरे पीले रंग का है। जैसा कि ऊपर कहा

जा चुका है, सूर्य एक स्वतः प्रकाश्य पिंड है और निश्चित आकार-प्रकार के स्वतः प्रकाश्य आकाश पिंडों को नक्षत्र कहा जाता है। नक्षत्रों से निकलने वाले प्रकाश के आधार पर, ज्योति-र्विदों ने उनका वर्गीकरण किया है। इस वर्गीकारण के एक सिरे पर ऐसे विशालकाय नक्षत्र हैं, जिनकी आभा लाल रङ्ग की है। ऐसे नक्षत्रों को लाल-दानव (Reddemon) कहा जाता है। दूसरे सिरे पर अपेक्षतया छोटे कलेवर के नक्षत्र हैं, जिनका प्रकाश उज्ज्वल श्वेत आभा लिए है। ऐसे नक्षत्रों को श्वेतवामन (White-dwarfs) कहा जाता है।

सूर्य इन दोनों अतिगत स्थितियों के बीचों-बीच है और इसे पीत-वामन (Yellow-dwarf) कहा जाता है।

इसी पीत-वामन सूर्य के शरीर पर प्रकट होने वाले सूर्य-कलंकों का हम कुछ विस्तार से अध्ययन करेंगे। निस्सन्देह सूर्य के बारे में जो जानकारी ऊपर दी गई है, उसके अनेक अंश विज्ञ पाठकों को पहिले से ही ज्ञात होंगे। तो भी सूर्य-कलंकों का परिचय देने से पूर्व, सौर-विज्ञान पर एक विहंगम दृष्टिपात आवश्यक है, क्योंकि इस पृष्ठभूमि पर सूर्य-कलंक तथा संबद्ध व्यापारों को समझना अधिक सरल और युक्ति-युक्त होगा।

गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत*

डॉ. जयन्त विष्णु नार्लिकर

लगभग 3 सौ वर्ष पहले **न्यूटन** ने गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। किंवदंती है कि एक बार न्यूटन अपने बगीचे में बैठे हुए थे। अचानक उन्होंने देखा कि एक पेड़ से सेब टूट कर गिरा। यह एक साधारण सी घटना थी, किंतु इसने न्यूटन के दिमाग में हलचल मचा दी। वह बार-बार सोचते कि आखिर सेब जमीन पर क्यों गिरा? आखिरकार, उनकी समझ में यह आया कि सेब जमीन पर इसलिए गिरा कि पृथ्वी ने इसे अपनी ओर खींचा। न्यूटन ने यह सिद्धांत प्रस्तुत किया कि पृथ्वी केवल सेब को ही नहीं, बल्कि अपने चारों ओर की हर वस्तु को अपने ओर खींचती या आकर्षित करती है, यहां तक कि पृथ्वी, चंद्रमा, ग्रह और सूर्य को भी अपनी ओर खींचती है। इसी प्रकार न्यूटन ने यह भी प्रतिपादित किया कि हर पदार्थ या द्रव्य दूसरे पदार्थ को अपनी ओर खींचता है। न्यूटन ने पदार्थों के इस गुण या घटना का नाम गुरुत्वाकर्षण रखा।

अनुलोम वर्ग सिद्धांत

सेब की कहानी सत्य हो या न हो, किंतु इस बात में रंचमात्र संदेह नहीं कि गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत ने भौतिक विज्ञान के विकास में बड़ा काम किया। न्यूटन ने न केवल यह पता लगाया कि हर पदार्थ दूसरे पदार्थ को अपनी ओर खींचता है, बल्कि इसके लिए एक नियम भी निकाला जो 'अनुलोम वर्ग सिद्धांत' के नाम से विख्यात है, इससे न केवल सेब के जमीन पर गिरने की घटना का स्पष्टीकरण होता है, अपितु यह भी पता चलता है कि चंद्रमा पृथ्वी के चारों ओर क्यों घूमता

* विज्ञान, जून-जुलाई 1965

है और पृथ्वी तथा अन्य ग्रह सूर्य के चारों ओर क्यों घूमते हैं? न्यूटन से पहले **कैप्लर** ने ग्रहों की गति का विस्तृत अध्ययन किया था और अपने अनुभव के आधार पर कुछ नियम निकाले थे। न्यूटन के अनुलोम वर्ग नियम की पुष्टि की जा सकती है। इससे पता चलता है कि न्यूटन का सिद्धांत कितना उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। भौतिकी का मूल उद्देश्य यही है कि प्रकृति की जटिल घटनाओं को सरल नियमों से स्पष्ट किया जा सके। ग्रहों की गति के जिस जटिल प्रश्न को ग्रीक गणितज्ञ बहुत माथापच्ची करने के बाद भी नहीं समझ पाए थे, उन्हें न्यूटन के इस सरल नियम से समझा जा सकता है।

प्रकृति की अधिकांश घटनाओं को पदार्थों की पारस्परिक क्रिया के चार मूल नियमों से स्पष्ट किया जा सकता है। ये चार नियम हैं—गुरुत्वाकर्षण, विद्युत चुंबकीय बल, तीव्र पारस्परिक क्रिया और मंद पारस्परिक क्रिया। नाभिकीय (न्यूक्लियर) भौतिकी की शुरुआत होने पर तीव्र मंद पारस्परिक क्रियाओं या बलों का पता चला। इनका अध्ययन परमाणु को न्यूट्रान और इलेक्ट्रान आदि मूल कणों में विभक्त करके किया जाता है। अभी तक इनके बारे में अधिक पता नहीं है। भौतिकीविदों को अभी तक सबसे अधिक ज्ञान विद्युत चुंबकीय बल के बारे में है। इस बल के अनेक उदाहरण प्रतिदिन की घटनाओं में देखने को मिलते हैं। उदाहरण के लिये बिजली के यंत्र और बरसात में बिजली की कड़क को लीजिये। इन सब में विद्युत-चुंबकीय बल काम करता है। इसे **मैक्सवेल** के समीकारण से स्पष्ट किया जा सकता है।

सबसे कमजोर बल

गुरुत्वाकर्षण, विद्युत चुंबकीय बल, तीव्र परस्परक्रिया और मंद परस्पर क्रिया आदि चारों बलों से सबसे कमजोर बल गुरुत्वाकर्षण है। उदाहरण के लिये हाइड्रोजन परमाणु के दो मूल कणों इलेक्ट्रोन और प्रोटोन को लीजिए। इन दो कणों के बीच जो विद्युत बल है, वह इनके बीच के गुरुत्वाकर्षण से अरबों खरबों गुना अधिक है। अब प्रश्न उठता है कि यदि गुरुत्वाकर्षण इतना कमजोर बल है तो सबसे पहले इसका पता क्यों लगा। बात दरअसल यह है कि गुरुत्वाकर्षण में एक विशिष्ट गुण है, जो अन्य तीनों बलों में नहीं है।

उक्त गुण यह है कि गुरुत्वाकर्षण को खतम नहीं किया जा सकता। अगर गुरुत्वाकर्षण कहीं मौजद है तो यह हमेशा वहां रहेगा और आसपास के पदार्थों पर अपना प्रभाव डालेगा। किंतु विद्युत-चुंबकीय बलों के साथ ऐसा नहीं है। ये

बल किसी पदार्थ पर तभी असर डालते हैं जब उसमें विद्युत आवेश (चार्ज) हो। यदि पदार्थ के इस विद्युत आवेश को बराबर के विपरीत आवेश से उदासीन कर दिया जाये तो उक्त पदार्थ पर विद्युतचुंबकीय बल का कोई प्रभाव नहीं होगा। गुरुत्वाकर्षण से किसी पदार्थ को इस प्रकार प्रभावहीन नहीं किया जा सकता। यद्यपि गुरुत्वाकर्षण एक कमजोर बल है, किंतु अगर पदार्थ बड़ा या अधिक है तो गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव भी बढ़ जाता है। यदि पदार्थ पृथ्वी के बराबर या बड़ा है तो गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव भी बहुत चढ़ जाता है। चूंकि हमारे इर्द-गिर्द पृथ्वी, सूर्य और अन्य ग्रह है इसलिए हमें गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव को अनुभव करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

सूर्य में गुरुत्वाकर्षण

सूर्य जैसे विशाल पिंडों पर विचार करते समय गुरुत्वाकर्षण की समस्या कठिन हो जाती है। प्रश्न है कि इतने अधिक गुरुत्वाकर्षण के बावजूद सूर्य संतुलन में क्यों है? अगर सूर्य पर किसी अन्य बल की क्रिया न होती तो सूर्य का हर कण दूसरे कण को अपनी ओर खींचता और सूर्य में संकुचन होने लगता। अगर यह संकुचन बिना किसी रुकावट या प्रतिरोध के होता रहता है तो सूर्य का विशाल आकार चंद घंटों में बिंदु के बराबर हो जाता है। किंतु तथ्य यह है कि हम सूर्य को रोजाना उसी ही रूप में देखते हैं। इससे पता चलता है कि सूर्य के अंदर अन्य बल भी हैं जो गुरुत्वाकर्षण का प्रतिरोध करते हैं। आखिर ये बल क्या हैं? नाभिकीय (न्यूक्लियर) भौतिकी के प्रारंभ से पहिले ज्योतिर्विद इस विषय में कुछ नहीं जानते थे। अब यह समझा जाता है कि सूर्य के भीतर नाभिकीय प्रतिक्रियाएं हो रही हैं, जिनके कारण सूर्य पर हाइड्रोजन गैस हीलियम में बदलती रहती है। इस काम में बहुत अधिक ऊर्जा पैदा होती है, जिसके कारण सूर्य चमकता रहता है। इससे आंतरिक दबाव भी पैदा होता है जो गुरुत्वाकर्षण का विरोध करता है और फलस्वरूप सूर्य संतुलन में रहता है। इस प्रकार हमें ज्योतिष-शास्त्र की सहायता से गुरुत्वाकर्षण की एक मनोरजंक घटना का पता चलता है। पृथ्वी पर गुरुत्वाकर्षण अधिक नहीं है और इसका प्रभाव अन्य प्राकृतिक बलों से नष्ट हो जाता है।

विशिष्ट गुण

गुरुत्वाकर्षण के विशिष्ट गुण को समझने के लिए कल्पना कीजिये कि सूर्य जैसे दो नक्षत्रों को एक संवाही (कंडक्टिंग) तार से जोड़ा गया। पृथ्वी पर यदि हम एक

गर्म वस्तु को ठण्डी वस्तु से जोड़ देते हैं तो गर्म वस्तु की उष्मा ठण्डी वस्तु में जाने लगती है और गर्म वस्तु ठण्डी होने लगती है तथा ठण्डी वस्तु गर्म। इसी प्रकार अगर हम एक गर्म तार को ठण्डे तार से जोड़ दें तो गर्म तार की उष्मा ठण्डे तार को पहुंचनी शुरू हो जाएगी। इस प्रकार गर्म तार का दबाव कम होने लगेगा और यह अपने गुरुत्वाकर्षण के कारण सिकुड़ने लगेगा। किंतु जब यह सिकुड़ता है तो यह संपीडन (कम्प्रेशन) के कारण गर्म होने लगता है। इसी प्रकार ठण्डे तार का जब उष्मा मिलती है, तो इसका गुरुत्वाकर्षण कम हो जाता है और इसका आकार बढ़ने लगता है। किंतु आकार बढ़ने के कारण यह और ठण्डा होने लगता है। इस प्रकार हम देखते हैं गर्म तार और अधिक गर्म तथा ठण्डा तार और ज्यादा ठण्डा होने लगता है, जो कि पृथ्वी पर होने वाले व्यापार के बिल्कुल विपरीत है। इसका कारण यह है कि पृथ्वी में इतना गुरुत्वाकर्षण नहीं है, जितना कि तारों में।

यद्यपि न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत भौतिकी के विकास के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ, किंतु वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ से वैज्ञानिकों को इसमें त्रुटियां दिखाई देने लगीं। इसका कारण आइंस्टीन का आपेक्षता का विशेष सिद्धांत था। आइंस्टीन के इस सिद्धांत के कारण विज्ञान जगत् में क्रांति हो गयी। इससे पहले भौतिकीविद् निरपेक्ष दिक् (एब्सोल्यूट स्पेस) और निरपेक्ष काल (एब्सोल्यूट टाइम) के सिद्धांतों में विश्वास करते थे। आइंस्टीन के सिद्धांत से इस धारणा में आमूल परिवर्तन हुआ। उदाहरण के लिए 'क' और 'ख' दो व्यक्तियों को लीजिये। मान लीजिये कि इनकी गति एक दूसरे की सापेक्ष हो, तो इनके लिये दिक् और समय भिन्न होंगे। 'क' की घड़ी में कुछ और समय होगा और 'ख' की घड़ी में कुछ और। इसी प्रकार 'क' को जो चीज एक इंच लंबी लगती है, वह 'ख' को एक इंच नहीं लगेगी। शुरू में भौतिकीविदों ने आइंस्टीन के सिद्धांत का विरोध किया, किंतु बाद में उन्हें इसकी सत्यता माननी पड़ती।

सापेक्षता के सिद्धांत के अनुसार किसी भी वस्तु की गति प्रकाश से अधिक नहीं हो सकती। किंतु न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के नियम के अनुसार दो पदार्थों के बीच गुरुत्वाकर्षण तत्काल होता है और इसकी गति अपरिमित और अनंत होती है। इस प्रकार यदि किसी तरह सूर्य नष्ट हो जाये, तो इसके परिणामस्वरूप हमें गुरुत्वाकर्षण क्रिया का प्रभाव, सूर्य का दिखना बंद होने से पहले ही हो जाना चाहिए। यह बात सापेक्षता के सिद्धांत के विपरीत है। इससे पता चलता है कि न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत और सापेक्षता के सिद्धांत के बीच में कोई कड़ी नहीं होनी चाहिए।

इस कठिन काम को स्वयं आइंस्टीन ने 1915 में पूरा किया। उन्होंने गुरुत्वाकर्षण के नये सिद्धांत का प्रतिपादन किया, जो सापेक्षता के सिद्धांत के भी अनुरूप है और इसमें न्यूटन के सिद्धांत की तरह कोई त्रुटि भी नहीं है। इससे यह भी पता चलता है कि यदि गुरुत्वाकर्षण का बल अधिक नहीं है तो न्यूटन का सिद्धांत पूरी तौर से ठीक बैठता है। आइंस्टीन के इस सिद्धांत की चर्चा अगली बार की जायेगी।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गुरुत्वाकर्षण की खोज से आधुनिक भौतिकी की शुरुआत हुई। पृथ्वी और सौरमंडल में गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव को स्पष्ट करने में न्यूटन का सिद्धांत बहुत सफल रहा। अधिकांश व्यावहारिक कार्यों के लिये यह अब भी उपयुक्त है। इसमें परिवर्तन केवल इसलिये करना पड़ा कि यह 20 वीं शताब्दी के दिक्काल (स्पेस टाइम) के विचारों के अनुरूप नहीं बैठता था, जिनका जन्म आइंस्टीन के विशिष्ट सापेक्ष्ज्ञता सिद्धांत के कारण हुआ।

विपरीत पदार्थ की दुनिया*

अशोक कुमार चौबे

हमारे चारों ओर परमाणु विद्यमान है। यह कुछ मूल कणों का बना हुआ है। आजकल लगभग तीस प्रकार के मूल कणों की खोज की जा चुकी है। न्यूक्लीयर वैज्ञानिक इस बात के लिये प्रयत्नशील हैं कि जिस तरह रसायनशास्त्र में तत्त्वों का समावेश मैण्डलीफ की पीरियाडिक टेबिल में किया जा सकता है, उसी तरह ऐसा कोई सामान्य सिद्धांत बनाया जाए तो सभी मूल कणों को एक ही सूत्र में बांध सके।

ऐसे अनेक सामान्य सूत्र हैं जो सभी मूल कणों में एक संबंध स्थापित करते हैं। सबसे सरल सूत्र में मूल कणों को दो बड़े-बड़े भागों, में विभाजित किया गया है। एक भाग को कण तथा दूसरे को विपरीत कण कहते हैं। (प्रत्येक मूल कण का एक प्रतिबिंब कण होता है। इसे विपरीत कण कहते हैं। विपरीत कण अपने मूल कणों के समरूम होते हैं लेकिन गुणों में विपरीत होते हैं)। उदाहरणार्थ पाजिट्रान इलेक्ट्रान का विपरीत कण है। इसकी मात्रा इलेक्ट्रान के बराबर होती है। लेकिन यह धन आवेशयुक्त होता है जबकि इलेक्ट्रान ऋण आवेशयुक्त होता है। धन आवेशयुक्त होने के कारण यह गुणों में इलेक्ट्रान के विपरीत, अर्थात् उसका प्रतिबिंब होता है। पाजिट्रान की ही भांति एण्टी-प्रोटान तथा एण्टी-न्यूट्रान क्रमशः प्रोटान तथा न्यूट्रान के विपरीत कण हैं।

विपरीत कण स्वतंत्र अवस्था में नहीं मिलते

ये विपरीत कण प्रकृति में स्वतंत्र अवस्था में नहीं पाये जाते। विश्व के किसी भी भाग में इनका स्वतंत्र, मुक्त अवस्था में पाया जाना संभव नहीं है, क्योंकि

* विज्ञान लोक, नवम्बर 1965

जैसे ही विपरीत कण स्वतंत्र अवस्था में उत्पन्न होता है समीपस्थ अपने मूल कण से संयोग करके नष्ट हो जाता है। इस क्रिया में फोटान (प्रकाश ऊर्जा) उत्पन्न होते हैं। विपरीत कण के चारों ओर पदार्थ के मूल कणों की संख्या अधिक होने के कारण ये कण किसी न किसी मूल कण से संयोग करके नष्ट हो ही जाते हैं। अतः स्वतंत्र अवस्था में ये नहीं प्राप्त हो सकते।

मूल तथा विपरीत कणों की प्राप्ति का प्राकृतिक साधन कास्मिक किरणों में उच्च ऊर्जायुक्त प्रोटान तथा अन्य भारी कण होते हैं। जब कास्मिक किरणें वायुमण्डल में प्रवेश करती हुई पृथ्वी पर आ जाती है, तो वायुमण्डल में विभिन्न न्यूक्लीयर क्रियाओं को जन्म देती हैं। इन क्रियाओं में बहुत से मूल कणों के विपरीत कण भी होते हैं। इन कणों को इनके गुणों के अनुसार विभिन्न भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम फोटान है। दूसरा लैप्टान है; इसमें न्यूट्रिनो-एण्टी-न्यूट्रिनो, इलेक्ट्रान-पाजिट्रान, मेसान-एण्टी-मेसान आदि हलके कण होते हैं। तीसरे समूह में पाई-मेसान तथा के-मेसान आते हैं। इनके भी विपरीत कण होते हैं। इनके पश्चात् एक कण समूह होता है। इसे बेरियान कहते हैं। इस समूह के कण मात्रा में भारी होते हैं। ये न्यूट्रान, फोटान, हायपरान, इनके विपरीत कण आदि हैं। सिद्धांततः जितने विपरीत कणों को माना गया है, अभी तक उनके कणों के प्रमाण नहीं मिले हैं। वैज्ञानिकों ने एक्सीलेरेटर मशीनों का प्रयोग करके बहुत से विपरीत कणों का प्रयोगशाला में निर्माण किया है तथा सिद्धांततः प्रतिपादित कणों की सत्यता की पुष्टि की है।

हायपरान–एक संभावना

एण्टी-प्रोटान को प्राप्त करने के लिए एक्सीलेरेटर द्वारा प्रोटान को 2Bev ऊर्जा तक वेगवर्धित किया गया। वीवाट्रान का कार्य शुरू करने के बाद यह संभव हो गया कि प्रोटान को इतनी ऊर्जा दी जा सकेगी। **सीगरे** तथा उसके साथियों ने 1955 में एण्टी-प्रोटान का प्रयोगशाला में प्राप्त किया। इस प्रयोग में हजारों पाई-मेसान भी प्राप्त हुये। अतः समस्या यह आयी कि इतने पाई-मेसान के बीच किस प्रकार एण्टी-प्रोटान को प्राप्त किया जाय। चुंबकीय वीक्षों द्वारा एक विशेष संवेग में पाईमेसान तथा एण्टी-प्रोटान को अलग कर लिया गया। पाई-मेसान की गति प्रकाश की गति के बराबर थी तथा एण्टी-प्रोटान की गति प्रकाश की गति का 78 प्रतिशत। दो निश्चित दूरियों में लिया गया समय मालूम करके एण्टी-प्रोटान तथा पाई-मेसान को अलग किया गया। न्यूक्लीयर इमलशन विधि से भी

एण्टी-प्रोटान को देखा गया। यह पाया गया कि एण्टी-प्रोटान का पथ प्रोटान के पथ से बिलकुल विपरीत होता है।

प्रयोगशाला में एण्टी-प्रोटान प्राप्त करने के बाद प्रश्न यह उठा कि क्या एण्टी-न्यूट्रान भी प्राप्त किया जा सकता है। न्यूट्रान तथा एण्टी-न्यूट्रान को पृथक् करने के लिए, तीव्र प्रतिक्रियाओं का आश्रय लेना पड़ा, जैसे न्यूट्रान तथा प्रोटान का आपसी संघट्ट। एण्टी-न्यूट्रान की पुष्टि की गयी। यदि हम 7Bev ऊर्जा तक के कण प्राप्त कर सकें, तो एण्टी-हायपरान (एण्टी-लेम्बडा मेसान) को भी प्रयोगशाला में प्राप्त किया जा सकता है।

1934 से 1956 तक कण तथा विपरीत कण को प्राप्त करने के लिए प्रयोग होते रहे। न्यूट्रिनों को प्राप्त करने के लिए बहुत प्रयत्न किये गये। सूर्य तथा विभिन्न नक्षत्रों में भी प्रयत्न किये गये। नक्षत्रों आदि में बहुत न्यट्रिनो पाये जाते हैं। ये न्यूट्रिनो बिना किसी प्रतिक्रिया के संपूर्ण गैलेक्सी में से भी निकल जाते हैं। निम्नलिखित प्रकार की एक क्रिया का अध्ययन किया गया :

$$\nu + p \longrightarrow X + e^{+}$$
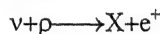
(न्यूट्रिनो) (प्रोटान) (न्यूट्रान) (पाजिट्रान)

क्रिया में भाग लेने वाले तथा प्राप्त होने वाले कणों की मात्रा से यह पता लगा कि यदि न्यूट्रान की ऊर्जा 3.5 Mev से अधिक हो तभी यह क्रिया संभव है।
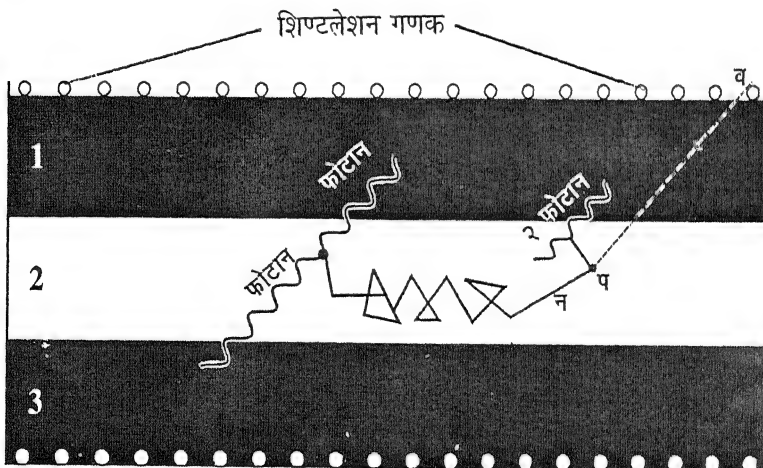
कैडमियम क्लोराइड में अवशोषित होने के बाद न्यूट्रान, फोटान निकालते हैं।

चित्र में एक प्रयोग दिखाया गया है जिसमें प्राप्त न्यूट्रिनो की पुष्टि की गयी है। उपकरण के भाग 1 तथा भाग 3 में द्रत शिण्टिलेटर भरा गया तथा भाग 2 में पानी और कैडमियम क्लोराइड का घोल। क्रियाकारकों से प्राप्त न्यूट्रिनो की एक धारा को इस उपकरण पर डाला गया। क्योंकि न्यूट्रिनो की संख्या बहुत अधिक थी, अतः न्यूट्रिनो तथा प्रोटान में क्रिया होने की संभावना भी अधिक थी। प्रोटान से क्रिया होने के बाद पाजिट्रान तथा न्यूट्रान प्राप्त हुये। पाजिट्रान, इलेक्ट्रान से संयोग करके 0.51 Mev ऊर्जा के दो फोटान उत्तपन्न करता है तथा न्यूटान भी कैडमियम क्लोराइड में शोषित होकर फोटान उत्पन्न करता है। न्यूट्रान के अवशोषित होने में कुछ समय भी लगता है, अतः कुछ समय पश्चात् उपकरण में ऊपर-नीचे लगे हुए शिण्टलेशन गणकों में विद्युत् तरंगें आने लगें, तब निश्चित है कि ये विद्युत् तरंगें न्यूट्रान द्वारा उत्पन्न फोटान से ही आ रही हैं। इस प्रकार न्यूट्रान के प्राप्त होने की पुष्टि हुई, लेकिन ये न्यूट्रान, न्यूट्रिनो की क्रिया से प्राप्त होते हैं, अतः यह सिद्ध हो गया कि क्रियाकारकों के आस-पास बहुत से न्यूट्रिनो प्राप्त होते हैं। ये विभिन्न न्यूक्लीयर क्रियाओं में उत्पन्न होते हैं।

विपरीत पदार्थ

पदार्थ के, न्यूक्लीयस में प्रोटान तथा न्यूट्रान होते हैं तथा उनके चारों ओर इलेक्ट्रान घूमते रहते हैं। यह भी संभव है कि पदार्थ का विपरीत पदार्थ भी हो, अर्थात् न्यूक्लीयस में एण्टी-प्रोटान तथा एण्टी-न्यूट्रान हों और पाजिट्रान उनके चारों ओर घूमते हों। भौतिक शास्त्री विपरीत पदार्थ की उपस्थिति को असंभव नहीं मानते। प्रकृति का कोई भी नियम विपरीत पदार्थ की उपस्थिति का खण्डन नहीं करता। वास्तव में विपरीत परमाणु, परमाणु की ही भांति स्थायी रह सकते हैं। पदार्थ तथा विपरीत पदार्थ आपस में संबंधी की भांति हैं। विपरीत पदार्थ की दुनिया में जहां परमाणु विपरीत कणों का बना होगा, वहां विपरीत पदार्थ की अधिकता होगी, जैसे पदार्थ की दुनिया में पदार्थ की अधिकता है और विपरीत पदार्थ बिलकुल नहीं। विपरीत दुनिया में प्रोटान तथा न्यूट्रान के स्थान पर इनके विपरीत कण होंगे। लेकिन फोटान के स्थान पर कोई और कण नहीं हो सकता, क्योंकि फोटान का विपरीत कण नहीं होता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पदार्थ के स्थान पर विपरीत पदार्थ आ जाने पर भी ऊर्जा में कोई अंतर नहीं आयेगा, अर्थात् ऊष्मा का रूप वही रहेगा। फोटान ऊर्जा के दोनों ही रूप (कण तथा विपरीत कण) प्रकट करता है।

एक क्रांतिकारी खोज की संभावना

वैज्ञानिकों की कल्पना के अनुसार यह संभव है कि विपरीत पदार्थ वाले सितारे अंतरिक्ष में विद्यमान हों, केवल तारे ही नहीं विपरीत पदार्थ की मंदाकिनियां भी संभव हैं। यदि विश्व में थोड़ा भी विपरीत पदार्थ प्राप्त हो जाय, तो वैज्ञानिक शीघ्र ही विपरीत पदार्थ को अधिक मात्रा में बनाने की विधि खोज निकालेंगे। यह खोज कणों की दुनिया में क्रांतिकारी सिद्ध होगी।

सुदूर अंतरिक्ष यात्राओं में विपरीत पदार्थ का उपयोग अधिक महत्त्वपूर्ण रहेगा। विज्ञान तथा यांत्रिकीय, दोनों के लिए सुदूर अंतरिक्ष यात्राएं बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन यात्राओं को पूर्ण करने के बारे में हम विचार कर सकते हैं। अंतरिक्ष यान की कार्य-प्रणाली क्या होगी? ऐसे अंतरिक्ष यान में पदार्थ तथा विपरीत पदार्थ, दोनों ही प्रयुक्त किये जायेंगे। पदार्थ तथा विपरीत पदार्थ, दोनों को ही पृथक्-पृथक् कक्षों में रखा जायेगा। यदि यान में रखा हुआ पदार्थ तथा विपरीत पदार्थ परिपक्व होने से पूर्व ही क्रिया करने लगे, तब पदार्थ और विपरीत पदार्थ नष्ट होकर ऊर्जा में परिणित हो जायेगा। यह ऊर्जा तथा विस्फोट हाइड्रोजन बम से कहीं अधिक शक्तिशाली होगा।

सामान्यतः कोयला ही ईधन के रूप में प्रयुक्त होता है। हम जानते हैं कि अच्छी किस्म के कोयले के एक किलोग्राम का पूर्णतः जलाने से लगभग 7 लाख कैलोरी उष्मा प्राप्त होती है। एक किलोग्राम न्यूक्लीयर ईंधन से लगभग दो हजार करोड़ कैलोरी उष्मा प्राप्त होती है। तापीय न्यूक्लीयर संयोग द्वारा और भी अधिक ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है। उदाहरणस्वरूप एक किलोग्राम हाइड्रोजन का समस्थानिक एक करोड़ पचास लाख करोड़ कैलोरी उष्मा उत्पन्न कर सकता है। लेकिन विपरीत पदार्थ को यदि ईंधन के रूप में प्रयुक्त किया जाय, तो उससे प्राप्त ऊर्जा हाइड्रोजन के समस्थानिक से प्राप्त ऊर्जा से कई गुना अधिक होगी। अनुमानतः एक किलोग्राम विपरीत पदार्थ के जलाने से लगभग इक्कीस करोड़ पचास लाख करोड़ कैलोरी उष्मा प्राप्त होगी। अभी तक वैज्ञानिक ऐसा तत्त्व नहीं प्राप्त कर सके हैं जो इतनी अधिक उष्मा को सह सके। इक्कीस करोड़ पचास लाख करोड़ कैलोरी से प्राप्त ताप पर कोई भी पदार्थ अपनी मूल अवस्था में नहीं रह सकता। अतः समस्या यह आयेगी कि इतनी अधिक ऊर्जा को किस रूप में एकत्र किया जाय और किस उपकरण में यह उष्मा रखी जाय। लेकिन इसके एकत्र करने की समस्या अभी तक सामने नहीं आयी है, क्योंकि इतने ताप की

ज्वाला प्राप्त नहीं हो सकती। वैज्ञानिकों का मत है कि पदार्थ तथा विपरीत पदार्थ कि क्रिया को सम्पन्न कराने के लिये एक कक्ष की आवश्यकता होगी जिसमें दोनों पदार्थ मिलकर संयोग कर सकेंगे। यह कक्ष विद्युत् चुंबकीय क्षेत्रों का हो सकता है। भौतिकशास्त्रियों ने गरम प्लाज्मा को जिसका तापक्रम लगभग एक करोड़ डिग्री के बराबर होता है, एकत्र करने के लिए चुंबकीय बोतलों तथा चुंबकीय बक्सों का प्रयोग किया है। पदार्थ तथा विपरीत पदार्थ से प्राप्त उष्मा के एकत्रीकरण के लिए भी इन बोतलों तथा बक्सों की ही भांति किसी कक्ष का उपयोग संभव हो सकता है। एक ओर से लोहे तथा दूसरी ओर से विपरीत लोहे की चुंबकीय पेटियों द्वारा पदार्थ तथा विपरीत पदार्थ दोनों को इस दाहक कक्ष में अंदर भेज दिया जायेगा। दहन क्रिया से पहले ही पदार्थ अपनी गैसीय अवस्था में आ जायेंगे तथा इनकी वाष्प क्रिया के लिए एक-दूसरे की ओर आगे बढ़ेंगी। इन विरोधी पदार्थों की क्रियाओं से असंख्य फोटान प्राप्त होंगे, तथा ये फोटान जब बाहर निकलेंगे, तो शून्य में प्रकाश की गति से चलेंगे। इस तरह प्राप्त फोटान की प्रतिक्रिया से एक इंजन लगभग प्रकाश की गति से चल सकेगा। यह उल्लेखनीय है कि फोटान का बाह्य गमन हजारों-लाखों किलोमीटर की दूरी से भी एक बहुत ही प्रकाशवान तारे की भांति मालूम पड़ेगा।

यहां तक तो सैद्धांतिक रूप से बात ठीक मालूम होती है, और ऐसा संभव भी है। लेकिन सबसे कठिन समस्या तो यह है कि किस प्रकार इस दहन क्रिया को रोका जाय, तथा इसे उपयोग में लाया जाए।

दर्पण की समस्या

वैज्ञानिकों की कल्पना है कि अंतरिक्ष यान में सबसे निचले हिस्से में चुंबकीय दहन कक्ष बनाया जायेगा। इस कक्ष से प्राप्त होने वाली प्रचण्ड ज्वाला तथा अंतरिक्ष-यान के बीच एक विशाला अतिपरवलय के रूप का दर्पण लगा होगा। यह दर्पण इस प्रकार लगाया जायेगा कि ज्वाला से प्राप्त सभी प्रकाश को पूर्ण रूप से परावर्तित कर सके। यह प्रकाश यान को गति देने के काम आयेगा। पदार्थ तथा विपरीत पदार्थ को इस दर्पण की नाभि पर रखा जायेगा, जिससे सभी प्रकाश परावर्तित हो सकें। दर्पण पर पड़ने वाला प्रकाश पुंज बहुत ही संकीर्ण होगा। जब फोटान बाहर अंतरिक्ष में निकलेंगे, तो इनके फैलाव से जो प्रतिबल लगेगा, वही इंजन को चलायेगा।

जो समस्या दहन कक्ष बनाने के समय सामने आयी थी, वही यहां भी उठ

खड़ी होती है। दर्पण किस पदार्थ का होना चाहिए? सिल्वर की परत वाले दर्पण तो आवर्तित प्रकाश का 98 प्रतिशत ही परावर्तित कर सकते हैं, शेष प्रकाश को शोषित कर लेते हैं। इन दर्पणों की परावर्तक क्षमता यदि बढ़ा दी जाय, तो भी जो प्रकाश अवशोषित होगा, इतना अधिक होगा कि प्रथम आयतन के समय ही वह दर्पण के पदार्थ को वाष्प में परिवर्तित कर देगा।

वैज्ञानिक इस दर्पण के लिए कोई उचित पदार्थ खोजने में लगे हुये हैं।

इसमें संदेह नहीं कि विपरीत पदार्थ की यह खोज और अंतरिक्ष यान में इसका उपयोग अद्‌भुत होगा। इसकी खोज के पश्चात् विपरीत पदार्थ का उपयोग करके सूर्य तथा उसके आस-पास के ग्रहों की ओर यान भेजे जा सकेंगे।

रिपोर्ताज

जीवविज्ञान की शिक्षा में क्रांति*

रमेशदत्त शर्मा, एम.एम-सी.

पचपन चुने गए।

पन्द्रह ने कोई जवाब नहीं दिया। दो बीमार हो गए। एक की मां की तबियत ठीक नहीं थी और एक घरेलू मामलों की वजह से नहीं आ सका।

हम कुल छत्तीस रह गए।

कुछ ने पढ़ाना शुरू ही किया है। ज्यादातर तीन से छह साल तक पढ़ा चुके हैं और एक सत्रह साल और एक तेईस साल के अनुभवी हैं। छह सात साल तक जो एक ही पाठ्यक्रम को दुहराते रहे हों, वह अब बदल नहीं सकते, आदी जो हो चुके। पुराना सब कुछ रटा पड़ा है, नया क्यों सीखें। इस उम्र में आकर कोई परिवर्तन हो यह उन्हें मान्य नहीं।

पर चमक उनकी आंखों में भी है। ललक उनमें भी कम नहीं। और हम, हम तो न जाने कबके उकताए हुए हैं। जब पढ़ते थे, तभी मन नहीं लगता था कि बैठे-बैठे मेढक की कशेरुकाएं रटें कि यह पहली, यह दूसरी, तीसरी, फिर सारे शरीर की हड्डियां याद करें, यह अल्ना, टिबिया-फैबुला, फीमर या फिर पत्तियों की शक्लें रटते फिरें कि एक्यूट, ग्लोबुलर, लैंसिओलेट, पामेट; पत्ती के सतह के ही पचास नाम तो होंगे ही। इस पर तुर्रा यह है कि कीड़े-मकोड़ों, केंचुओं, मेढक-खरगोश के बारे में तो हमें हाई स्कूल में ही पढ़ना पड़े, अपने बारे में कुछ नहीं जान सकते? प्रो. पी. महेश्वरी ने नयी बायोलोजी टेक्स्टबुक की भूमिका में ठीक ही लिखा है कि हमारे यहां की ज्यादातर पाठ्यपुस्तकें अपने समय से पचास-पचास साल तक पिछड़ी हुई हैं। प्रो. जौहरी ने तो यहां तक कह दिया था उस दिन की हाई स्कूल के बच्चों का

---

* विज्ञान जगत्, सितम्बर 1965

सारा समय अपरिचित भाषा की वैज्ञानिक शब्दाबली रटने में ही गुजर जाता है, बेचारे विषय को समझने का मौका ही नहीं पाते।

हम सब इन पिछड़ी हुई किताबों और रटाने की ओर अग्रसर करनेवाले पढ़ाई के घिसे-पिटे तरीकों के शिकार रहे थे। जब हमें खुद पढ़ाने का मौका मिला, तब तो हमें और भी कसमसाहट हुई कि आखिर यह सिलसिला कब खत्म होगा। इसलिए जब उस दिन हमने सुना कि 'शैक्षणिक अनुसंधान और प्रशिक्षण की राष्ट्रीय परिषद्' और 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' हमारे लिए ग्रीष्मकालीन प्रशिक्षण शालाएं खोल रहा है, तो हमारी बाछें खिल गईं। एक हरा पैम्फलेट हमें मिला—'विज्ञान और गणित के अध्यापकों के लिए ग्रीष्मकालीन प्रशिक्षणशालाएं चलाने के पीछे प्रमुख ध्येय यह रहा है कि उनकी विज्ञान की उस गहराई की ओर उस विस्तार की एक झलक दी जा सके जो आज संसार ने उपलब्ध की है। कि उनको देश के विश्वविद्यालयों में काम करनेवाले उनके विषय के विशेषज्ञों से मिलाया जाए। कि सरल और थोड़ी सामग्री से ही विज्ञान की जटिल से जटिल बातें वे विद्यार्थियों को समझा सकें। कि वे विद्यार्थी में अनुसंधान की भूख जगा सकें। और यही तो हम चाहते थे।

हमें बताया गया कि ये प्रशिक्षणशालाएं चार विषयों में चलेंगी—जीवविज्ञान, रसायनविज्ञान, भौतिकी और गणित। इस महत्त्वपूर्ण आयोजन में अमरीका की दो संस्थाओं से सहयोग मिल रहा था—टीचर्स कॉलेज, कोलम्बिया यूनिवर्सिटी और यू. एस. एजेंसी फॉर इंटरनेशनल डेवलपमेंट।

चारों विषयों में सोलह प्रशिक्षण शालाएं—उत्तर भारत में : दिल्ली, जयपुर, वाराणसी और शिमला। दक्षिण भारत में, मदुराई, हैदराबाद, धारवाड़ और मैसूर। पूर्वी भारत में : कटक, बर्दवान, गौहाटी और मैसूर। पूर्वी भारत में : कटक, बर्दवान, गौहाटी और दार्जिलिंग। पश्चिमी भारत में : बंबई, पूना, अहमदाबाद और माउंट आबू।

मैं बायोलोजी यानी जीवविज्ञान की प्रशिक्षणशाला में भाग लेने के लिए राजधानी आ गया हूं। मुझे मालूम था कि ठहरने का इंतजाम ग्वायरहाल में किया गया है। ट्रेन का फर्स्टक्लास का किराया, चौबीस घंटे की यात्रा पर दस रुपया यात्रा-भत्तत्ता; रहना-खाना मुफ्त और तीन रुपया जेबखर्च! ठाठ बांध दिये।

सात जून '64 की शाम को ही हम जा डटे। कल से तो प्रशिक्षण शुरू हो जाता है। मगर हमारे प्यारे नेता नेहरू को दिवंगत हुए कुछ ही दिन हुए हैं। आठ जून को शोक-सप्ताह का अंतिम दिन। उद्घाटन बड़ा सादा हुआ और शायद

अनोखा भी। कार्यक्रम की शुरुआत दो मिनट मौन रहकर, भगवान् से दिवंगत आत्मा को शांति देने की प्रार्थना करने से हुई। और जब इस प्रशिक्षणशाला के डायरेक्टर द्वारा परिचय देने और उद्देश्य इत्यादि जताने के बाद टीचर्स कालेज, कोलम्बिया यूनिवर्सिटी से आए डॉ. एन. ई. विंघम और डॉ. पाल जे. लिओनार्ड बोलने खड़े हुए, तब हम समझे कि हम जो आज करने जा रहे हैं, अमरीका में कई साल पहले किया जा चुका है और 'बायोलोलीकल साइंसेज करीकुलम स्टडी' (बी. एस. सी. एस.) नामक एक संगठन पिछले कई सालों से वहां जीवविज्ञान शिक्षा को आमूल बदलने के लिए क्रांतिकारी कदम उठा रही है। यही नहीं बल्कि संसार के अन्य जो भी राष्ट्र इस ओर ध्यान देना चाहते हैं, उसे यह हर तरह की सहायता देते हैं।

सबसे बड़ी सहायता है इनकी किताबें। हायर-सेकेंडरी के विद्यार्थी की जीवविज्ञान की शिक्षा देने के एकदम नए दृष्टिकोण सामने रखकर साठ जीव-विज्ञानी और शिक्षाविदों ने मिलकर ये किताबें तैयार की हैं। इनके तीन संस्करण हैं, हरा, पीला, और नीला। हरे में जीव जिन परिस्थितियों में पनपता है, उनका उस पर क्या प्रभाव पड़ता है, यानी परिस्थितिकी (इकोलोजी) और विकास (इवोलयूशन) पर जोर दिया गया है। जीवों में, फिर भले ही वे पौधे हों या जंतु, सबसे बड़ी समानता यह है कि वे एक या अनेक कोशिका के बने होते हैं। अतः पीले संस्करण में जीवविज्ञान के कोशिकीय पक्ष पर जोर दिया गया है। नीला संस्करण कोशिका से भी परे और अधिक गहराई में उतर कर अणु यानी मोलीक्यूल के स्तर पर जो जीवक्रियाएं चलती हैं, उनको सामने रखता है और जीव रसायन संबंधी (बायोकेमीकल) खोजों से जो नई-नई बातें मालूम हुई हैं, उन पर प्रकाश डालता है। भारतीय जीव विज्ञानियों ने यहां के विद्यार्थी को और यहां की परिस्थितियों को देखते हुए पीले संस्करण को अपनाने का विचार किया है। जीर्ण परम्पराओं को त्यागकर अब भारतीय जीव विज्ञान पीत वसन धारण कर अपनी प्रगति के बसंत काल का आवाहन करने चला है।

'बी. एस. सी. एस.' की इन पुस्तकों के अलावा 'बायोलोजी टीचर्स हैंडबुक' और 'रिसर्च प्रोब्लम्स इन बायोलोजी', ये पुस्तकें हमें भेंट की गईं। साथ ही पचासवीं साइंस कांग्रेस की विवरण पुस्तिका सन् 1963 के 'समर इंस्टीट्यूट की रिपोर्ट'—'इम्प्रूव्ड साइंस टीचिंग इन स्कूल्स' तथा प्रो. पी. महेश्वरी की देखरेख में भारतीय विद्यालयों के लिए लिखी जा रही बायोलोजी की टेक्स्टबुक के पांच अध्यायों की साइक्लोस्टाइल प्रतियां हमें उस नए मार्ग की ओर संकेत कर रही

थीं, जिधर अब जीव विज्ञान की शिक्षा को बढ़ना है। दिल्ली विश्व-विद्यालय के वनस्पति विभाग में एक वातानुकूलित कक्ष में हमें और भी नई-नई पुस्तकें पढ़ने को मिलीं, जिनके लिए हम अपने स्कूलों में तरसते रहते थे।

प्रशिक्षण का कार्यक्रम इसी वनस्पति विभाग में शुरू हुआ। कितना व्यस्त। प्रातःकाल 9 बजे से 10 बजे तक विशेष व्याख्यान; 10 से 10½ बजे तक जलपान; 10½ से 11½ बजे तक पाठ व्याख्यान; दोपहर 11½ बजे से 12 बजे तक विचार-विनियम; 12 से 1.45 तक दोपहर का भोजन; 1.45 से सायंकाल 4 बजे तक प्रयोगशाला में प्रैक्टीकल शिक्षा; 4 बजे से 4.15 बजे तक जलपान' 4.15 से 5 बजे तक प्रयोगशाला में किए गए कार्य पर विचार विनिमय और अगले दिन के कार्यक्रम के बारे में आवश्यक निर्देश। पांच से 6 बजे तक जीवविज्ञान संबंधी फिल्म देखने, उस दिन का कार्य विवरण लिखने और विविध कार्यों का क्रम चलता है।

पता नहीं चलता कि वक्त कब गुजर जाता है। प्रयोगशाला के किसी भी कक्ष में हम घुस जाते हैं और खोज करनेवाले नवयुक और युवतियां बड़े धैर्यपूर्वक हमारे सवालों का जवाब देते हैं। हमने कभी नहीं देखा कि वैज्ञानिक कैसे काम करते हैं। और यहां देखते हैं कि कोई पौधों के भ्रूण विज्ञान में नई चीजें खोज रहा है, कोई आकृतिविज्ञान का धुंधलका हटा रहा है। ऐसी अच्छी जगह हमें काम करने को मिल रही है; ऐसे प्रतिभाशालियों के बीच हम रह रहे हैं। हमारी आंखों में सुनहरे सपने घूमने लगे हैं।

इन सपनों में रंग भरने शुरू किए व्याख्यानमालाओं ने। विषय सब पुराने, मगर दृष्टिकोण एकदम ताजा। माता-पिता के गुण संतान में किस तरह पहुंचते हैं; कौन है वंशागति का नियंता; फसलों और पशुओं की नस्लें कैसे सुधरें! यानी आनुवंशिकी, वंशागति और पशु तथा वनस्पति सुधार पर डॉ. बी. पी. पाल जैसे महान् भारतीय वनस्पतिज्ञ ने हमसे बात की, जिनका संपूर्ण जीवन ही फसलों को नई-नई किस्में खोजने के प्रति अर्पित रहा है। फिर बीमारियां पौधों की, बीमारियां जानवरों की, क्यों; कैसे और उनका इलाज; हमारे डाइरेक्टर प्रो. जौहरी ने रोगों के जर्म सिद्धांत की जैसी सरल व्याख्या की हममें से बहुतों को अपनी दकियानूसी धारणाएं बदलनी पड़ीं। इसके बाद और भी गहराई में उतरकर वनस्पति और जंतुओं में कोशिका के स्तर पर क्या-क्या सूक्ष्म गतिविधियां चलती रहती हैं, उनको खोलकर रखा गया जीव रसायन (बायोकैमिस्ट्री) तथा शरीर क्रिया विज्ञान (फिजिओलोजी) संबंधी व्याख्यानों में। इसके बाद

प्रकृति में मिलनेवाली अद्भुत जीव-विविधता—भांति-भांति की वनस्पतियां, भांति-भांति के जंतु सचित्र व्याख्यानमालाओं द्वारा। अब बारी आई उपभोग की : कीटों का मानव कल्याण और विनाश दोनों में क्या योग है। प्रो. शषाद्रि ने 'लकड़ी इतनी अच्छी क्यों?' में लकड़ी के जो उपयोग गिनाए तो हम अचम्भे में रह गए। विविध विषयों में प्रो. जौहरी ने संसार के वनस्पति उद्यानों की सैर कराई। इन सभी व्याख्यानों में उस दिन की तारीख तक जो कुछ भी उस विषय में जानकारी हासिल हो चुकी थी; उसका समावेश किया गया। ज्ञान को गुहा पर लगे मकड़ी के जाले, फफूंद और धूल की परतें सब कुछ हटाकर स्फटिक-सा चमका दिया। जहां बात मालूम न हुई, साफ साफ स्वीकार कर लेना कि हम नहीं जानते, अभी खोज चल रही है। यह नहीं कि अपना अज्ञान छिपाने के लिए भोले-भाले विद्यार्थी को कुछ भी कहकर बरगला दिया, या फिर डांट दिया। व्याख्यानदाताओं में ओहियो स्टेट यूनिवर्सिटी, (अमरीका) के प्रो. डब्ल्यू. डी. ग्र के अलावा प्रो. स्टीबर्ट तथा फॉर्डाइस भी था। शुरू-शुरू में उनका अमरीकी उच्चारण पल्ले नहीं पड़ा' मगर बाद में बहुत कुछ समझ में आने लगा।

डॉ. विल्सन एन. स्टीबर्ट, इलीनॉइस यूनिवर्सिटी में बॉटनी के प्रोफेसर हैं। फॉर्डाइस महोदय का पूरा नाम है—फिलिप आर. फॉर्डाइस। ये फ्लोरिडा स्टेट यूनिवर्सिटी में साइंस एजुकेशन के असिस्टेंट प्रोफेसर हैं तीन दिन तक तो ये लोग हमारे साथ रहे' खूब घुल-मिलकर। मगर बुरा हो उस धूल, धूप और गर्मी का, जिसने इन शीत देशवासियों को हमसे अलग रहने के लिए मजबूर कर दिया और उन्हें पास के ही एक होटल में शरण लेनी पड़ी।

दोनों ही प्रोफेसर अधेड़ उम्र के हैं, मगर जिस जोश के साथ वे काम में लगे रहते हैं—उससे हम युवकों को भी एकबारगी शर्मिंदा हो जाना पड़ता है। जब सूरज अपनी पूरी तेजी पर होता—पौने दो बजे, कि हम लोग प्रयोगशालाओं में पहुंच जाते। फिर चार बजे तक प्रयोग, प्रयोग और प्रयोग। ज्यादातर प्रयोग नये हैं। कुछ बहुत आसान और कुछ कठिन भी। प्रयोग करते-करते ही, बहुत से सवाल उठते हैं, जो प्रयोग खत्म होते-होते शांत हो जाते हैं। जब विद्यार्थी इन प्रयोगों को करेंगे तो हो नहीं सकता कि उनमें अनुसंधान की भूख न जगे। मैं सोच रहा हूं। प्रो. जौहरी आते हैं। मेरे कंधे पर हाथ रख देते हैं। चौंक जाता हूं। 'बोलो, भाई क्या पहेली सुलझा रहे हो।'

"सोच रहा था कि अपने तो ये सब सुविधाएं यहां जुटा दीं, इन प्रयोगों

के लिए, लेकिन हम वहां अपने छोटे-छोटे अपूर्ण सामग्री वाले स्कूलों में कैसे यह सब करेंगे।''

''भई, उसकी भी तरकीब हम सोच रहे हैं। सरकार मदद करेगी। तुम्हारे स्कूल को विशेष आर्थिक सहायता मिलेगी। और फिर हमने तो तुम्हें यह भी बताया है कि कीमती सामान न आ सके तो क्या हुआ, कम खर्च के, सस्ते सामान से भी बढ़िया से बढ़िया प्रयोग किए जा सकते हैं'—प्रो. जौहरी मुझे अपने खास लहजे में हौले-हौले बोलते हुए समझाने लगे हैं।

बनारस से आए सबसे अनुभवी अध्यापक ए. के. राय ने जौहरी साहब को बुलाया, तो वे उधर ही चल दिए। हम छत्तीस लोग उस सुव्यवस्थित प्रयोगशाला में 10 जून से 8 जुलाई तक पचास प्रयोग करते रहे। हर प्रयोग अपने आप में अनूठा; रोचक और जिज्ञासु-वृत्ति को जागृत करनेवाला। दिल्ली विश्वविद्यालय के प्राणिविज्ञान विभाग के श्री राजमन्नार और उनके साथी हमारे लिए बड़े परिश्रम से ये प्रयोग जुटाते रहे।

प्रयोग करने में हमें सबसे बड़ी सहायता उन 66 फिल्मों से मिलीं, जो हमें यहां दिखाई गई हैं। इनमें से 10 फिल्मों में तो नई-नई प्रेक्टीकल तकनीकें ही बताई गईं। रेगिस्तानों की जिंदगी, समुद्र के भीतर का जीवन, ध्रुवप्रदेश और भांति-भांति के वन हमें एक दर्जन फिल्मों से देखने को मिले। फिर वनस्पतियों और उनके जीवन पर 10 और जंतु और उनकी जीवन-चर्चा पर 18 फिल्में, जब हमारे सामने प्रदर्शित की गईं तो समस्त वनस्पति और जंतु जगत् के दृश्य हमारी स्मृति में साकार हो गए। शरीर क्रियाविज्ञान की हर बारीकी दो फिल्मों ने जिस तरह एक घंटे में समझा दीं, शायद दो किताबें दो सप्ताह में भी समझा पातीं। आनुवंशिकी और विकास पर 6 और विविध विषयों पर दिखाई गई फिल्म-पट्टियों ने हमारे मन में दबी न जाने कितनी जिज्ञासाओं को शांत कर दिया है।

आपस में जब हम लोग मिलते हैं तो हमारी बातों में गर्मी होती है; ये गर्मी मौसम की नहीं, ये गर्मी गुस्से की नहीं, ये गर्मी है उन नए नए विचारों की, जो हमारे दिलो-दिमाग पर हावी होते जा रहे हैं। उस दिन तो हमारे ही वयोवृद्ध साथी श्री राय की अध्यक्षता में एक परिचर्चा आयोजित की गई। दो-तीन लोग ही रहे होंगे, जिन्होंने मौन रहना ज्यादा अच्छा समझा हो। एक अद्भुत उत्साह का संचार हमारे तन-मन में हो रहा है। हर दस साल बाद दुगने की चाल से बढ़ रहे वैज्ञानिक ज्ञान से अब न हम वंचित रहेंगे, न हमारे विद्यार्थी। वे अब रटेंगे नहीं, वे अब खोज करेंगे। गवेषणा करेंगे। खोजेंगे और सीखेंगे। ऐसा संकल्प

हम सबने कर लिया हैं। पहले हम लोग कैसे-कैसे दकियानूसी सवाल पूछते रहे हैं, इम्तहानों में कि विद्यार्थी कुंजियां रट लें और बिना अपनी अक्ल को काम लाते हुए जवाब उगलते जाएं। मगर अब हमारे प्रश्नों का रूप इस तरह का होगा—

''हम हम रोटी का कौर ज्यादा देर तक चबाते हैं, तो उसका स्वाद मीठा हो जाता है क्यों? क्योंकि :

* स्टार्च प्रोटीन में बदल गया।
* स्टार्च ग्लूकोज में बदल गया।
* लार मीठी होती है।
* स्टार्च चीनी में बदल गई।

अब विद्यार्थी को सिर्फ यही करना है कि चारों में से जिस उत्तर का वह सही समझता है, उसको लिख दे। और यह वही कर सकेगा, जिसने विषय को समझने की कोशिश की है, रटने की नहीं।

14 जुलाई 1964। आज सब सवाल जवाब समाप्त हो गए। पांच सप्ताहों की सरगर्मी के बाद आज हम सब विदा हो रहे हैं। एक छोटा-सा सांस्कृतिक कार्यक्रम हम लोग रख रहे हैं। कुछ हल्के-फुल्के गाने। फिर हममें से हरएक का स्टेज पर जाकर अपने विचार व्यक्त करना। कितने भावुक हो आए हैं लोग : ''हम कूप-मंडूक थे, आज हमारी आंखें खुली हैं, कि दुनिया कितनी आगे बढ़ गई है;'' ''हमने आज पहली बार 'डी. एन. ए.', 'आर. एन. ए.' के नाम सुने हैं, ''हम नहीं जानते थे कि 'स्टीपी' किस बला का नाम है।'' ''मैं ताज्जुब में हूं कि इस वनस्पति-विभाग में क्या चौबीसों घंटे रिसर्च होती है? हम नौ बजे आते हैं, सुबह तो लोग काम में लगे होते हैं और शाम को छह बजे जाते हैं, उस समय भी सब जुटे होते हैं। इस सबने हमें बड़ी प्रेरणा दी है।'' तभी कव्वाली शुरू हुई। फिर तालियां, तालियां और तालियां।

''तुम्हारे ऊपर अपने विद्यार्थी की पूरी जिम्मेदारी है। तुम अपना काम करो और पूरी ईमानदारी के साथ करो। कोई तुम्हारे मार्ग में बाधा डालता है तो उसका डटकर मुकाबला करो। मन की बात मन में ही क्यों रहने देते हो तुम लोग। सोचकर क्यों रह जाते हो। क्षमता और प्रतिभा की तुममें कोई कमी नहीं है।'' प्रो. स्टीबर्ट और प्रो. फॉर्डाइस दोनों बोलते हैं और बोलते बोलते जोश में आ जाते हैं। उनका चेहरा तमतमाने लगता है। जब हम कहते हैं कि हमें पढ़ाने के लिए बहुत कम समय मिलता है कि हमारे स्कूल में दो ही माइक्रो स्कोप हैं; माइक्रोटोम एक भी नहीं; प्रोजेक्टर नहीं; और प्रयोगशाला में इने-गिने रसायन,

इने-गिने स्पेसीमैन, तो वे झुंझला उठते हैं कि तुम यह सब कैसे बर्दाश्त करते हो। टूटी-फूटी हिंदी भी सीख ली है दोनों ने।

क्यों है इन्हें हमारे देश से इतना लगाव। क्यों ये हमें आगे बढ़ाने के लिए उकसा रहे हैं। एक दिन फॉर्डाइस बता रहे थे, दुनिया में अमन-चैन लाने के लिए तुम्हारा ही देश कुछ कर सकता है! स्वयं उपकुलपति महोदय, श्री देशमुख ने हमें प्रमाणपत्र दिए।

आज मुझे अपने स्कूल में लौटे एक साल होने को आया। पास के कई प्राकृतिक स्थानों में मैं अपने विद्यार्थियों को ले गया। उन्हें कुदरत में ही पेड़-पौधे और जंतुओं का परखना सिखाया। मेरे साथ के अध्यापक शुरू-शुरू में मेरे जोश-खरोश की मजाक उड़ाते रहे। कई नए नाम मेरे रख दिए गए। अब सब ठंडे पड़ गए हैं। मेरे विद्यार्थी बड़ा उत्साह ले रहे हैं। उन्हें खुद ही नए नए प्रयोग करने में बड़ा आनंद आता है। लेकिन मैं सोच रहा हूं कि हमारा पाइ्यक्रम तो वही पुराना ही है। कब बदलेगा? ये नई बातें, नए प्रयोग इम्तहान में काम न आए तो ये विद्यार्थी क्या सोचेंगे? कुछ भी हो मैं कोशिश में हूं कि जो पाठ्यक्रम है उसी के हिसाब से नई बातें रक्खूं। हमारे डायरेक्टर साहब ने पूछे हैं आठ सवाल, कि हमने किसको बाहर से बुलवाकर भाषण करवाए, कितनी फिल्में दिखाईं, कहां-कहां विद्यार्थियों को प्रकृति-दर्शन के लिए ले गए; कितने नए प्रयोग किए; विज्ञान मेलों में भाग लिया या नहीं; पुस्तकालय में कितनी नई किताबें आईं; विद्यार्थियों ने क्या प्रगति की और हमारी कमियां क्या रहीं। कोशिश तो मैं भरसक करता रहा, बावजूद कठिनाइयों के; लेकिन कमियां कहां तब गिनाएं। फिल्म प्रोजेक्टर तो क्या हमारे इस स्कूल में तो बिजली भी नहीं है। एक कमरा है, जिसमें एक तरफ कैमिस्ट्री लैब, एक तरफ फिजिक्स लैब, और एक कोने में बायोलोजी की लैब है। दो पुराने माडल के माइक्रोस्कोप। मैं जानता हूं मेरे कुछ साथी दिल्ली के स्कूलों में हैं, कुछ और अच्छे-अच्छे स्कूलों में हैं। उनके पास अपनी अलग प्रयोगशाला है, प्रोजेक्टर है, फिल्में हैं, टेलीविजन हैं। शायद कुछ के पास स्कूल की अपनी मोटर भी है। हमारे स्कूल तक ये सुविधाएं पहुंचेंगी, यह उम्मीद तो है, मगर कब तक यह नहीं कहा जा सकता। वे 'विज्ञान मेला' लगा सकते हैं, हम नहीं लगा सके। वे यूनिवर्सिटी के प्रोफेसरों को बुलाकर अपनी यहां भाषण करा सकते हैं, यहां इस कस्बे में कौन आता। किताबों के नाम पर हमारे लाइब्रेरियन साहब ने बड़ी मेहरबानी करके विज्ञान की कुछ पत्रिकाएं मंगवा दी हैं। ज्यादातर किताबें अंग्रेजी में हैं। अमरीका इंगलैंड के लिहाज से लिखी गई हैं। उनका हमारे

विद्यार्थी क्या फायदा उठायेंगे। फिर भी विद्यार्थियों में उमंग है। जीवविज्ञान के घंटे की वे उत्सुकता से प्रतीक्षा करते हैं। जानने की आग उनमें जाग गई है। सुना है प्रो. पी. महेश्वरी की बायोलोजी टेक्स्टबुक का पहला और दूसरा भाग बाजार में आ गया है। बड़ा सहारा मिला है। इसका हिंदी अनुवाद भी सुना है, जल्दी ही छप जाएगा। 'फाउंडेशन ऑफ मॉडर्न बायोलोजी' सीरीज की भी सब किताबें हिंदी में आ जाएं; रेडियो पर, टेलीविजन पर हिंदी में जीव-विज्ञान, संबंधी वार्ताएं प्रसारित हों और 'समर इंस्टीट्यूट' में हमें जो फिल्में दिखाई गई थीं, उनके साथ अंग्रेजी में नहीं हिंदी में कमेंट्री चले, तो फिर देखते हैं कि कैसे हमारे देश के विद्यार्थी किसी से पीछे रहते हैं; कम से कम जीवविज्ञान में तो नहीं ही रहेंगे। मुझे अच्छी तरह याद है जब मैं दिल्ली में था तो एक दिन सभी प्रशिक्षणार्थियों ने महामहिम राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन से भेंट की थी जिसमें उन्होंने कहा था कि हमें शिक्षा का स्तर उठाने के लिए कड़ी मेहनत करनी होगी और भारतीय गणितज्ञ स्व. रामानुजम का आदर्श सामने रक्खा था।

मेहनत हम कर रहे हैं। मगर हमें उसके लिए सुविधाएं भी पूरी-पूरी मिलनी चाहिए। मैं सोचता हूं कि कम से कम दो महीने तक तो प्रशिक्षण चलता ही; साथ ही प्रशिक्षण के बाद भी दो-तीन बार सब लोग कुछ दिन के लिए साथ बैठकर एक दूसरे की कठिनाइयां सामने रख सकते। हमारे प्रिंसिपलों को भी सरकार की ओर से यह ताकीद कर दी जाती कि वे हमें नई शिक्षण-पद्धति लागू करने में पूरी-पूरी मदद दें; कम से कम बाधा तो न डालें, तो बड़ा अच्छा होता। लगता है, लीक छोड़कर चलना अभी हिंदुस्तान में काफी दिनों तक अजीब निगाहों से देखा जाता रहेगा। फिर भी हम लीक छोड़कर चल पड़े हैं तो अब वापस नहीं लौटेंगे। नहीं लौटेंगे। नहीं लौटेंगे!!

48

ये रहस्यात्मक जैव घड़ियां*

श्याम सुन्दर

आज़ मनुष्य ने काफी प्रगति कर ली है। अब वह समय को अधिक सच्चाई से बांट सकता है और माप सकता है। समय को अधिक सच्चाई के साथ मापने के लिए एक-से-एक संवेदनशील क्रोनोमीटर निकल गए हैं। परमाणु घड़ियां तो विलक्षण सूक्ष्म सच्चाई के साथ समय की माप कर सकती हैं। ये तो लाखों-करोड़ों वर्ष तक बिना एक सेकेंड की गलती किए सही समय बता सकती है।

अगर ये सारी घड़ियां एक साथ संसार से हटा दी जाएं तो क्या होगा? शायद सभ्यता के बढ़ते हुए कदम लड़खड़ाने लगेंगे, शायद मनुष्य की सारी प्रगति तब समय के ज्ञान के अभाव के कारण रुकने-सी लगेगी।

इन मानव-निर्मित घड़ियों के अलावा प्रकृति ने प्रत्येक सजीव वस्तु को इस योग्य बनाया है कि यह कम या अधिक यथार्थता के साथ समय बता सके। इन यांत्रिक क्रियाओं को 'जैव घड़ियां' कहा जाता है। जैव-घड़ियां किस तरह कार्य करती हैं, यह बहुत दिनों तक एक रहस्य ही रहा। अब भी यह रहस्य पूरी तरह खुला नहीं है। कुछ वैज्ञानिक दिन-रात के चौबीस घंटों के चक्र एवं इन यांत्रिक क्रियाओं के बीच के संबंध का अध्ययन कर रहे हैं।

प्रकृति के पौधे और प्राणियों द्वारा समय बताने के लिए दो विशिष्ट प्रकार हैं :—

दिन-रात के चौबीस घंटों के अंदर पौधों अथवा प्राणियों में जो नियमित क्रिया होती है, इनसे उनके दैनिक समय ज्ञान का पता चलता है। सेन-विभाजन, प्रकाश-संश्लेषण, वायुत्याग, आंतरिक रासायनिक क्रियाएं एवं भौतिक क्रियाएं इनमें

* विज्ञान जगत्, सितम्बर 1965

एक निश्चित नियम के अनुसार होती हैं और नियमित समय पर होती हैं। प्रतिदिन के इस नियमित क्रिया-कलाप (rhythmcial activity parttern) को सर्केडियन रिद्म (circadion Rhythm) कहते हैं।

चेतन जगत् के सदस्यों की एक दूसरी विशेषता है कि वे वर्ष की भिन्न-भिन्न अवधि में समयानुसार ही अपना काम करते हैं। जब दिन की एक खास लंबाई होती है, तो वे जान जाते हैं कि अब फूल खिलने का समय आ गया है या दक्षिण दिशा की ओर उड़ने का समय आ गया है या दक्षिण दिशा की ओर उड़ने का समय करीब है। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारे कैलेंडरों की तरह पौधों एवं प्राणियों का भी अपना प्राकृतिक कैलेंडर है, जिसके सहारे वे ऋतुओं या महीनों के अनुसार काम करते हैं। उनका यह ज्ञान दिन के प्रकाश की अवधि के द्वारा नियत होता है। उनकी यह विशेषता फोटोपिरियडिक रिस्पौंस (Photoperiodic response) कहलाती है।

ये नियमित कार्यकलाप

केलिफोर्निया यूनिवर्सिटी के **डॉ. कार्ल हैम्नर** ने सर्केडियन रिद्म (Circadion rhythm) और फोटोपिरियडिज्म (Photoperiodism) पर अनेक प्रयोग कर कई बातों का पता लगाया है; अपने एक प्रयोग में उन्होंने सोयाबीन (soyabean) पौधों को आठ घंटों तक प्रकाश और सोलह घंटों तक अंधकार में रखने पर पाया कि इन चौबीस घंटों में वे खिल उठते हैं। पर जब वे आठ घंटों तक प्रकाश और चौबीस घंटों तक अंधकार में रखे गये तो पाया गया कि ये नहीं खिल पाते। फिर आठ घंटों तक प्रकाश और चालीस या चौसठ घंटों तक अंधेरे में रखे जाने पर वे पुनः खिल उठते हैं।

डॉ. हैम्नर ने बताया कि पौधों के सामान्य विकास के लिए पूरे चौबीस घंटे अथवा इसके किसी अपवर्त्य की आवश्यकता है। कोई भी प्रयोग इस सुनियमित क्रिया के निश्चित क्रम को बढ़ाने से घटाने में सफल नहीं हुआ है।

अधिक से अधिक यही किया जा सकता है कि इस चक्र को फिर से नियमित (rephase) कर दें। फूल उपजानेवाले व्यवसायी क्राइसेन्थेमम्स (Chrysanthemums) नामक फूल को 'मदर्स डे' तक सुरक्षित रखने के लिए इसी क्रिया का उपयोग करते हैं। वे अपने ग्रीनहाउस के पौधों को अधिक देर तक प्रकाश और फिर अंधकार में रखते हैं जिससे कि 'मदर्स डे' तक उनका लिखना रुक जाता है।

प्रिंसटन यूनिवर्सिटी के डॉ. पिटेनड्रिग (Pittendrigh) ने दिखला दिया कि अगर ड्रोसोफिला नामक Fruit Fly के प्यूपा केस के प्रकाश में रहने का समय बदल दिया जाए तो इसके प्यूपा केस से बाहर निकलने का समय भी बदल जाएगा।

वाशिंगटन स्टेट यूनिवर्सिटी के डॉ. डोनावल्ड एस. फार्नर ने दिखाया कि दिन की लंबाईमें परिवर्तन के साथ श्वेत मुकुटवाले गोरैया पक्षी के पुनरुत्पादन (reproduction) एवं भ्रमण-यात्रा (migration) का व्यवहार बदल जाता है।

एक प्रयोग में चमगादड़ी को एक अंधेरी प्रयोगशाला के पिंजड़ों में बंद कर रखा गया। ऐसा पाया गया कि 23 से 23½ घंटों तक की अवधि के उनके सर्केडियन रिद्म में कोई फर्क नहीं पड़ता। इस अवधि पर नियमित क्रिया-कलाप आवर्त्त रूप से होते रहते हैं। उन्हें संध्या के पहले पहर का अंदाज मिल जाता है जबकि उनके भोज्य कीट-पतंग अधिकतम संख्या में उपलब्ध होते हैं।

(सूर्य के अनुसार यात्रा पर उड़ने वाले पक्षियों के लिए जरूरी है कि वे दस बजे और दो बजे से सूर्य का फर्क समझ लें जिससे कि सही दिशा में वे उड़ सकें।)

सूरज एवं तारों की स्थिति द्वारा दिशा का अंदाज लेकर उड़नेवाले प्राणी हमें प्राकृतिक जैव घड़ियों की यथार्थता का परिचय देते हैं। वे केवल सही दिशा में ही नहीं उड़ते, वरन् ठीक समय पर गलती किए बिना उड़ान पर निकलते हैं। सही दिशा में उड़ने के लिए जरूरी है कि दिन के भिन्न-भिन्न समय में सूर्य या तारों की स्थिति का उन्हें ध्यान हो।

सूर्य के द्वारा दिशा का अंदाज लेने वाले पक्षियों के लिए यह जरूरी है कि वे दस बजे और दो बजे के सूरज के बीच का फर्क समझ लें। पृथ्वी के घूमने के कारण सूर्य एवं तारों की स्थिति में जो फर्क पड़ता है, उनके लिए भी दिशा ठीक कर लेना आवश्यक है। पक्षियों की भ्रमण यात्राओं से यह साफ पता चलता है कि वे इन बातों में समर्थ हैं।

एक प्रयोग में बहुत से पक्षी एक प्लैनेटेरियम में रखे गए जिसकी छत पर तारों और ग्रहों के फोटोग्राफ थे। जब छत को घुमाया जाने लगा तो पक्षिगण अपने चहकने एवं पंख फड़फड़ाने की दिशा बलदने लगे। वे अपने को उस नक्षत्र-पद्धति के अनुकूल बना रहे थे।

जैव घड़ियों एवं भ्रमण यात्रा के संबंध को सिद्ध करने के लिए मधु-मक्खियों के साथ भी प्रयोग किए गए हैं। एक प्रयोग में मधु-मक्खियों को जो न्यूयार्क में प्रशिक्षित थे और भोजन के लिए ठीक बारह बजे अपने छत्ते से दक्षिण दिशा

में उड़ा करते थे, केलिफोर्निया ले जाया गया। केलिफोर्निया में न्यूयार्क के बारह बजने के समय नौ बजते थे। ऐसा पाया गया कि मधु-मक्खियां नौ बजे ही छत्ते छोड़ देती हैं क्योंकि उनकी सर्केडयिन घड़ियां न्यूयार्क के अनुसार काम कर रही थीं जहां उस समय बारह बजे थे। सूर्य की स्थिति देखकर वे उस दिशा में उड़े जिसे वे दक्षिण समझ रहे थे। पर यह दिशा पूर्व के नजदीक थी। उनके दिग्भ्रम की यह अवस्था लगभग एक सप्ताह तक रही।

अन्य प्राणियों की तरह मानव-शीरर में भी इस सर्केडियन रिद्म का अस्तित्व है। इसमें कोई अचरज नहीं है, क्योंकि किसी भी प्राणी की तरह मनुष्य भी चौबीस घंटों के दिन-रात के चक्र में बंधा हुआ है। रक्त में चीनी की मात्रा, शरीर का तापक्रम, ग्लैंड की क्रियाएं एवं अन्य शारीरिक क्रियाएं इन चौबीस घंटों में नियमित रूप से घटती-बढ़ती हैं। हमारा हृदय एक सेकेण्ड में निश्चित बार धड़कता है, हमारी पलकें निश्चित क्षणों के बाद झपकती हैं, हमारी नाड़ियां निश्चित नियम के अनुसार चलती हैं। शारीरिक क्रियाएं प्रायः दिन में तेज और रात में मंद हो जाती हैं।

अंदर या बाहर

क्या इन जैव-घड़ियों के क्रिया-कलाप जैव-शरीर के बाहर के भौतिक परिवर्तनों द्वारा नियमित होते हैं? अथवा जैव-शरीर के अंदर की कोई स्वतंत्र कार्य-प्रणाली इन्हें चलाती है? इन प्रश्नों के उत्तर के विषय में वैज्ञानिकों में बड़ा मतभेद है।

बहुत से वैज्ञानिक अंतर्नियमित (Endogenous Theory) सिद्धांत का समर्थन करते हैं। इसके समर्थन करने का एक कारण यह है कि स्वाभाविक वातावरण से अलग रखे जाने पर भी प्राणी अपने सर्केडियन रिद्म को कायम रखते हैं। दूसरा कारण यह है कि बाह्य तापक्रम या वायु-दबाव में होने वाले परिवर्तनों का इन पर कोई असर नहीं पड़ता। उत्तरी ध्रुव के निकट किए गए एक प्रयोग में बहुत-से मनुष्य एक अलग कमरे में बाहरी वातावरण से दूर रखे गए। उनकी घड़ियों में से कुछ बहुत तेज और कुछ बहुत सुस्त कर दिए गए। तब वे लोग यद्यपि 22 घंटे या अट्ठाइस घंटे के दिनों में काम करते और सोते थे फिर भी उनके सर्केडियन रिद्म में कोई फर्क न आया।

सन् 1961 में डॉ. हैम्नर ने दक्षिण ध्रुव के निकट किए गए प्रयोगों द्वारा अंतर्नियमित सिद्धांत का एक और प्रमाण दिया। UCLA के जीव वैज्ञानिकों के साथ प्रयोग करते हुए वे इस बात का पता लगा रहे थे कि वायु-दबाव, तापक्रम, गुरुत्व, कास्मिक किरणों अथवा आयनीकृत वायु में पृथ्वी के घूमने से होनेवाले

परितर्वनों का कोई असर जैव घड़ियों पर पड़ता है या नहीं।

इन प्रयोगों के लिए दक्षिण ध्रुव को चुना गया क्योंकि वहां ये सभी कारण अपरिर्वतनशील हैं। साथ-साथ अगर कोई पदार्थ टर्नटेबुल पर रखा जाय तो पृथ्वी के दैनिक घूमने की दिशा के विपरीत चौबीस घंटे में एक बार घुमाया जाय तो वस्तु पृथ्वी के साथ घूमती हुई नहीं होकर स्थिर समझी जा सकेगी।

डॉ. हैम्नर ने टर्न-टेबुलों पर सोयाबीन पौधों एवं कुछ अन्य प्राणियों को रखकर उनके सर्केडियन रिद्म का अध्ययन किया। टर्नटेबुलों में से कुछ पृथ्वी के घूमने के दिशा में, कुछ विपरीत घुमाये गये एवं कुछ स्थिर रखे गये। सभी प्रयोग पूर्ण अंधकार में किये गये एवं घूमने वाले टेबुल 24 घंटे में एक बार घुमाये गये।

डॉ. हैम्नर ने बताया कि दो महीनों के प्रयोग के बाद पाया गया कि इस तरह के परिभ्रमणों से सर्केडियन रिद्म की क्रिया पद्धति में कोई फर्क न आया। जैव घड़ियां हर स्थिति में ठीक चल रही थीं। इन सब प्रमाणों के बावजूद ऐसा नहीं कहा जा सकता कि जैव घड़ियों के नियंता कारण बाह्य नहीं हो सकते। जैव घड़ियों पर अनुसंधान की यह प्रारंभिक अवस्था ही है और अभी इस संबंध में बहुत-सी मौलिक बातें भी ज्ञात नहीं हैं।

इन घड़ियों की क्रिया-पद्धति कहां है और कार्य-प्रणाली क्या है? इनके नियंता कारण भौतिक साधन हैं अथवा रासायनिक? यह प्रत्येक सजीव सेल में है अथवा शरीर के कुछ ही भागों में स्थित विशेष सेलों में? ये सारे मौलिक प्रश्न अभी प्रश्न ही हैं।

फूल उपजाने वाले व्यवसायी फोटोपिरियडिज्म के ज्ञान का उपयोग कर साल के खास-खास समय में अधिक ज्ञान फूल उपजाते हैं। इस दिशा में प्राप्त ज्ञान कृषि-विज्ञान के विकास में लाभदायक होगा।

जैवे घड़ियों के अध्ययन से प्राप्त सूचना अंतरिक्ष उड़ान में महत्त्वपूर्ण हो सकती है। कुछ ब्रेन स्पेशलिस्ट इस बात से चिंतित हैं कि लगातार भारहीनता का अनुभव अंतरिक्ष यात्री के सर्केडियन रिद्म पर बुरा असर डाल सकता है जिससे मस्तिष्क एवं स्नायु-मंडल को भारी हानि की संभावना है। हो सकता है कि इंजीनियर अंतरिक्ष-यात्री के सर्केडियन रिद्म को ठीक रखने के लिए अंतरिक्ष-यान पर कृत्रिम दिन और रात का निर्माण करें।

ये जटिल, रहस्यमय एवं भेद-भरी जैव घड़ियां आज के जीव-विज्ञान के लिए एक बड़ी चुनौती हैं। पर वैज्ञानिकों का विश्वास है कि समय पाकर ये रहस्य एवं भेद स्पष्ट हो जायेंगे।

इच्छानुसार वर्षा*

विष्णुदत्त शर्मा

बरसात की ऋतु में भी जब राजस्थान सूखा ही रह जाता है तो वहां के निवासी अपनी लोक कथा के अनुसार मेंढकी से पानी मांगते हैं। देश के अन्य भागों में भी वर्षा के देवता इंद्र को प्रसन्न करने के लिये भांति-भांति के उपाय किये जाते हैं। हमें नहीं मालूम कि इन उपायों से कहां तक सफलता मिल सकती है अथवा मिली है और न ही हमें यह ज्ञात है कि ये उपाय तर्क की कसौटी पर कितने खरे उतरते हैं परंतु हमें यह अवश्य मालूम है कि 13 नवम्बर, 1946 को अमेरिकी वैज्ञानिक डॉ. विंसेंट शेफर ने अमेरिका के स्केनेक्टेडी स्थान के निकट प्रथम बार बादलों को 'अपना पानी त्याग देने के लिये' प्रसन्न किया था। उन्होंने हवाई जहाज पर चढ़कर बादलों पर सूखी बर्फ (ठोस कार्बन डाइआक्साइड) छोड़ी थी। सूखी बर्फ का ताप -78.5^0 सें. था और उसके गिरते ही चार मील लंबा एक बादल ओलों में परिवर्तित हो गया तथा 200 फुट नीचे धरती पर बरस पड़ा।

बादलों को 'दुहने' का यह पहला प्रयत्न नहीं था। वैज्ञानिक 19वीं शती के उत्तरार्ध से ही इस विषय में प्रयत्नशील थे। उन्होंने कृत्रिम वर्षा के लिए उन सब तथ्यों का अध्ययन किया जो प्राकृतिक वर्षा में योग देते हैं। इन तथ्यों के अनुसार आज हमारा ज्ञान काफी बढ़ गया है। परंतु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस विषय के अनेक पहलुओं से आज भी हम अनभिज्ञ हैं।

आज हमें मालूम है कि प्रकृति में वर्षा की बूंद का निर्माण एक बड़ी 'घटना' है। 'भ्रूण' के रूप में जन्म लेने से बूंद तक बढ़ने में पानी की कणों को विकास की अनेक अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। भाप-मिली हवा जब ऊपर उठती है

---

* विज्ञान प्रगति, नवम्बर 1966

तो उसे अधिकाधिक ठंडक मिलती जाती है और अंत में एक ऐसी अवस्था आ जाती है जब भाव उन सूक्ष्म धूलि कणों पर, जो हवा में हर समय मौजूद रहते हैं, द्रवीभूत होने लगती है। इस प्रकार बने पानी के कण अत्यंत सूक्ष्म होते हैं। इनका आकार 1/100 मिलीमीटर से भी कम होता है और इनसे ही बादल बनते हैं। अनुकूल परिस्थितियों में ये कण आपस में टकराकर और समायोजन करके आकार में बढ़ते जाते हैं।

आमतौर पर बादल इतने ऊंचे होते हैं कि उनकी ऊपरी सतहों के कुछ कण जम जाते हैं। ऐसे बादलों में, जिन्हें 'ठंडे' बादल कहते है, जमे हुए कण बहुत तेजी से बढ़ते हैं, और बढ़ने के दौरान वे अपने आस-पास के जल कणों को जमाते जाते हैं। अंत में ये कण इतने भारी हो जाते हैं कि जमीन पर वर्षा के रूप में गिर पड़ते हैं। नीचे के वायुमंडल, जिसका ताप अपेक्षाकृत अधिक होता है, में से गुजरने के दौरान ये पिघल जाते हैं। इसके विपरीत 'गर्म' बादलों में सब जल कण द्रव रूप में ही मौजूद होते हैं और समाचयन से ही बढ़ते हैं। हमारे देश में वर्षा 'गर्म' बादलों से ही होती है।

यहां यह बता देना भी आवश्यक होगा कि बादलों में उपस्थित जल कण 0^0 सें. पर ही नहीं जम जाते। वे हिमांक से काफी नीचे ताप पर भी 'अतिशीतित' कणों के रूप में रह सकते हैं। प्रयोगशालाओं में किये गये परीक्षणों में पाया गया है कि वायुमण्डल में आमतौर पर मौजूद अपद्रव्यों की उपस्थिति में अधिकांश जल कण -15^0 सें ताप पर बर्फ में परिवर्तित हो जाते हैं परंतु कुछ कण ऐसे भी होते हैं जो -40^0 सें. से ऊंचे ताप पर जमते ही नहीं। प्रयोगों में यह भी पाया गया कि यदि अतिशीतित कणों में कुछ विशेष प्रकार के नाभिक प्रविष्ट करा दिये जायें तो कणों में बर्फ परिवर्तित होने की क्रिया तीव्र हो जाती है।

बीजन

बादलों पर विशेष प्रकार के कणों की वर्षा करने की क्रिया को आमतौर से **'बीजन'** क्रिया कहा जाता है। बीजन दो विधियों से किया जताा है : (1) 'गर्म' बादलों पर पानी की बूंदें छिड़ककर अथवा उन पर आर्द्रताशोषक कण बरसा कर और (2) 'ठंडे' बादलों पर सूखी बर्फ अथवा सिल्वर आयोडाइड का 'धुआं' छिड़क कर। इन दोनों विधियों से वर्षा कराने में सफलता भी मिली है। उदाहरणार्थ 3 अगस्त, 1949 को 'आपरेशन विचडाक्टर' के नाम से प्रसिद्ध अभियान में वैज्ञानिकों ने बादलों पर सूखी बर्फ छिड़ककर टी साइड में 'भारी' वर्षा कराई थी। इस अभियान

के पांच दिन बाद ही वैज्ञानिकों ने दूसरा प्रयत्न किया और उसमें भी उन्हें सफलता मिली। आस्ट्रेलिया के वैज्ञानिक बोवन तथा अनेक सहयोगियों को भी बादलों को 'दुहने' में काफी सफलता मिली। परंतु अनेक बार काले मेघों पर सिल्वर आयोडाइड और सूखी बर्फ जैसे पदार्थों की कितनी ही मात्रा छिड़क देने पर भी एक बूंद पानी नहीं गिरा।

आजकल वैज्ञानिक जल कणों के आकार बढ़ाने के लिये स्थिर विद्युत तथा ध्वनि का भी प्रयाग करने में प्रयत्नशील हैं। वे अपने प्रयोगों में रेडार से सहायता लेते हैं। आशा है ये विधियां 'पुरानी' विधियों की तुलना में अधिक सफल सिद्ध होंगी।
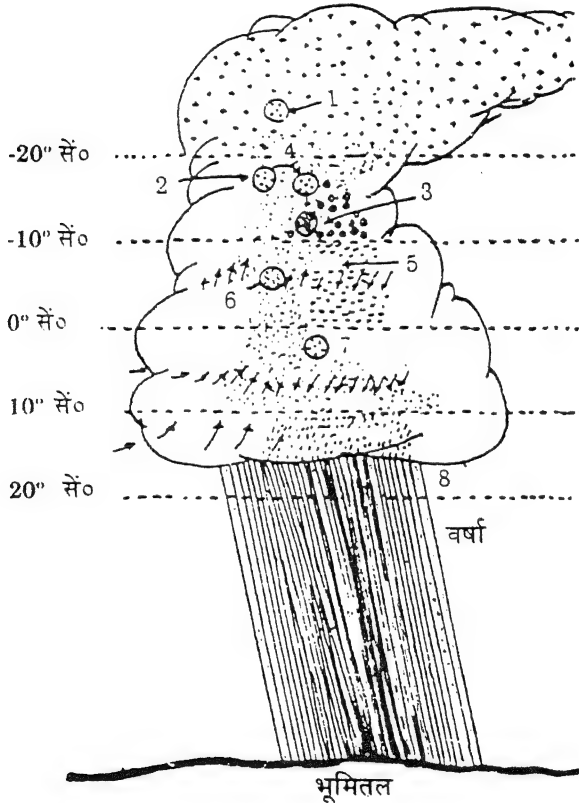
ठंडे मेघों से वर्षा

1. बर्फ क्रिस्टल, अतिशीतल (सुपरकूल्ड) पानी, 3. वर्फ कणों का निर्माण, 4. पानी, 5. गिरते हुए हिमकण, 6. ऊपर उठते हुए छोटे कण, 7. हिमकणों का पिघलना, 8. मेघ आधार।

भारत में कार्य

कृत्रिम वर्षा कराने के प्रयत्न हमारे देश में भी किये गय हैं। 1952 में प्रो. बैनर्जी ने कलकत्ते में बादलों पर अतिशीतित जल, सिल्वर आयोडाइड तथा ठोस कार्बन डाइआक्साइड छिड़ककर वर्षा कराने में सफलता प्राप्त की। बादलों पर सिल्वर आयोडाइड और ठोस कार्बन डाइआक्साइड छिड़कने के लिये उन्होंने विशेष प्रकार के गुब्बारों की मदद ली थी। सिल्वर आयोडाइड छिड़कने के लिये गुब्बारों में सिल्वर आयोडाइड से संचित गन पाउडर के ब्लाक रखे गये थे। ब्लाकों में टाइम-फ्यूज की एक ऐसी व्यवस्था थी कि वे निश्चित ऊंचाई पर जाकर स्वतः ही विस्फोटित हो जायें।

इसके बाद डॉ. सेतुरमन ने 1953 में मद्रास में प्रयोग किये। उन्होंने 'बीजन' के लिये गुब्बारों के स्थान पर जनरेटर की मदद ली। जनरेटर की मदद से ही उन्होंने बादलों पर सिल्वर आयोडाइड छिड़का। अपने प्रयोगों में उन्होंने विद्युत-भट्टी में कैल्शियम क्लोराइड को जलाकर उसके कणों को भी बादलों में संचित किया।

वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् ने 1955 में वर्षा और मेघ भौतिकी अनुसंधान यूनिट स्थापित की। यह यूनिट आजकल पाली जिले (राजस्थान) में जवाई नदी के कछार में प्रयोग कर रही है। इसके इस काम के लिये पिंजवाड़ा और नाना में दो केंद्र स्थापित किये गये हैं। कृत्रिम वर्षा कराने के लिये इस यूनिट के वैज्ञानिक गोरा पत्थर (सोपस्टोन) 10 भाग तथा साधारण नमक 90 भाग के चूर्णों के मिश्रण से प्रयोग कर रहे हैं।

बिन बादल वर्षा

अब वैज्ञानिकों का यह मत है कि मनचाही वर्षा कराने के लिये उन्हें बादलों (प्राकृतिक बादलों) की भी आवश्यकता नहीं होगी। वर्षा कराने के लिये वे स्वयं बादल बना सकेंगे। इस संबंध में क्लेरमोन-फेरंद, पेरिस के प्रो. हेनरी देंसस और उनके सहयोगियों का कार्य उल्लेखनीय है। प्रो. देंसस ने प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन करने के दौरान यह पाया कि भीषण अग्नि के पश्चात लगभग सदैव ही भारी वर्षा होती है। इस आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि वायुमण्डल के किसी क्षेत्र को अत्यधिक गर्म कर दिया जाये तो भाप-युक्त हवा तेजी से ऊपर उठेगी। ऊपर उठने से यह हवा ठंडी होगी। इसकी भाव बादलों में परितवर्तित होगी और समुचित परिस्थितियों में वर्षा बनकर बरस जायेगी।

इस संबंध में यह बता देना युक्तिसंगत होगा कि प्रो. देसंस का यह निष्कर्ष मौलिक नहीं था। इस संबंध में अन्य अनेक वैज्ञानिक, विशेषरूप से, दैसोलियर और बाईलिंथ पहले ही महत्त्वपूर्ण प्रयोग कर चुके थे और अपने सिद्धांत भी प्रतिपादित कर चुके थे। प्रो. देसंस को उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुंचने में भूमध्यरैखिक अफ्रीका के निवासियों से भी प्रेरणा मिली थी जिन्होंने उन्हें यह बताया था कि अग्नि के ऊपर किस प्रकार बादल बन जाते हैं।

जय-पराजय शस्त्रों से नहीं, रसायन से*

श्यामसरन विक्रम

'युद्ध' शब्द जितना पुरातन है, अस्त्र-शस्त्र का इतिहास भी उतना ही प्राचीन है। कंदरा-निवासियों के प्रस्तर-आयुधों से लेकर विगत दो महायुद्धों तक और उससे भी आगे बढ़कर चांद या मंगल तक पहुंचने पर वहां भी ऐसे पराकल्पित अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण की होड़ अवश्य चिर-नवीना है। अतः युद्धशास्त्र को समस्त शाखाओं-प्रशाखाओं सहित विज्ञान का निचोड़ कहा जा सकता है।

इतिहास और प्रागैतिहास साक्षी है कि युद्धशास्त्रों के साथ रसायन, चोली-दामन की भांति जुड़ा चला आया है। अधिक प्राचीन नहीं, लगभग 2500 वर्ष पूर्व के इतिहास पृष्ठ उलटे तो पायेंगे कि स्पार्टा के सैनिकों ने डेलियन की दुर्ग-प्राचीरों के नीचे कोलतार और गंधक मिलाये हुये काष्ठ-खण्ड जला रखे थे। उनसे उठते विषैले धुयें के गुब्बारों में दुर्ग-रक्षक सैनिक ऊपर से कुछ न कर पाये और अंततः उन्हें दुर्ग से हाथ धोना पड़ा था। विस्फोटकों का आरम्भकर्ता चीन देश माना ही जाता है। और, इसी शताब्दी की बात करें तो प्रथम विश्व-युद्ध के लिए रसायनज्ञों ने 3000 से भी अधिक नुस्खे तैयार कर रखे थे। उनमें से केवल 32 ही उपयोग में लाए गए, जिमनें अकेले मस्टर्ड गेस ने त्राहि-त्राहि मचा दी थी।

आक्रमण, ज्ञानतंतुओं पर

फिर तो जर्मन वैज्ञानिकों ने दूसरे महायुद्ध के अंत तक भी अपनी गुप-चुप तैयारियों का पता ही न चलने दिया। 1940-41 के लगभग प्रबलतम कीटविनाशक रसायन तैयार करने के बीच ही अचानक हाथ लगे ज्ञानतंतु-निष्क्रियक रसायन देकर उन्होंने

* विज्ञान, अगस्त-नवम्बर 1966

संसार को चकित कर दिया। इसका एक ही मनोरंजक उदाहरण पर्याप्त रहेगा। वह यह कि घंटों परेड में थका देने वाला एक कमाण्डेंट जब मध्यांतर में चाय पीने गया तो देर तक लौटा ही नहीं। देखा, तो पाया गया कि हजरत टांग फैलाये, मेजर साहब की मेज पर नशे में बुत्त, आंय-बांय बके जा रहे थे। निश्चय ही, उन्हें चाय में कुछ पिलाने का प्रयोग किया गया था। वही था वह रसायन, जिसे अब बड़े पैमाने पर प्रयुक्त किये जा सकने की दिशा में प्रयोग किये जा रहे हैं।

इस तंतु-निष्क्रियक रसायन का नाम है—एसिटायलकोलाइन। यह रसायन तंत्रिकाओं के सिरे पर पहुंचकर शरीर के उस अंतःस्राव को निष्प्रभावित कर देता है जिसे कोलिनऐसटेरेज कहते हैं और जो ज्ञान तंतुओं तथा स्नायुओं के संचालन का कार्य करता है, उन्हें नियंत्रित रखता है। इसकी विलक्षण तीव्रता का अनुमान इसकी आवश्यक अति सूक्ष्म मात्रा से लगाया जा सकता है। अब तक की प्रसिद्ध मस्टर्ड गैस जहां भरपूर मात्रा में आवश्यक रहती है, वहां इसकी थोड़ी सी ही मात्रा वायमुण्डल में बिखेर देने पर एक वर्ग मील के युद्धक्षेत्र में बगैर मुखौटा (मास्क) पहिने हुए, खुले नाक, कान, मुंहवाले सैनिकों में से एकतिहाई को यह तौबा-तौबा बुलवा देगी और उनमें से 25 प्रतिशत तो मौत के घाट उतर ही जायेंगे। सोचिए, वह कितनी अहिंसापूर्ण हिंसा होगी, जिसमें बीसों को बस सुला दिया, ना मारा, ना खून किया। सूक्ष्मदर्शी में देख पाने योग्य तक इसकी अत्यल्प मात्रा मुंह, नाक, कान तथा खुली त्वचा से प्रवेश करके व्यक्ति को संज्ञाशून्य कर देने के लिये पर्याप्त है।

आरंभ में कहा जा चुका है कि रसायन को युद्ध से पृथक् नहीं किया जा सकता। डाइनेमाइट बमवर्षा, आग के गोले फेंकने, धुयें के बादल उठाना तथा राकेट जैसे आग्नेयास्त्रों का प्रयोग करना, ये सब रसायन युद्ध के ही तो रूप स्वरूप हैं। हां, मोटे तौर पर रासायनिक युद्ध यह उसे कह लिया जाता है, जिसमें विषैली गैसों का प्रयोग खुलकर किया गया हो। द्वितीय महायुद्ध तक मुख्यतः निम्नांकित चार प्रकारों की विष-गैसों का प्रयोग हुआ था :—

1—अश्रुकारक : इस श्रेणी की गैसों से आंखें इस प्रकार अश्रुप्लावित हो आती हैं कि सैनिक की दृष्टि ही अवरुद्ध हो जाती है और कुछ भी नजर न आ पाने के कारण वह निस्सहाय हो जाता है। उपद्रवकारी भीड़ों को तितर बितर करने के लिए आज-कल की अश्रुगैस इसी का एक मंद स्वरूप है। इसे बनाने के लिए जाइलाइल ब्रोमाइड तथा इथाइलआयोडोऐसीटेट प्रयुक्त किये जाते हैं।

2—फुप्फुस प्रदाहक : ये गैस फेफड़ों को तुरंत ही प्रभाविक कर देती है।

इस श्रेणी को फास्जीन तथा क्लोरोपिक्रिन गैसें फेफड़ों में असहनीय जलन उत्पन्न करती है।

3–छींक-उत्पादक : ये गैसें आंख, नाक और फेफड़ों को पकड़ में लेकर छीकों के मारे बुरा हाल कर देती हैं। ये गैसें मुखौटे तक में प्रवेश कर जाती हैं। बस, बेचारा सैनिक छींकों से घबराकर मुखौटा उतार फेंकता है। फिर तो इन गैसों की और भी बनती है। इन गैसों में संखिए की भी मात्रा मिश्रित रहती है, जिसके कारण इनसे प्राणहानि की भी संभावना कम नहीं। क्लोरआरसीन गैस इनमें प्रमुख है।

4–ब्रणकारक : इन गैसों से शरीर पर भयंकर फफोले उठ आते हैं। बहुत बदनाम मस्टर्ड-गैस इसी श्रेणी में आती है। संखिया-मिश्रित गैस-लेविसाइट भी इसी में सम्मिलित है। इनसे उत्पन्न फफोले बड़ी पीड़ा देते हैं। यदि इनकी किंचित भी मात्रा फेफड़ों में प्रवेश कर जाए तो प्राणों पर आ बनती है। इनसे बचने के लिए मुखौटे के अतिरिक्त अन्य भी रक्षक-परिधान पहिनने पड़ते हैं।

इधर के वर्षों अमेरिकी रसायनज्ञों ने नये-नये प्रयोग करके इन मनोबलहारी रसायनों के अनेक नये नुस्खे दिये हैं। उदाहरणार्थ, डाइमिथाइलएमाइड नामक लाइसर्जिक अम्ल को एरगट के अम्ल से संश्लेषित कर लिया जाता है। इस विधि से प्राप्त अम्ल को एक संक्षिप्त नाम दिया गया है। इसकी 0.05 मिलीग्राम अत्यल्प मात्रा मस्तिष्क का संतुलन विच्छिन्न कर देने के लिए पर्याप्त है। यही मात्रा 50 मिलीग्राम कर देने पर घातक बन जाती है। इससे कुछ अंशों में कम प्रभावकारी है–साइलोसिन।

कांटे से कांटा निकालते हैं

वैज्ञानिकों ने इन फूलों से भी फूल चुनने के प्रयासों में कोई कसर नहीं उठा रखी है। उदाहरणार्थ, द्वितीय महायुद्ध के दौरान में एक बंदरगाहो पर तरल मस्टर्ड भरा जहाज गोले का निशाना बन गया तो उससे वह मस्टर्ड जहाज के तरल ईंधन से मिश्रित होकर समुद्र की सतह पर बह निकला। नाइट्रोजन-प्रचुर तो वह मिश्रण था ही। युद्धोपरांत नित्य के सागर-स्नानार्थियों को इस मिश्रण से प्रभावित पाया गया तो देखा कि वे शरीर में श्वेतरक्ताणुओं के अभाव से पीड़ित थे। अब तो जैववैज्ञानिकों को यह सोचने का नया विषय मिल गया कि मस्टर्ड श्रेणी के रसायनिक मिश्रणों का उपयोग विपरीत अवस्था में, श्वेत रक्ताणुओं की अस्वाभाविक वृद्धि रोकने के लिए किया जा सकता है या नहीं। इन प्रयोगों को

अंततः कुष्ट रोग के निरोध के नुस्खे ढूंढ़ने तक बढ़ा ले जाने में अमेरिकी वैज्ञानिक प्रयत्न-रत हैं।

इसी प्रकार मिश्रणों से ऐसा भी नुस्खा तैयार किया गया है जो भोजन को विषाक्त करने के अब तक ज्ञात पांचों प्रकार को निष्क्रिय कर देने में समर्थ है। इन्हीं से एक ऐसा टीका भी तैयार किया गया है जो चौपायों को प्रायः ही हो जाने वाले और छूत द्वारा मनुष्यों की भी लपेट में ले लेने वाले गिल्टी रोग का प्रबल निरोधक सिद्ध होगा।

सुरक्षा के विभिन्न प्रकार

यह सिद्धांत की बात है कि इलाज में सर खपाने से पहले रोग की रोकथाम तथा अपनी सुरक्षा का प्रत्येक संभव प्रयास कर लेना बुद्धिमानी है। अतः इन विष-गैसों के आक्रमण से सुरक्षा के लिये क्या-क्या पूर्व तैयारियां करना संभव है, इसके प्रति भी वैज्ञानिक सजग, सचेष्ट हैं। सोवियत वैज्ञानिकों के प्रयोगानुसार सैन्य-टुकड़ियों को मानो सामूहिक स्नान के रूप में सुरक्षात्मक औषधियों के झीने गैस गुब्बारे से गुजारा जाता है। अमेरिकी वैज्ञानिक इस प्रयोग से अर्द्धसहमत हैं और शेष अर्द्धांश पर असहमति प्रकट करते हैं। उनका तर्क है कि ऐसा अवरोधक औषधियां इंजेक्शन के रूप में दी जाने पर एक प्रभाव रखता है, और उपरोक्त प्रकार से गैस-स्नान दिये जाने पर भिन्न ही प्रभाव दिखा सकती हैं। फिर, यह भी तो निश्चित नहीं कहा गया कि इस गुब्बारे में से सैन्य-टुकड़ी को रेंगकर, चलकर, ठहर-ठहर कर या दौड़ाकर गुजारा जाए। उनके ठहरने की अवधि पर भी तो बहुत कुछ निर्भर रहेगा। अतः इसका निर्धारण हो जाने तक वे इसे इन्जेक्शन रूप में ही देने के पक्ष में हैं।

इनके अतिरिक्त कुछेक ऐसे पोर्टेबुल यंत्र भी तैयार किये जा रहे हैं, जो कैमरे की भांति गले में लटकाये जा सकते हैं। इनमें अवरक्त किरणों का प्रयोग मुख्यतः होता है। दीर्घगामी अवरक्त-रश्मि युक्त ऐसे यंत्र को संक्षिप्त नाम-**लोपेयर** दिया गया है। वायुमण्डल में विषाक्त गैसों की तो बात दूर, नित्य ही छाये रहनेवाले धुंध, धुयें और रोगप्रसारक धूल तक की उपस्थिति, यह यंत्र एक सूचक प्रकाश तथा ध्वनि-संकेत देकर बता देता है।

एक और, नया प्रयोग है जिबेरेलिन का। यह संश्लेषित पदार्थ पेड़-पौधों के फैलाव को नियंत्रित करता है। वैज्ञानिकों ने इसे और भी तीव्र करके वह सामर्थ्य

दे दी है जो जिस पेड़ पर इसकी नजर पड़ जाए (शिव के तृतीय नेत्र की भांति) वह पत्रहीन होकर उड़ जाए मानो कपड़े-लत्ते (चीरहरण ही तो) किया जा सकता है। छिपकर हमला करनेवाले गुरिल्ला छापामारों और घुसपैठियों को इसके अतिरिक्त और किस संवाद से सबसे बड़ा सदमा पहुंच सकता है?

यह है रसायन युद्धक्षेत्र में हमारा शत्रु और हमारा मित्र भी!

51

कीटों की रंगीली दुनिया*

प्रेमानंद चंदोला

सृष्टि के इन नन्हें प्राणियों से मानव का परिचय तभी से हो जाता है, जब बच्चे भौंरों व तितलियों को फूलों पर मंडराते देखकर उनके पीछे दौड़ते हैं। इसी परिचय के आधार पर ही तो हम वातावरण में गूंजती हुई विशेष ध्वनि को सुनकर कह सकते हैं कि कहीं मधुमक्खी, मच्छर या बर्र उड़ रहे हैं। पढ़ते समय रात को लैंप या रोशनी के इर्द-गिर्द चक्कर काटते हुए तथा मरकर गिरे हुए पतंगों से भी कोई अपरिचित नहीं! यों तो पतंगें भी कीट ही हैं; परंतु चूंकि ये मनचले, आवारा और रात्रिचर होते हैं, इसलिये इन्हें पतंगों या परवानों के विशेष नाम से पुकारा जाता है।

कुछ कीड़े हमारे मित्र होते हैं और कुछ शत्रु। मित्र वे जो हमें लाभ पहुंचाते हैं, और शत्रु वे जो रोगकारी के रूप में या अन्य किसी प्रकार हमें, हमारी फसलों, पौधों, जानवरों, मवेशियों आदि को हानि पहुंचाते हैं। लाभदायक कीड़ों में मुख्य हैं—शहद की मक्खी, रेशम का कीड़ा, लाख का कीड़ा, तितली, भौंरे, फूलों में परागण करने वाले कीट-पतंगे एवं हानिकारक कीड़ों को नष्ट करने वाले कीट। वैज्ञानिक व औद्योगिक उन्नति के द्वारा कृत्रिम रूप से हम रेयान, नाइलान, ड्रलान, टेरिलिन, डैक्रान आदि कितने ही वस्त्र क्यों न बना लें, लेकिन इन सबमें रेशम की-सी बात कहां?

किंतु उपयोगी कीड़ों से अधिक भरमार हानिकारक कीड़ों की है, जिसमें टिड्डे, मक्खी, मच्छर, खटमल, जूं, पिस्सू, भृंग (बीटल), भुनगे, बेधक, इल्ली, चींटी, दीमक, बर्र, ततैया आदि की हरकतों से सभी भली-भांति परिचित हैं।

* विज्ञान, जनवरी 1967

'कीड़े' कहने पर हमारे मन में किसी अतिसूक्ष्म जीव की ही कल्पना होती है; पर बड़े कीड़ों की भी कमी नहीं। हमारे अपने देश के 'एटलस' नामक पतंगे के पंखों का फैलाव 12 इंच के लगभग होता है। वस्तुतः सुई के छेद में से पार हो जाने वाले सूक्ष्म भृंगों (बीटल) से लेकर विशाल 15 इचं लंबे 'वाकिंग-स्टिक' नामक कीट तक इनके छोटे-बड़े आकार होते हैं। प्राचीन काल के जीवाश्मों (फासिलों) के अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उस समय तक ऐसी विशालकाय मक्खी 'ड्रैगन फ्लाई' होती थी, जिसका एक पंख ही करीब ढाई फुट के फैलाव का होता था। जीवाश्मों से यह भी ज्ञात होता है कि मनुष्य के आने से बहुत पहले, अर्थात् आज से 20 करोड़ वर्ष पूर्व पृथ्वी पर प्राणियों के प्रतिनिधियों के रूप में ये कीट या कीड़े ही विराजमान थे।

मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि प्राणि-जातियों में 70 प्रतिशत कीड़े ही हैं। ये पृथ्वी, हवा, भूमि, मीठे व खारे जल आदि सभी प्रकार के वातावरण में बड़े मजे में जीवन बिता लेते हैं। मनुष्यों, जानवरों व पौधों के शरीर में भी ये बाहरी व आंतरिक परजीवी (पैरासाइट) के रूप में रहकर मुफ्त का माल उड़ाते हैं।

ऊंचाई-निचाई, ठंड-गर्मी व नमी-खुश्की आदि का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऊंचे पहाड़ों से लेकर पृथ्वी की अतल गहराई में और ठंडे बर्फीले ध्रुवीय प्रदेशों से लेकर गर्म रेगिस्तानों तक सर्वत्र इनका साम्राज्य है। 20 हजार फुट से ऊंचे पहाड़ों और पृथ्वी-तल से 18 हजार फुट नीचे गहराई में भी ये अविचलित रहकर जीवनयापन करते हैं। हिमायल, आल्प्स, ऐंडीज आदि पर्वतों पर पर्वतारोहियों ने कुछ योगी कीड़ों को हिमांक के निकट के तापमान वाली चट्टानी दरारों में सक्रिय अवस्था में देखा है। इससे आश्चर्य की बात तो यह है कि कुछ कीड़े गर्म सोतों की मिट्टी में धूनी रमाये रहते हैं, जहां पानी करीब-करीब उबलता रहता है।

सन् 1832 में अटलांटिक महासागर की यात्रा के दौरान दक्षिण अमरीका से 540 मील दूर सेट पाल द्वीप का निरीक्षण करके चार्ल्स डार्विन ने अपनी डायरी में लिखा था—"यहां इस द्वीप में कोई क्षुद्र शेवाल (लाइकेन) का पौधा तक नहीं उगता; लेकिन कई प्रकार के कीड़े-मकोड़े जरूर नजर आते हैं।"

वैसे अनेक छोटे-मोटे प्राणियों को भी हम बोलचाल में कीड़ा कह देते हैं। परंतु सभी छोटे जंतु कीड़े नहीं होते। कीड़ों की अपनी कुछ विशेषताएं हैं, जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि अमुक जंतु कीड़ा है। उनकी सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि प्रौढ़ अवस्था में उनमें गिनती के केवल तीन जोड़ी टांगें होती हैं। साथ

ही शरीर तीन सुस्पष्ट भागों—सिर, वक्ष व उदर—में विभाजित होता है। (अंग्रेजी में कीट का पर्याय है 'इन्सेक्ट' शब्द जिसका यौगिक अर्थ है ''स्पष्ट भागों में बंटा हुआ''।) इनकी दूसरी प्रमुख विशेषता है, वक्ष में सामान्य तथा दो जोड़ी पंखों की उपस्थिति। बिना हड्डीवाले जंतुओं में केवल ये ही ऐसे हैं, जो कि उड़ भी सकते हैं और पक्षियों के साथ आकाश के अधिपति कहलाने का श्रेय प्राप्त करते हैं।

कीड़ों की बातें सचमुच अनोखी हैं। वे सांस लेते हैं, पर उनके फेफड़े नहीं होते। वे सुनते हैं, पर तुर्रा यह कि उनके कान नदारद। वे सूंघते हैं, पर बिना नाक के। उनके दिल होता तो है, पर हमारी तरह का नहीं। उनके चलने, उड़ने, रहने और देखने तक की सब क्रियाएं एक अजूबा हैं।

कीड़ों के जीवन का प्रारंभ कई प्रकार से होता है। और उनके जीवन-क्रम में दो, तीन या चार विभिन्न प्रकार की अवस्थाएं आती हैं। मधुमक्खी, बर्रे, भृङ्ग, तितली, पतंग, मक्खी, मच्छर आदि कीटों में पूर्ण परिवर्तन या पूर्ण कायांतरण होता है। उनके जीवन में क्रमशः अंडे, डिम्भक या लार्वा, प्यूपा और प्रौढ़—ये चार अवस्थाएं होती हैं। किंतु इसके विपरीत कुछ कीट ऐसे होते हैं, जो बीच की एक या अधिक अवस्थाओं को लांघ जाते हैं। कीट-शास्त्र में ऐसे कीटों को 'अपूर्ण परिवंर्तन' अथवा 'अपूर्ण कायांतरण' वाले कीट कहते हैं। झींगुर, टिड्डे, तिलचट्टे आदि ऐसे ही कीट हैं।

कुछ कीट अंडे से नहीं फूटते, बल्कि सीधे नन्हें कीट के रूप में जन्म लेते हैं, जैसे मध्य ग्रीष्म में जन्मने वाले ऐफिड या लाही। कुछ ऐफिड तो इतने विचित्र होते हैं कि बिना निषेचन हुये ही कुंआरी माता के पेट से उत्पन्न हो जाते हैं, जो प्रकृति की एक आश्चर्यजनक घटना है।

कीटों का भोजन

खाने के मामले में भी कीड़ों में बड़ी विभिन्नताएं हैं। तिलचट्टे सीमेंट व कंक्रीट को छोड़कर सभी कुछ खा जाते हैं; क्योंकि उनके जबड़े बड़े कड़े होते हैं। लेकिन कुछ कीट इतने नाजुक मिजाज होते हैं कि बस पराग-कणों का ही आहार करते हैं। कुछ सड़ते-गलते जानवरों को अपना भोजन बनाते हैं, कुछ लकड़ी को ही। ऐफिड अपने पैने मुखांगों से पौधों का सारा रस कोकाकोला की तरह पी जाते हैं। ड्रैगन फ्लाई हवा में उड़ते-उड़ते ही झपट्टा मारकर अन्य कीड़ों को चट कर जाती हैं।

कुछ शाकाहारी होने के कारण केवल पत्तियां ही चरते हैं; कुछ कीड़ों की रुचियों में शैशव व प्रौढ़वस्था में जमीन-आसमान का अंतर होता है। प्रौढ़ बर्रें तो फूलों के मकरंद का ही सेवन करके अघा जाते हैं। परंतु शिशु बर्रों का यह हाल है कि बिना गोश्त खाये इन बिगड़े नवाबी को तृप्ति ही नहीं होती। कहीं मियां-बीवी की रसोई अलग-अलग पकती है। मच्छर महाशय तो मकरंद पीकर ही तृप्त रहते हैं, पर मच्छरी जी का यह हाल है कि उनकी प्यास तब तक नहीं बुझती, जब तक कि वे हमारा खून नहीं चूस लेतीं।

कीटों में वर्ग भेद

मनुष्यों की भांति कीटों में भी शिकारी, बहेलिये, किसान, सेठ, मेहतर व मिस्त्री आदि अनेक तबके होते हैं। 'राबर फ्लाई' अपने चुस्त पंखों की सहायता से, छोटे उड़नेवाले कीटों पर बाज की तरह झपट्टा मारती है और फिर आराम से बैठकर उनका भोग लगाती है। शिकारी कीटों में सबसे मनोरंजक है मेन्टिस, जिसे अंग्रेजी में 'प्रेइंग मेन्ट्स' कहते हैं। अंग्रेजी में 'प्रेइंग' शब्द दो अलग हिज्जों से लिखा जाता है, जिनमें एक का अर्थ 'शिकार करने वाला' और दूसरे का 'प्रार्थना करने वाला' है। मेन्टिस पर ये दोनों ही अर्थ लागू होते हैं। हरे रंग का होने के कारण हरी पत्तियों व धास के बीच अपने को छिपकर और बगैर हिले-डुले यह चुप पड़ा रहता है। इसकी अलग टांगें आगे की ओर इस प्रकार रखी रहती हैं कि मानों यह भगवान् से प्रार्थना कर रहा हो। ऐसे में यदि कोई कीड़ा भूले-भटके उधर आ निकलता है, तो वह तुरंत बिजली की चुस्ती से अपनी चिमटीनुमा मजबूत टांगों से उसे जकड़ लेता है और जबड़ों के हवाले कर देता है।

कैरियन नाम के बीटल की घ्राणशक्ति इतनी तीव्र होती है कि मीलों दूर से यह मरे हुए जानवरों की गंध सूंघ लेता है और आकर मुर्दे को सफा-चट कर डालता है। ग्र:इलोटैल्पा या छछूंदरी झींगुर जमीन खोदकर मिट्टी के अंदर रहता है। इसलिए प्रकृति ने उसका सिर नुकीला बनाया है। चींटियों की कुछ जातियां जमीन के नीचे अपने घरों में वनस्पति पदार्थों को बिछाकर उस पर एक प्रकार की फफूंदी या कवक उगाती हैं और उससे अपना भोजन तैयार करती हैं। ब्लैकमार्केट करने वालों की तरह ये जमीन के नीचे अपने गोदामों में अनाज आदि भोज्य पदार्थों को भी जमा करती हैं।

कीटों का सारा आचार-व्यवहार संस्कार-चालित होता है। वस्तुतः इनका जीवन-काल इतना छोटा होता है कि उस अवधि में से इतना समय कहां कि

ये बेचारे कुछ सीख सकें। कागज बनाने वाले बर्रे के उदाहरण से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। ये बिना किसी से ट्रनिंग पाये ही कोठों का निर्माण करते हैं, बड़े करीने से अंडे देते हैं और नन्हें शिशुओं के पालन-पोषण का ध्यान रखते हैं।

कीड़े जब थक जाते हैं तो रात में या अंधेरे में हमारी तरह सो भी जाते हैं, परंतु आंखें खुली रखकर। कुछ प्रकार के राबर-फ्लाई रात में पैरों के नखों के बल लटककर सोते हैं। लेकिन परवाने बेचैनी में रात-भर सोते नहीं। शमा पर इनके कुर्बान हो जाने की वैज्ञानिक व्याख्या यह है कि इनकी आंखों पर जितनी तेजी से रोशनी गिरती है, उतनी ही तेज इनकी अनुचेष्टा होती है। फलस्वरूप इनकी पेशियां भी उतनी ही तीव्रता से उत्प्रेरित होती हैं और ये बेचारे अपने को रोक नहीं पाते और शमा की ओर लपक पड़ते हैं।

विभिन्न अंग

कीटों की आंखें दो प्रकार की होती हैं, जिन्हें साधारण और संयुक्त नेत्र कहते हैं। साधारण नेत्र केवल अंधेरे व प्रकाश के बोध के लिए और संयुक्त नेत्र देखने के लिए होते हैं। इनके एक नेत्र में हजारों लेंस और छोटी-छोटी ईकाइयां होती हैं; और प्रत्येक इकाई 'नेत्रक' कहलाती है। प्रत्येक सूक्ष्म नेत्रक दिखने वाली वस्तु के भिन्न-भिन्न भागों का बिंब ग्रहण करता है और अंततः सब नेत्रकों के बिंबों से मिलकर वस्तु का संपूर्ण बिंब बताता है। हमारी तरह नहीं कि एक आंख से ही पूरा आकृति एकबारगी दिख जाये।

आंखों की बात से याद आया। पानी के बीटलों को मानो प्रकृति ने ऐनक पहना दी है। उनको आंख की रचना द्विफोकसी' ऐनक जैसी होती है। यानी आंख दो भागों में बंटी होती है। ऊपरी भाग हवा में देखने के लिए होता है और निचला पानी में।

सूंघने का काम कीड़े सिर में स्थित शृंगिकाओं द्वारा करते हैं। ये संख्या में दो होती हैं और लंबे सींगों की तरह निकली होती है। रेशम के कीड़ों में नर कीटों की शृङ्गिकाएं इतनी गजब की होती हैं कि वे मादा कीड़ों की गंध को मीलों दूर से अनुभव कर लेते हैं।

हमारी तरह कीड़ों को ध्वनि का बोध होता है। परंतु उनके ध्वनिग्राही अंग उच्च्य प्राणियों के कानों से बिलकुल भिन्न होते हैं। टिड्डु व टिड्डियों के श्रवण-अंग उदर के पार्श्व में होते हैं। झींगुर के 'कान' अगली टांगों के जोड़ में और कुछ

तितलियों में पंखों के आधार पर स्थिति होते हैं। इनके अतिरिक्त शरीर के रोम भी ध्वनि-कंपन ग्रहण करने में सहायक होते हैं। कीड़ों में ध्वनि-उत्पादन मुंह से नहीं होता, बल्कि टांग, पंख व पेशियों में अवस्थित विशेष संरचनाओं की रगड़ से होता है।

कीटों की स्वाद-इंद्रियां कुछ मुख में और कुछ अन्य उपांगों में पायी जाती हैं। भोजन के स्वाद का उन्हें सूक्ष्म ज्ञान होता है। तितलियां नमक व चीनी के स्वाद का अनुभव हमारी अपेक्षा 200 गुना अधिक बारीकी से कर सकती हैं।

श्वसन की क्रिया कीटों में श्वास-नलिकाओं द्वारा होती है। इन नलिकाओं की बहुत-सी शाखाएं होती हैं। बाहरी सतह पर स्थित बारीक श्वासरंध्रों द्वारा वायु इन श्वास-नलिकाओं में अंदर खींची जाती है। रुधिर इनके शरीर में शिराओं व धमनियों में से होकर नहीं बहता, बल्कि खुले स्थानों से होकर बहता है। रुधिर हमारी तरह लाल रंग का नहीं, बल्कि रंगहीन, या ठीक से कहें तो हल्का हरा या पीला-सा होता है। इसलिए उसे 'रक्त' कहना ठीक न होगा :

कीटों का स्वभाव

एक कीट दूसरे कीट को संकेतों द्वारा अपनी बात समझाता है। कुछ नर कीट मादाओं को अपनी ध्वनि द्वारा आकर्षित करते हैं, क्योंकि जिसका संगीत सुरीला होता है, उसकी तरफ ही मादा खिंची चली जाती है। मादा झींगुर अथवा मादा टिड्डे को यदि टेलिफोन के रिसीवर के नजदीक रख दिया जाये और दूर ट्रांसमिटर से नर की ध्वनि उत्पन्न करायी जाये, तो उसे सुनते ही मादा रिसीवर की ओर लपक पड़ेगी।

रात के अंधकार में जुगनु अपने उदर के चमकनेवाले भाग के ठंडे प्रकाश से और चीटियां अपनी शृंगिकाओं के अजीबोगरीब संचालन से इशारे करती हैं। इसी तरह अन्य कीटों की भी अपनी-अपनी छद्म-भाषाएं हैं, जिन्हें तार बाबुओं की तरह वे ही समझ सकते हैं।

कुछ कीड़ों की स्मरण-शक्ति बहुत ही तेज पायी गयी है। मधु-मक्खियां, शिकारी बर्रे और चीटियां याददाश्त के मामले में अपना सानी नहीं रखतीं। चींटियों पर भूलभुलैये वाले प्रयोग करके देखा गया है कि वे घूम-फिरकर फिर अपने स्थान पर पहुंच ही जाती हैं। किंतु सामान्य मक्खियों की स्मरण-शक्ति बहुत कमजोर होती है।

कीटों की आयु

उम्र के मामले में सब कीड़े एक समान नहीं होते। प्रौढ़ 'मेफ्लाई' की जीवन-अवधि प्रायः कुछ घंटे की या अधिक से अधिक एक दिन की होती है। इसलिए उसे 'दिवस-जीवी' कहते हैं। सिकैडा नामक कीट का जीवन-इतिहास 17 वर्ष से भी अधिक लंबा चलता है। कुछ कीड़े जाड़ों में कुंभकर्ण के वंशज बन जाते हैं। जाड़ों में वे चुपचाप बगैर हिले-डुले शीत-निष्क्रियता (हाइबर्नेशन) में चले जाते हैं और कुछ भी खाते-पीते नहीं। बस पहले के अर्जित किये हुए भोजन पर ही आश्रित रहते हैं।

इसका सबसे अच्छा उदाहरण है आपके चिर-परिचित खटमलों का। वे सर्दियों में दीवारों, दरारों, चारपाई के पायों व छेदों में सड़े-गले कागज जैसे बनकर चुपचाप पड़े रहते हैं; लेकिन गर्मी आने पर आपका खून चूसने के लिए भूखे भेड़ियों की तरह टूट पड़ते हैं।

कीड़ों की निरालेपन की हमने काफी चर्चा कर ली; अब जरा रंगों के बारे में भी जान लें। इस लेख का शीर्षक भी तो हमने रखा है—"कीड़े—कितने रंगीले, कितने निराले"। प्रायः कीड़ों में यह गुण होता है कि वे जिस वातावरण में रहते हैं, वैसे ही रंग के हो जाते हैं। यह खूबी उनकी आत्मरक्षा में सहायक होती है। कीड़ों के रंग प्रायः कुछ वर्णकों पर निर्भर होते हैं, जो उन्हें भोजन से प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए कई इल्लियां पत्ते खाकर उनके पर्णहरित (क्लोरोफिल) के कारण हरे रंग की हो जाती है।

(नवनीत से साभार)

चिन्तनपरक

नैतिक मूल्यों पर विज्ञान का प्रभाव*

रामचरण मेहरोत्रा तथा *राम अचल मिश्र*

विश्व की ऐसी कोई महान् पुस्तक या कलाकृति नहीं है जिसे पुराने दकियानूसों ने अनैतिक न बताया हो। चाहे वह शरत् बाबू का 'चरित्रहीन' हो या कवि शैली की पद्य-रचनायें, दोनों को ही कभी अनैतिक समझा गया था। समय के साथ-साथ विचारों में परिवर्तन आया, फलतः वही कृतियां बाद में प्रशंसित हुईं। परंतु विज्ञान के बारे में आज भी पुरानी धारणायें बनी हुई हैं।

विज्ञान चाहे जो भी हो परंतु **इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि विज्ञान सत्य और ज्ञान पर टिका है।** नैतिकता की सभी पद्धतियां इन्हीं दोनों को अपना आदर्श मानती हैं। ऐसी दशा में यह समझ में नहीं आता कि लोग विज्ञान को अनैतिक क्यों कहते हैं।

मानवीय गुणों एवं विज्ञान के आदर्शों में कितनी समानता है वह इस बात से ज्ञात होती है कि द्रोनों ही पूर्णता की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हैं। यही मानव धर्म का महान् सिद्धांत है और इसको विज्ञान-आदर्शों का स्वरूप भी प्रदान किया गया है।

विज्ञान के महान् नैतिक मूल्य उसकी अपूर्णता की भावना में ही निहित है। हर बार विज्ञान का विद्यार्थी महान् न्यूटन की भांति सोचने पर बाध्य हो जाता है कि अभी वह ज्ञान रूपी अथाह सागर के तट पर ही खड़ा हो पाया है। **वैज्ञानिक सदैव जिज्ञासु बना रहता है।** उसे अपने मापों की शुद्धता या अशुद्धता का अनुमान रहता है। मानवीय ज्ञान के विकास में उसकी वास्तविक देन, उसका व्यक्तिगत निरीक्षण या परिमापन नहीं वरन् बिखरे आंकड़ों को परस्पर संबंध करना, उन्हें

* विज्ञान, अक्टूबर 1967

क्रम देना और उनसे नियम प्रतिपादन करना है। **इन प्रतिपादित नियमों को वह बराबर आदर देता है।** परंतु इनके मानने में वह निर्विवाद आज्ञाकारिता नहीं दिखाता। जब कभी उसे यह प्रतीत होता है कि उसके द्वारा अवलोकित नवीन तथ्य पूर्व प्रतिपादित परिकल्पना में ठीक नहीं बैठ रहे हैं तो वह अपने उन पुराने सिद्धांतों को सुधारने या अमान्य करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाता।

मत-भेदों के होते हुए भी वैज्ञानिक अपने पहले के कार्यकर्ताओं, जिनके सिद्धांतों को उसने सुधारा या असिद्ध कर दिया है, बड़ा आदर देता है। आइन्सटीन ने यद्यपि न्यूटन के गति संबंधी सिद्धांतों को मूलतः परिवर्तित कर दिया, फिर भी आजकल न्यूटन की प्रतिष्ठा वैसी ही है। आइन्सटीन के सापेक्षता सिद्धांत में भी आज का वैज्ञानिक संदेह प्रगट करने लगता है लेकिन इससे आइन्सटीन का महत्त्व किसी तरह कम तो नहीं हुआ।

विज्ञान की महानता विचारों की स्वतंत्रता, तथा उनकी भौतिकता और मतभेद में ही निहित है। विज्ञान में व्यक्ति भेद का कोई महत्त्व नहीं है। विज्ञान के इन्हीं गुणों से प्रेरित होकर मनुष्य उदार बन गया है। आज हम बालकों के रेखाचित्रों को मौलिकता और फूलों के सजाने के ढंग को आविष्कार तक की संज्ञा दे देते हैं।

विचारों एवं मतभेद की स्वतंत्रता आज राष्ट्रों की प्रगति की कसौटी बन गये हैं। आज मस्तिष्क की मौलिकता एवं स्वतंत्रता पर ऊंचे पुरस्कार भी रखे गये हैं। बारिस पास्तरनेक और मार्टिन लुथर किंग इन्हीं गुणों के नाते पुरस्कृत हुए। **वैज्ञानिकों का समाज एक कुशल प्रजातंत्र है जहां मतभेद और समादर दोनों का पवित्र संगम है।**

विज्ञान और उनके मतभेद की प्रवृत्ति को प्रायः इस बात का दोषी ठहराया गया है कि यह पुराने तथा नये वर्ग में, पिछले और आने वाली पीढ़ी के बीच विद्रोह की भावना पैदा करता है। पर वास्वतिकता यह नहीं है। वैज्ञानिक भी इतर मनुष्य की भांति भूल कर सकता है पर वह उसे स्वभाववश बिना किसी पीड़ा या आवेग के सुधार लेता है।

विज्ञान की पद्धति में पिछली पीढ़ी की भूलें और कमियां ही अगली पीढ़ी द्वारा स्वीकृत यथार्थताओं तथा सिद्धांतों का मार्ग प्रदर्शन करती है। वास्तव में विज्ञान का महान शिक्षक अपने विद्यार्थियों को बारंबार यही समझाता है कि समस्त ज्ञान अपूर्ण है और इसी अपूर्णता में भविष्य की प्रगति निहित है।

विज्ञान ने मानव समाज को जिस विश्वबन्धुता की भावना से भरा है, उसका

अंतर्राष्ट्रीय रूप कई बार सामने आया है। नेपोलियन द्वारा स्थापित संस्थापक के रोष तथा 1807 के एंग्ली-फ्रेंच युद्ध के बावजूद ब्रिटेन निवासी हम्फ्री डैवी को प्रथम पुरस्कार दिया। वैज्ञनिकों में पारस्परिक प्रेम और आदर की भावना द्वितीय विश्व-युद्ध में अधिक स्पष्ट रूप से प्रगट हुई जबकि नाजियों द्वारा सताये गये अपने साथियों का संसार के हर भाग के वैज्ञानिकों ने हार्दिक स्वागत किया।

दल में कार्य करने की प्रवृत्ति द्वारा तथा पारस्परिक विनियम के गुण आज के अनुसन्धान के विशिष्टि अंग बन गये हैं। भाग्यवश 'जियोफिजिकल वर्ष' और 'समुद्री-अध्ययन' जैसी नई योजनायें अंतर्राष्ट्रीय सहकारिता एवं सहानुभूति के साथ पूरी की जा रही हैं। 'परमाणु शक्ति' और 'एस्ट्रोनाटिक्स' जैसे क्षेत्रों में भी, जो कि वैज्ञानिक प्रगति के ऊंचे स्वरूप है, उसी सहकारिता तथा उत्साह की भावना अंकुरित होती सी प्रतीत होती है।

विज्ञान के जीव-रासायनिक (बायोकेमिकल) क्षेत्र की चमत्कारिक उन्नति ने हमारे नैतिक मूल्यों पर विशेष प्रभाव डाला है। आज का वैज्ञानिक जानता है कि प्रत्येक विकृत विचार के पीछे विकृत अणु अवस्थित है। इस दृष्टिकोण से हम अपराध की भावना को सहिष्णुता की दृष्टि से देखते हैं। विशिष्ट औषधियों के प्रयोग द्वारा समाज को सदाचार सिखाने की संभावनायें अब दूर नहीं है। समाज को पूरी आशा है कि वैज्ञानिक विचारों की उत्तरोत्तर प्रगति द्वारा तर्कसंगत मानवीय आदर्श यथैष्ट रूप में इतने उठ सकेंगे कि हम विज्ञान प्रदत्त शक्तियों का दुरुपयोग संहार के लिए नहीं करेंगे।

53

इलेक्ट्रान की खोज*

श्रवण कुमार तिवारी

'अणेरणीयान् महतोमहीयान्' की धारणा अध्यात्मिक है, परंतु आधुनिक विज्ञान ने इसके भौतिक पक्ष को भी अक्षरशः सत्य प्रमाणित कर दिया है। ईश्वर को अभिव्यक्त करने वाली संपूर्ण सृष्टि 'महतो महीयान' तथा 'अणोरणीयान्' को भी अपने आप में समेटे हुए हैं। इसमें ऐसे भी आकशीय पिण्ड हैं जिनका आकार हमारी पृथ्वी से हजारों, लाखों गुना बड़ा है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि अंतरिक्ष में ऐसे भ्रमणशील पिण्ड भी हैं जिनसे कई सूर्य निकल सकते हैं। इसके विपरीत सूक्ष्म विश्लेषणों द्वारा वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक पदार्थ अत्यंत छोटे-छोटे कणों से बना है। इन कणों को परमाणु कहा जाता है। दो या दो से अधिक परमाणु मिलकर नये-नये कण बना लेते हैं। इन कणों को अणु कहा जाता है। किसी पदार्थ का अणु उस पदार्थ के समस्त भौतिक गुणों को संजोये रहता है। वास्तव में पदार्थ की सबसे छोटी इकाई यही अणु होता है। अणु टूट जाने पर पदार्थ के गुण मूलरूप में नहीं रह जाते। पानी के एक अणु में 3 परमाणु होते हैं—हाइड्रोजन के 2 और ऑक्सीजन का 1। इनमें से किसी में भी पानी के गुण नहीं होते। ऑक्सीजन, हाइड्रोजन या कार्बन के किसी परमाणु को तोड़कर कोई अन्य नया परमाणु नहीं प्राप्त किया जा सकता है। ऐसे पदार्थों को तत्त्व कहा जाता है।

एक तत्त्व में केवल एक ही प्रकार के परमाणु होते हैं और ये अणु के रूप में होते हैं। अब तक वैज्ञानिकों ने कुल 104 प्रकार के परमाणुओं को खोज निकाला है। इन्हीं तत्त्वों में से किन्हीं दो या दो से अधिक के एकाधिक परमाणुओं से

---

* प्रज्ञा, मार्च 1968

मिलकर असंख्य प्रकार के भिन्न-भिन्न पदार्थ बने हैं। हो सकता है भविष्य में हमें और भी परमाणुओं की जानकारी प्राप्त हो जाय। अब तक जितने तत्त्व ज्ञात हैं उनमें हाइड्रोजन सबसे हल्का तत्त्व है। इसका परमाणु सबसे छोटा, सब प्रकार के परमाणुओं से हल्का और रचना में अपेक्षाकृत सरलतम है। अन्य तत्त्वों के परमाणु हाइड्रोजन परमाणु से भारी हैं। हीलियम नाम की गैस का परमाणु हाइड्रोजन-परमाणु से चार गुना भारी हैं, और लोहे का एक परमाणु इससे 56 गुना भारी है। तत्त्वों के परमाणुओं का यह अनुपात उनका परमाणुभार कहलाता है। लोहे का परमाणु भार 53 और पारे का 200 है। परमाणु अत्यंत छोटा होते हुए भी बड़ा ही रहस्यमय है। यदि यह कहा जाय कि परमाणु अपने आपमें एक पूर्ण 'सृष्टि' है तो अत्युक्ति न होगी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक वैज्ञानिकों को विश्वास था कि परमाणु ही पदार्थ का सबसे छोटा कण है, इसे तोड़ना असंभव है। परंतु बीसववीं सदी आरंभ होने से कृछ पूर्व ही यह विश्वास टूट गया और मनुष्य ने परमाणु को तीन प्रकार के अति-परमाणु कणों—इलेक्ट्रान, प्रोटान और न्यृट्रान से निर्मित पाया। इनमें इलेक्ट्रान सबसे हल्का है। यहां इसी इलेक्ट्रान की खोज का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

'इलेक्ट्रान' अद्‌भुत कण है। जितना ही छोटा और हल्का है उतना ही रहस्मय है। यह इाइड्रोजन के एक परमाणु से लगभग 1900 गुना हल्का है। हाइड्रोजन के एक परमाणु में केवल एक इलेक्ट्रान और 1 प्रोट्रान होता है। इसमें न्यूट्रान नहीं होता है। विद्युतीय गुणों के अनुसार इलेक्ट्रान ऋणात्मक है, प्रोट्रान धनात्मक है और न्यूट्रान उदासीन है। इलेक्ट्रान इन सबमें सबसे अधिक स्वतंत्र है। यदि किसी कारणवश एक भी इलेक्ट्रान परमाणु को छोड़कर अलग हो जाये तो परमाणु उत्तेजित हो जाता है। क्रमशः बड़े-बड़े परमाणुओं में इलेक्ट्रानों की संख्या बढ़ती जाती है। हीलियम के एक परमाणु में 2, ऑक्सीजन में 8, कार्बन में 6, तांबे में 29, लोहे में 26 और पारे में 80 इलेक्ट्रान होते हैं। धातुओं के परमाणुओं में पाये जाने वाले इलेक्ट्रान तो हमारे लिये कल्पवृक्ष सिद्ध हुये हैं। विद्युतधारा इन्हीं से बनती है। रेडियो से ध्वनि का प्रसारण और टेलीविजन की संजयदृष्टि इलेक्ट्रानों की ही कृपा है। एक्स किरणों के जन्मदाता भी इलेक्ट्रान ही हैं। परमाणु केंद्र के इर्द-गिर्द ये कब कहां रहते हैं इसका ठीक-ठीक पता लगाने में वैज्ञानिक असमर्थ रहे हैं। गतिशील इलेक्ट्रानों की प्रकृति तो और भी रहस्यम प्रतीत होती है। बहुधा, ये इलेक्ट्रान वैज्ञनिकों को ऐसा चकमा देते हैं कि वे इलेक्ट्रान को 'कण' मानने में हिचकने लगते हैं और कहते हैं कि इलेक्ट्रान के साथ-साथ एक 'तरंग' भी चला करती है।

इलेक्ट्रान के प्रादुर्भाव की कहानी केवल 65 वर्ष पुरानी है। सत्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक घर्षण-विद्युत का आविष्कार हो चुका था। तब तक बहुत से ऐसे ठोस पदार्थों की खोज हो चुकी थी जिन्हें रेशम, ऊन या रोयेंदार खाल से रगड़कर 'विद्युन्मय' किया जा सकता है। किसी ठोस को विद्युन्मय करने का यह अर्थ होता है कि रगड़ने के बाद उसमें हल्की वस्तुओं–जैसे सूखे बाल, कार्क और कागज के नन्हें टुकड़े को आकर्षित करने का गुण आ जाता है। जिस अज्ञात रहस्मय कारण से यह गुण उत्पन्न होता था उसका रहस्य सर्वप्रथम आबनूस की लकड़ी में पाया गया था और **आवनूस की लकड़ी का ग्रीक नाम 'इलेक्ट्रान' है।** विद्युत-शक्ति के इस रूप का पता कब और कैसे लगा; इसका ठीक पता नहीं है परंतु इसके गुणों और उपयोगों की जानकारी के लिए भिन्न-भिन्न वैज्ञानिकों ने लगभग 100 वर्ष तक भगीरथ प्रयत्न किये हैं। आरंभिक **प्रयोगकर्त्ताओं में बेन्जामिन फ्रैंकलिन** का नाम बहुत प्रसिद्ध है। फ्रैंकलिन ने देखा कि शीशे की छड़ को रेशम से रगड़ने पर और आबनूस को फर से रगड़ने पर दोनों छड़ों में 'विद्युत्' उत्पन्न होती है, दोनों ही हल्की वस्तुओं को आकर्षित करते हैं, परंतु वे आपस में भी एक दूसरे को आकर्षित करते हैं। इसके विपरीत, रेशम से रगड़े हुए दो छड़ एक दूसरे को विकर्षित करते हैं। इस आधार पर फ्रैंकलिन ने अनुमान किया कि घर्षण विद्युत् दो प्रकार की होती है। शीशे की रेशम से रगड़ने पर जो विद्युत् उत्पन्न होती है वह धन-विद्युत् है, और आबनूस को फ़र से रगड़ने पर उत्पन्न होने वाली विद्युत ऋण-विद्युत है। आगे चलकर वैज्ञानिकों ने देखा कि विद्युत् उत्पन्न करने के लिये जिन दो वस्तुओं को आपस में रगड़ते हैं वे दोनों ही विद्युन्मय हो जाती हैं; उनमें से एक पर घन-विद्युत् और दूसरी पर ऋण-विद्युत् उत्पन्न होती है। शीशे को रेशम से रगड़ने पर शीशे पर धन-विद्युत् और रेशम पर ऋण-विद्युत् उत्पन्न होती है।

बेन्जामिन फ्रैंकलिन ने ही सर्वप्रथम यह सिद्ध किया कि वर्षाऋतु में बादलों के बीच चकाचौंध और गर्जन उत्पन्न करने वाली 'विद्युत्' वास्तव में घर्षण-विद्युत् ही होती है। बेन्जामिन का जीवन काल 1706 ई. से 1790 ई. तक रहा, और इस अवधि में उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण अनुसंधान किये। इन्हीं दिनों हेनरी कैवेंडिश और चार्ल्स कूलंब भी विद्युत् के गुणों की खोज में लगे हुए थे। विद्युन्मय वस्तुओं के पारस्परिक आकर्षण या विकर्षण की माप के लिये कूलम्ब ने गणितीय सूत्र ज्ञात किया। अट्ठारहवी शताब्दी के अंत तक घर्षण-विद्युत् की कुछ साधारण मशीनें भी बनने लगी परंतु वे मनुष्य के लिए उपयोग की नहीं, वरन् कौतूहल की वस्तुएं

थीं। इसी कौतूहल के पीछे मनुष्य की सहज जिज्ञासा छिपी रहती है। वैज्ञानिकों में यह जानने की प्रबल जिज्ञासा जगी कि आखिर घर्षण से विद्युत् उत्पन्न ही क्यों होती है? हम कहते हैं कि शीशे को रेशम से रगड़ने पर शीशा 'विद्युन्मय' हो गया, 'आवेशित' हो गया या उस पर 'विद्युत आवेश' आ गया। परन्तु ऐसा क्यों हुआ? शीशे पर 'क्या' आ गया? 'विद्युत आवेश' क्या है? इन प्रश्नों की गांठ खोजने के प्रयत्न में अगले 90 वर्ष लग गये और विद्युत् के कई सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ।

बेन्जामिन के समय तक विद्युतन (विद्युतीकरण) की व्याख्या करने तथा उक्त प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए जिस सिद्धांत का उपयोग किया जाता रहा, वह 'द्वि-तरल सिद्धांत' के नाम से प्रचलित था। इसका प्रतिपादन चार्ल्स ड्यूफ़े नामक वैज्ञानिक ने किया था। ड्यूफ़े का अनुमान था प्रत्येक पदार्थ में दो प्रकार के अदृश्य और भारहीन 'विद्युत-तरल' भरे रहते हैं। अनावेशित वस्तुओं में दोनों तरल समान मात्रा में होते हैं। इनमें से एक तरल को धन तरल और दूसरे को ऋण तरल कहा जा सकता है। घर्षण के कारण इन तरलों की मात्रा बदल जाती है। यदि वस्तु में ऋण तरल से अधिक हो जाये तो वह वस्तु ऋण विद्युन्मय हो जाती है। जब शीशे को रेशम से रगड़ते हैं, शीशे में से कुछ ऋण-तरल रेशम में चला जाता है अतः शीशा धन-विद्युन्मय और रेशम ऋण विद्युन्मय हो जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार यह काल्पनिक 'विद्युत-तरल' ही 'विद्युत-आवेश' था। बेन्जामिन ने एक नया सिद्धांत प्रतिपादित किया जिसे 'एक तरल' सिद्धांत कहा जाता है। बेन्जामिन का अनुमान था कि दो विद्युत तरलों की कल्पना अनावश्यक है। उन्होंने कहा कि प्रत्येक पदार्थ में, नियत मात्रा में, केवल एक प्रकार का 'विद्युत् तरल' भरा रहता है। जब इसकी मात्रा घट जाती है तब वस्तु ऋण-विद्युन्मय और जब इस तरल की मात्रा बढ़ जाती है, वस्तु धन-विद्युन्मय हो जाती है।

इन सिद्धांतों से 'विद्युन्मय' हो जाने का रहस्य तो समझ में आ जाता था परंतु अदृश्य, भारहीन और अद्भुत विद्युत-तरलों की कल्पना अपने आप में स्वयं एक गूढ़ रहस्य बन जाती थी। सहज ही मन में आशंका होती है कि ये तरल क्या है? कैसे हैं? और प्रत्येक वस्तु में कहां छिपे रहते हैं? विद्युत-शक्ति को मानव जीवन के लिए वरदान सिद्ध करने वाले प्रसिद्ध वैज्ञानिक माइकेल फैराडे ने इन तरलों की कल्पना को अर्थहीन समझा और एक नये सिद्धांत को जन्म दिया। परंतु फैराडे की कल्पना और भी रहस्यमय थी। फैराडे का अनुमान था कि संपूर्ण सृष्टि में, यहां तक कि प्रत्येक ठोस, द्रव और गैस के भीतर भी, एक सर्वव्यापी

तरल माध्यम फैला है। बाद में यही माध्यम 'ईथर' के नाम से संबोधित किया जाने लगा। फैराडे ने कहा था कि यही माध्यम ऊर्जा का आधार है। ऊर्जा इसी में सन्निहित रहती है। जब किन्हीं दो वस्तुओं को आपस में रगड़कर पृथक् करते हैं तो उनके बीच का अदृश्य माध्यम (ईथर) ठीक उसी प्रकार विकृत हो जाता है, या तन जाता है, जैसे खींचा हुआ रबर या ऐंठा हुआ स्प्रिंग। चूंकि घर्षित वस्तुएं विकृत (ताने या ऐंठे हुए) माध्यम के सिरों पर होती है, अतः माध्यम की विकृति का बोध इन्हीं पर हो सकता है। विकृति का यही प्रभाव उस वस्तु का विद्युन्मय होना कहलाता है। इस प्रकार फैराडे की यह धारणा थी कि 'विद्युत आवेश' ईथर की विकृति की एक अवस्था है जो संबंधित वस्तुओं के ऊपर 'आवेश' के रूप में प्रकट होती है। यह कल्पना बड़ी ही गूढ़ लगती है। पर जेम्स क्लार्क मैक्सवेल ने इसे गणितीय जामा पहनाकर इतना विकसित किया कि इसी के आधार पर विद्युत-चुंबकीय तरंगों की खोज हुई।

आगे चलकर लारेंज नाम के वैज्ञानिक ने विद्युत आवेश की व्याख्या के लिये नई विचार धारा को जन्म दिया। लारेंज ने कहा कि प्रत्येक पदार्थ में दो प्रकार के अत्यंत हल्के और नन्हें-नन्हें कण होते हैं, एक तो धन-विद्युन्मय और दूसरे ऋण-विद्युन्मय। उदासीन वस्तु में धनात्मक और ऋणात्मक कणों की संख्या बराबर रहती है। जब एक वस्तु को दूसरी से रगड़ा जाता है, उनमें इन कणों का आदान-प्रदान होता है। इसके फलस्वरूप जिस वस्तु में धन-कणों की संख्या ऋण-कणों की संख्या से बढ़ जाती है वह वस्तु धन विद्युन्मय हो जाती है और दूसरी ऋण-विद्युन्मय। इस सिद्धांत के अनुसार पदार्थ के नन्हें कणों की भांति विद्युत् के भी नन्हें कणों की कल्पना हुई। बाद में इन्हें 'विद्युत्-परमाणु' भी कहा जाने लगा। यह सिद्धांत वास्तव में द्वि-तरल सिद्धांत का संशोधित रूप था, जिसमें दो प्रकार के विद्युत् तरलों के स्थान पर दो प्रकार के विद्युत् कणों या विद्युत-परमाणुओं की कल्पना की गई थी।

अठारहवीं शताब्दी के अंत तक विद्युत् शक्ति के एक अन्य रूप की भी खोज हुई जो मनुष्य जीवन के लिये बड़ी ही लाभदायक सिद्ध हुई। इस रूप को 'धारा-विद्युत्' कहते हैं। इसके आविष्कार का श्रेय इटली के जीव विज्ञानवेत्ता लुई गैलवानी को है। सन् 1786 ई. में प्रो. गैलवानी जीव शरीर पर घर्षण विद्युत् के प्रभाव का अध्ययन कर रहे थे। उन्होंने देखा कि जब खाल उतारे हुए मेढक का मृत शरीर घर्षण-विद्युत-मशीन के दोनों सिरों को स्पर्श करता है तो उसमें एक झटका लगता है; मृत शरीर की मांसपेशियां सहसा संकुचित हो जाती हैं।

इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी देखा कि यदि मेढक के खाल उतारे हुए मृत शरीर को पीतल के हुक में इस प्रकार लटका दिया जाय कि उसकी टांगे लोहे, चांदी या किसी अन्य धातु से अत्यंत समीप हों तो धातु को स्पर्श करते ही उनमें मंद संकोच होता है : गैलवानी ने कहा कि मेढक के शरीर में 'जीव-विद्युत' है। सन् 1800 ई. में इटली के ही प्रो. एलीजान्ड्रो वोल्टा, गैलवानी के इस विचार से सहमत नहीं थे। उन्होंने गैलवानी के प्रयोग का लाभ उठाकर वोल्टा सेल बनाया और सिद्ध किया कि जब मेढक का मृत शरीर विद्युत-मशीन के सिरों को छूता है तो विद्युत् आवेश मृत शरीर से होकर मशीन के एक सिरे से दूसरे सिरे की ओर प्रवाहित होता है, मेढक के शरीर में विद्युत् नहीं होती है। इस प्रकार वोल्टा ने विद्युत-धारा का आविष्कार किया। वोल्टा सेल के आधार पर ही टार्च को जलाने वाली सूखी बैट्री बनी है।

धारा विद्युत् के आविष्कार ने भौतिक विज्ञान में भारी क्रांति उत्पन्न कर दी। वोल्टा सेल बनने के सप्ताह बाद ही निकोलसन और कार्लइसिल ने देखा कि जल में धारा प्रवाहित करने से हाइड्रोजन उत्पन्न होती है। सन् 1802 में सर हम्फ्रे डेवी ने इस तथ्य को भली-भांति समझा और विद्युत् विश्लेषण की घटना का आविष्कार किया। उन्होंने दिखाया कि जल में विद्युत् धारा प्रवाहित करने से आयतन के अनुसार दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग ऑक्सीजन उत्पन्न होती है। इस समय माइकेल फैराडे की आयु केवल 10 वर्ष थी। 20 वर्ष की अवस्था में (सन् 1812) फैराडे की मुलाकात डेवी से हुई और उन्होंने डेवी के रसायन-शास्त्र के चार सम्भाषण सुने। डेवी ने फैराडे की प्रतिभा भांप ली और उन्हें रायल संस्थान में 125 रु. मासिक वेतन पर सहायक उपकरण-संरक्षक का काम दिया। इस सुअवसर का फैराडे ने अद्भुत उपयोग किया और विद्युत् के प्रयोगों में संलग्न हो गये। सन् 1819 ई. में हांस क्रिस्चन औरैस्टड ने विद्युत् धारा के चुंबकीय प्रभाव का आविष्कार किया। उन्होंने देखा कि जिस तार में विद्युत् धारा प्रवाहित हो रही हो वह चुंबकीय सूई को प्रभावित करता है। फैराडे ने इस आविष्कार पर बड़ी तल्लीनता से अध्ययन आरंभ किया और सन् 1821 ई. में बिजली की मोटर के सिद्धांत की खोज की। उन्होंने अपना प्रयत्न जारी रखा और अनेक असफलताओं के बाद सन् 1831 ई. में सर्व प्रथम बिजली उन्पन्न करने वाला डायनमों बनाया।

डायनमों के आविष्कार के बाद फैराडे का ध्यान रसायनशास्त्र की ओर मुड़ा। उन्होंने विद्युत-विश्लेषण की क्रिया का विधिवत् अध्ययन किया और इस

क्रिया के महत्त्वपूर्ण नियमों की खोज की। इस क्रिया का अध्ययन ही इलेक्ट्रान की खोज में सर्वाधिक सहायक सिद्ध हुआ। इस समय तक धारा विद्युत् का विकास भलीभांति हो चुका था। औरैस्टेड के आविष्कार का लाभ उठाकर आन्द्रे मेरी ऐम्पियर ने विद्युतधारा की प्रबलता मापने के नियम और गणितीय सूत्र प्रतिपादित कर लिये थे। उस समय तक धारा मापने के साधारण यंत्र भी बनने लगे थे। ऐम्पियर के नाम पर ही धारा की इकाई का नाम 'ऐम्पियर' रख दिया गया था। फैराडे ने अम्लीय जल में, तूतिये के घोल में और चांदी के नाइट्रेट में विद्युतधारा प्रवाहित करके विद्युत-विश्लेषण का अध्यनयन किया। प्रयोगों द्वारा फैराडे ने ज्ञात किया कि यदि एक ही प्रबलता की विद्युतधारा कई घोलों में प्रवाहित हो तो बराबर समय में उन सब में जो तत्त्व जमा होते हैं उनका अनुपात उनके विद्युत-रासायनिक तुल्यांकों के अनुपात के बराबर होता है। इन प्रयोगों के आधार पर फैराडे ने विद्युत विश्लेषण की व्याख्या का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि जल में अम्ल घुलता है तो अम्ल का प्रत्येक अणु दो भागों में टूट जाता है। इन भागों को फैराडे ने 'आयन' कहा। प्रत्येक अणु दो आयनों में बंटता है। एक आयन पर कुछ धन आवेश और दूसरे पर ठीक उतना ही ऋण आवेश होता है। जब घोल में, बैटरी के सिरों से जुड़ी हुई दो पट्टियां डाली जाती है तो धन-आयन ऋणाग्र पट्टी पर और ऋण आयन धनाग्र पट्टी पर जाते हैं। पट्टी पर पहुंचकर वे आवेशहीन हो जाते हैं। यह भी स्पष्ट है कि जितने ही अधिक समय तक धारा चलाई जाती है उतने ही अधिक 'आयन' जमा होते हैं। यदि यह माना जाय कि एक पदार्थ के सभी धन आयनों (या सभी ऋण आयनों) का द्रव्यमान बराबर है और प्रत्येक पर बराबर-बराबर आवेश रहता है तो आयनों की संख्या और विद्युतधारा का कुछ संबंध ज्ञात किया जा सकता है।

सन् 1874 ई0 में जॉन्सन स्टोनी ने ब्रिटिश एसोसियेशन में भाषण देते हुए फैराडे की उक्त उपलब्धि को समझाया और कहा कि हाइड्रोजन आयन पर जितना आवेश रहता है उससे कम मान का आवेश किसी कण पर नहीं पाया जा सकता है। उन्होंने यह भी आवेश के बराबर या इसका ठीक दोगुना या तीनगुना होता है। अर्थात् किसी आयन का आवेश उक्त निम्नतम आवेश का पूर्णाङ्क अपवर्त्य ही हो सकता है। स्टोनी ने इस न्यूनतम आवेश का नाम 'इलेक्ट्रान' रख दिया। स्टोनी ने न्यूनतम धन या ऋण दोनों आवेशों के लिये यही नाम दिया।

जॉन्सन स्टोनी की इस घोषणा के लगभग 23 वर्ष बाद जे. जे. टामसन का प्रयोग बड़ा ही क्रांतिकारी सिद्ध हुआ। टामसन ने शीशे के लंबी नली में से,

पंप द्वारा हवा निकालकर, उसके भीतर से (शून्य में से) विद्युतधारा प्रवाहित करने का प्रयत्न किया। जब नली में वायुदाब[1] 1 मिलीमीटर होता है तो नली में कुछ विचित्र चमक दिखाई देने लगती है। नली के ऋणाग्र सिरे की ओर कुछ दीप्तिहीन स्थान रहता है और धनात्मक सिरे की ओर चितकबरी चमक दिखाई पड़ती है। जब नली के भीतर वायुदाब 0.1 मिलीमीटर हो जाता है तब पूरी नली दीप्तिहीन हो जाती है। उन्होंने इन कणों के आवेश और द्रव्यमान का अनुपात बड़े सूक्ष्म प्रयोगों द्वारा ज्ञात किया। उन्हें ज्ञात हुआ कि यह अनुपात लगभग $1.76 \times 10^{+8}$ है। फैराडे के प्रयोगों से हाइड्रोजन आयन के आवेश और द्रव्यमान का जो अनुपात (95680) ज्ञात हुआ था वह इस अनुपात का 1/1900 वां भाग मात्र था। अतः टामसन ने कहा कि नली में जो कण प्रवाहित हो रहे हैं उन पर आवेश का मान ठीक उतना ही है जिसे स्टोनी ने 'इलेक्ट्रान' कहा था पर यह ऋणात्मक है और इन कणों का द्रव्यमान हाइड्रोजन परमाणु से 1/1700 गुना कम है। इस प्रकार सन् 1897 में टामसन की विसर्जन नली में 'इलेक्ट्रान' का जन्म हुआ और साथ ही उसके गुणों का अध्ययन भी।

'इलेक्ट्रान' के आविष्कार के बाद लगभग 15 वर्ष की अवधि में वैज्ञानिकों ने भली-भांति जान लिया कि प्रत्येक पदार्थ के परमाणुओं में इलेक्ट्रान पाये जाते हैं। ये इतने हल्के होते हैं कि यदि इनको परमाणु से बाहर निकाल लिया जाय तो परमाणु के द्रव्यमान में कुछ भी अंतर नहीं आता है। इन पर न्यूनतम ऋण आवेश होता है। अब तक ज्ञात किसी भी नन्हें कण पर इससे कम मान के आवेश का होना सिद्ध नहीं हुआ है। इलेक्ट्रान की खोज के साथ ही घर्षण विद्युत् का रहस्य और धारा विद्युत् का कौतुक स्पष्ट हो गया। जब शीशे को रेशम से रगड़ते हैं, शीशे से कुछ इलेक्ट्रान निकलकर रेशम में चले जाते हैं। इससे शीशा धन विद्युन्मय और रेशम ऋण विद्युन्मय हो जाता है। तार में प्रवाहित होनेवाली विद्युत् धारा में इलेक्ट्रान ही हैं। टामसन की विसर्जन नली में प्रवाहित होने वाले इलेक्ट्रानों का वेग बड़ा ही तीव्र होता है। जब इन्हें धातु के टार्जेट पर टकराने दिया जाता है तो टार्जेट से एक्स-किरणें उत्पन्न होती हैं। रेडियो में लगे हुये अनोखे बल्वों का क्रिया-कलाप इलेक्ट्रानों का ही जादू है। आश्चर्य हे कि इतने रहस्यमय कण का द्रव्य मान केवल 0.0000000000000000000000000009 (9×10^{-28}) ग्राम और उसका ऋण आवेश 1.6×10^{-12} कूलंब है।

---

1. वायु या गैस का दाब बैरोमीटर में पारे की ऊंचाई से व्यक्त किया जाता है। साधारणतः यह 760 मिलीमीटर होता है।

पेड़ पौधों में परिवार नियोजन*

अ. बि. सीरवाणी

आज के वैज्ञानिक युग में परिवार नियोजन पर बड़ा बल दिया जा रहा है और संतति निरोध के लिये उपकरण निकाले जा रहे हैं। शासन की ओर से भी इस कार्य पर प्रचुर व्यय हो रहा है और इसे रुचिकर बनाने के लिये कई संस्थाएं क्रियाशील हैं। इन सबकों देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो मनुष्य संसार के लिये परिवार नियोजन कोई नया प्रयोग हो। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि पेड़-पौधों में परिवार नियोजन एक साधारण सी बात है। वैसे पौधे और मनुष्य दोनों जीवधारी हैं तथा प्रकृति की देन हैं किंतु अंतर यह है कि मनुष्य के पास मस्तिष्क है और सोचने की शक्ति है जो कि पौधों में नहीं है। पौधा प्रकृति द्वारा जैसा उत्पन्न हुआ है वैसा ही आज भी हमारे सामने है और उसकी जीवनचर्या का अध्ययन प्रकृति का सच्चा अध्ययन है। मनुष्य ने अपनी अटकलबाजियां लगाकर कई स्थानों पर प्रकृति के नियमों की अवहेलना की है किंतु पौधों में ऐसा नहीं हो सकता फलतः आज भी वे प्रकृति का सच्चा रूप प्रस्तुत करते हैं। यदि हम लोग यह जानना चाहें कि प्रकृति के नियम क्या हैं तो हमें पौधां के जीवन का विवेकपूर्ण अध्ययन करना चाहिए। और पौधों में परिवार नियोजन के संबंध में नीचे कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं।

(1) नारियल का फल जो प्रायः सभी ने देखा होगा किंतु शायद ही किसी ने यह सोचा हो कि इसमें परिवार नियोजन की भावना कितनी कूट-कूटकर भरी हुई है। प्रत्येक फल पर तीन काले निशान आंखों के आकार के बने हुये होते हैं। थोड़ा-सा ध्यान देने पर यह भी पता चलेगा कि तीन में से एक आंख अन्य

* विज्ञान, दिसंबर 1968

दो की अपेक्षा अधिक स्वस्थ होती है तथा उसी से चिपका बीज भी रहता है। वास्तव में तीनों आंखें एक-एक करे तीन बीज उत्पन्न करने की क्षमता रखती हैं किंतु इस दृष्टिकोण से कि यदि तीन बीज बन गए तो तीनों कमजोर होंगे, दो नष्ट होते हैं और आंखें मुरझा जाती हैं तथा केवल एक ही आगे बढ़ती है जो एक बहुत बड़े और स्वस्थ बीज को जन्म देती है। इस प्रकार नारियल तीन के सथान पर केवल एक स्वस्थ बच्चे को जन्म देना पसंद करता है। यह प्रकृति द्वारा परिवार नियोजन का एक असाधारण उदाहरण है।

(2) साइकस (Cycas) नामक पेड़ में परिवार-नियोजन बड़ी आसानी से देखा जा सकता है। साइकस की कुछ जातियों में एक ही मादा पर पांच या छह अण्डप लगे रहते हैं किंतु बीज केवल एक ही से बनता है। बाकी के अण्डप बिना बीज बनाए ही नष्ट हो जाते हैं।

(3) प्रायः सभी पुष्पीय पौधों में मादा से अण्डप बनते समय परिवार-नियोजन की पूरी झलक मिलती है। प्रत्यक मादा में प्रारंभ में चार योग्य भ्रूणकोषाएं रहती हैं किंतु शीघ्र ही तीन नष्ट हो जाती हैं और केवल एक ही बच रहती है।

(4) चीड़, चिलगोजा, देवदार आदि में तो निषेचन के बाद कई भ्रूण बन जाते हैं किंतु आगे चलकर केवल एक ही की वृद्धि होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि परिवार-नियोजन जिसे हम लोग बीसवीं शताब्दी की देन मानते हैं प्रकृति में प्रारंभ से ही विद्यमान है। अंतर केवल हमारी समझ का है। पौधों के उदाहरणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कई लोग जो परिवार नियोजन का यह सोचकर पालन नहीं करते कि यह प्रकृति के सिद्धांतों की अवहेलना है वे वास्तव में बहुत बड़ी भूल कर रहे हैं। प्रकृति ने पौधों के द्वारा हमारे सामने यह स्पष्ट कर दिया है कि वह स्वंय परिवार नियोजन चाहती है और मनुष्य को जो प्रकृति का ही एक अंग है, इस सिद्धांत का पालन करना चाहिए। परिवार नियोजन के द्वारा प्रकृति पौधों की संख्या संतुलित बनाए हुए हैं। मनुष्य को भी पुराने अंधविश्वास को भूलना होगा और संतुलित परिवार बनाना होगा। यही प्रकृति की पुकार है।

लेसर*

श्याम लाल काकानी

"लेसर, किरण ऊर्जा, क्वाण्टम यांत्रिकी युक्ति है जिससे विद्युत् चुंबकीय विकरणों में निहित ऊर्जा की उपयोगिताओं का क्षेत्र व्यापक हो गया है।"

'लेसर', शब्द उद्दीपन उत्सर्जन द्वारा प्रकाश का प्रवर्धन करना प्रकट करता है। (Laser' stands for, light amplification by stimulated emission of radiation)। गोर्डन और टालनस नामक वैज्ञानिकों ने सर्वप्रथम सन् 1954 में सफलतापूर्वक अमोनिया मेसर (Ammonia maser) का प्रदर्शन किया। मेसर (Maser) में 'M' सूक्ष्म तरंग को दर्शाता है। 'लेसर' 'मेसर' एवं 'इरसर' तीनों एक ही क्रिया को प्रगट करते हैं। इनमें कोई मौलिक भेद नहीं है।

सिद्धांत

लेसर क्रिया के लिए तीन प्रमुख आवश्यकताएं होती हैं :–

(अ) कला संबंद्ध एवं एकवर्णी प्रकाश।

(ब) उद्दीपन उत्सर्जन।

(स) सक्रिय माध्यम।

जब कला संबद्ध एवं एकवर्णी प्रकाश किरणें या विद्युत् चुंबकीय विकिरण किसी धातु से टकराती हैं तो अवशोषण, स्वतः उत्सर्जन और उद्दीपन उत्सर्जन क्रियाएं संभव हो सकती हैं। अवशोषण क्रिया में परमाणु मूल अवस्था से फोटोन का आवशोषण कर उत्तेजित अवस्था में पहुंच जाता है, जहां से परमाणु स्वतः फोटोन का उत्सर्जन कर मूल अवस्था में लौट आता है। लेकिन जब परमाणु पहले

* विज्ञान, जनवरी 1969

से ही उत्तेजित अवस्था में विद्यमान हो, और तब उस पर फोटोन की क्रिया कराई जाय तो परमाणु, स्वतः उत्सर्जन फोटोन के अतिरिक्त भी उसी तरंग दैर्घ्य का दूसरा फोटोन भी उत्सर्जन कर मूल अवस्था में लौट आता है। इस क्रिया को उद्दीपन उत्सर्जन के लिए परमाणुओं को उद्दीपन तरंग दैर्घ्य पर विद्युत् चुंबकीय ऊर्जा से उत्तेजित अवस्था में लाया जाता है। इस क्रिया को पंपिंग कहते हैं।

लेसर का अभिकल्प तैयार करते समय उद्दीपन उत्सर्जन के अतिरिक्त प्रमुख समस्या सक्रिय माध्यम तैयार करने की आती है। सक्रिय माध्यम से तात्पर्य यह है कि जहां परमाणु उत्तेजित अवस्था में रह सके और जब निश्चित एवं आवश्यक आवृत्ति की प्रकाश तरंग इसमें से होकर गुजरे तो फोटोन का सोपान तैयार हो जाय।

सक्रिय माध्यम को परावर्तित वाक्स में, जिसकी सतह सीधी एवं समांतर होती है, बंद कर देते हैं। बाक्स की दोनों परावर्तित सतहों के बीच की दूरी (d) क्रियाशील आधी तरंग दैर्घ्य ($\lambda/2$) की बहुल समाकल होनी चाहिए ($d = n\frac{\lambda}{2}$) जब प्रकाश तरंग बाक्स की एक दीवार से शुरू होकर दूसरी दीवार तक पहुंचती है तो उसके आयाम में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार कई परावर्तनों के पश्चात् बाक्स में स्थाई तरंग का निर्माण होता है, जो शक्तिशाली एवं समांतर पुंज के रूप में बाहर निकलती है। इसे **लेसर** कहते हैं।

यहां यह उल्लेख करना महत्त्वपूर्ण है कि निर्गत आवृत्ति के अनुरूप सक्रिय माध्यम में कम से कम दो भिन्न ऊर्जा तल (levels) होने चाहिए, जिससे माध्यम के अधिक ऊर्जा वाले तल को कम ऊर्जा वाले तल की अपेक्षा अत्यधिक जनसंख्यातिरेक रखा जा सके।

विभिन्न प्रकार के लेसर

1. ठोस अवस्था लेसर

एल्यूमिनियम आक्साइड (Al_2O_3) के एक मणिभ में 0.05% क्रोमियम (Cr) मिलाने से इसका रंग गुलाबी हो जाता है। इसलिए इसको गुलाबी माणिक्य भी कहते हैं। गुलाबी रंग आने के कारण मणिभ में क्रोमियम के परमाणु हरे और पीले रंगों के साथ पराबैंगनी रंगों (Ultraviolet colours) की व्यापक पट्टिटका का अवशोषण कर केवल लाल एवं नीले रंगों की किरणों को ही पार जाने देते हैं। प्रकाश के अवशोषण से क्रोमियम के परमाणु उत्तेजित अवस्था में पहुंच जाते हैं।

प्रथम कदम में परमाणु (Cr) कुछ ऊर्जा निर्मुक्ति क्रिस्टल जालकों को दे देते हैं, और स्वयं दीर्घ अवस्था में आ जाते हैं। अगर उद्दीपन नहीं होता है तो इस अवस्था में कुछ देर ठहरने के पश्चात् मूल अवस्था में लौट आते हैं। इस क्रिया में 6943 $A.^0$ तरंग की लाक्षणिक प्रतिदीप्ति के उत्तरदायी होते हैं। इस तरंग दैर्घ्य पर निर्मुक्त कुछ फोटोन उद्दीपन क्रिया को बढाने में सहायता करते हैं, और पाणिामस्वरूप 6943 A^0 तरंग दैध्र्य पर फोटोन क्रम प्रपात या सोपान तैयार हो जाता है।

सक्रिय माध्यम के लिए गुलाबी माणिक्य (Al_2O_3 +( )5%Cr) को 4 से. मी. लंबाई और 0.50 से. मी. अर्द्धव्यास की गोलाकार छड़ के रूप में तैयार कर लिया जाता है। सिरों को समांतर एवं प्रकाशतः पालिश के लिए आंशिक रूप में चांदी का लेपन कर देते हैं। इलेक्ट्रानिक फ्लेश ट्यूब पंपिंग के लिए प्रयुक्त की जाती है। इसको साधारणतया रूबी लेसर (Ruby laser) कहते हैं।

गुलाबी माणिक्य के अतिरिक्त कई अन्य ठोस पदार्थ जैसे सैमेरियम, नियोडिमियम, केल्सियम टंगस्टेट, थैलियम, कैल्सिमय फ्लोराइड यूरेनियम (CaF_2-U) एवं कांच इत्यादि भी सक्रिय माध्यम के रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं।

2. गैस लेसर

सक्रिय माध्यम के लिए हीलियम और नियोन गेसों को क्रमशः 10:1 के अनुपात में मिलाकर मिश्रण को दो समांतर परावर्तकों के मध्य लटका देते हैं। जब हीलियम परमाणु रेडियोप्रेषित उत्पन्न रेडियो आवृत्ति ऊर्जा द्वारा उत्तेजित होकर दीर्घ स्थाई अवस्था में पहुंचते हैं तो वहां पर मूल अवस्था में परमाणुओं से टकराकर अनुनादी शक्ति का स्थानांतर करते हैं। नियोन गैस की एक ऊर्जा अवस्था की शक्ति, हीलियम नियोन गैसों के मिश्रण (10 : 1) की दीर्घ स्थाई अवस्था के करीब बराबर होती है। अतः टक्कर के समय नियोजन परमाणु विशिष्ट ऊर्जा तल पर चले आते हैं। इससे नियोन के परमाणु तलों में प्रतिलोमीकरण शुरू हो जाता है।

हीलियम नियोन गेसों के भिश्रण के अतिरिक्त H एवं Xe और He एवं O_2 गैसों के मिश्रण भी सक्रिय माध्यम के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं। गैस लेसर की प्रमुख विशेषता यह है कि लेसर क्रिया लगातार होती है। यही कारण है कि गैस लेसर प्रचलन में अधिक है।

3. अर्ध चालक लेसर

गैलियम आर्सेनाइड जो कि अर्द्धचालक होता है, सक्रिय माध्यम के लिए प्रयुक्त

किया जाता है। इस प्रकार के लेसर केवल अवरक्त क्षेत्र के लिए ही उपयोग में लाए जा सकते हैं।

4. द्रव लेसर

द्रव लेसर में साधारणतया सक्रिय माध्यम के लिए द्रव यूरोपियम (lquid europium), बेन्जोलएमिटोनेट, बेन्जिन नाइट्रोबेन्जिन इत्यादि द्रव उपयोग में लाए जाते हैं। द्रव लेसर एवं अन्य प्रकार के लेसर में प्रमुख अंतर यह है कि इसमें विकरण शक्ति या लेसर क्रिया, रमन प्रभाव (Raman effect) के कारण होती है, जबकि अन्य प्रकार के लेसर में परमाणुओं के ऊर्जा तलों में परिवर्तन से।

लेसर के विभिन्न उपयोग

लेसर प्रकाश पुंज के अनन्य गुणों के कारण इसका उपयोग का क्षेत्र भी अत्यंत विस्तृत है। यद्यपि इसका पूर्ण रूपेण उपयोग अभी तक संभव नहीं हुआ है, फिर भी संचार व्यवस्था एवं शल्य चिकित्सा के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई है।

संचार व्यवस्था

आज से करीब 20 वर्ष पूर्व प्रकाश का उपयोग संचार व्यवस्था में करने के लिए सबसे बड़ी कमी उस पदार्थ की थी, जो कला संबद्ध (Coherent) ओर एकवर्णी (monochromatic) प्रकाश उत्पन्न कर सके। लेसर के आविष्कार ने इस कमी की पूर्ति कर दी है।

संसार में अब तक लंबी दूरी पर कई संदेशों को एक साथ पारेषण (transmission) करने के लिए चार प्रणालियां उपयोग में आती रही हैं :—

(अ) समाक्ष केबल।
(ब) सूक्ष्मतरंग रेडियो रिले।
(स) तरंग निर्देशन।
(द) कृत्रिम उपग्रह।

इन सब प्रणालियों का मुख्य उद्देश्य एवं सिद्धांत एक साथ कई संदेशों का संचारण एक ही रास्ते से करना है। इसको बहुपंथीय प्रणाली कहते हैं।

किसी भी मनुष्य की ध्वनि संचारण के लिए सरणि जिसका आवृत्ति बैंड 200 से 4000 कम्पन प्रति सैकंड हो, आवश्यक होता है। इस आवृत्ति बैंड में निहित सूचना को आवृत्ति बैंड 100,200 से 104000 कम्पन प्रति सैकंड से भी

पारेषण कर सकते हैं। इस प्रकार की क्रिया, जिसमें संकेत को एक आवृत्ति बैंड से अन्य आवृत्ति बैंड में स्थानान्तर किया जाय, अधिमिश्रण कहते हैं।

संचार की प्रचलित प्रणालियों की तुलना में लेसर का उपयोग अधिक लाभप्रद है, क्योंकि–

(अ) लेसर के एक आवृत्ति बैंड से कई सरणियां या चेनल्स आवश्यक बैंड भी चौड़ाई अनुसार समापन की जा सकती हैं। उदाहरणस्वरूप 1000,000 चेनल्स एक ही लेसर से संचारण की जा सकती है। प्रचलित प्रणालियों में इस सुविधा का नितान्त अभाव है।

(ब) लेसर का उपयोग तीन विमीय TV प्रतिबिंब प्रदर्शित करने के लिए भी होने लगा है।

(स) लेसर पुंज की चौड़ाई कम होने से एक स्थान से दूसरे स्थान तक संकेतों के संचारण में पारेषण क्षति अति न्यूनतम होती है, तथा अधिक दूरी पर संचारण के लिए प्रचलित प्रणालियों की तुलना में प्रवर्धक की कोई आवश्यकता नहीं होती है।

(द) लेसर पुंज की चौड़ाई अगर 2" और तरंग लंबाई 6300 A^0 हो तो पारेषण अधिक से अधिक दूरी तक पुंज की चौड़ाई में वृद्धि के बिना भी संभव हो सकता है।

वायुमण्डलीय विघ्न जैसे बादल, कोहरा इत्यादि क्षीणन उत्पन्न कर देते हैं, जिससे लेसर का उपयोग अधिक प्रभावशाली नहीं हो सकता है।

शल्य चिकित्सा

मानव के लिए लेसर का मुख्य उपयोग स्थानीकृत शल्य कर्म के क्षेत्र में हुआ है। जब मानव नेत्र का दृष्टिपटल या रेटिना क्षतिग्रसत हो जाता है तो दृष्टिपटल को तीव्र प्रकाश सहायता से संधान किया जा सकता है। इससे दृष्टिपटल अलग होने से बच जाता है। साधारण प्रकाश से इस क्रिया में ½ सैकण्ड लगते हैं जबकि लेसर से केवल 1/1000 सेकण्ड से भी कम समय लगता है। इतने कम समय में नेत्र गति नहीं कर सकता है, अतः शल्य क्रिया के समय आंख को गतिहीन करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है।

आजकल लेसर का उपयोग सतह पर टिशुओं के सुधार के लिए भी होने लगा है।

अन्य उपयोग

लेसर का उपयोग दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा है। राडार, धातुओं को काटने एवं जोड़ने, बहुत बहुत दूरियों को सही नापने, खोदने इत्यादि के लिए लेसर का अत्यधिक उपयोग हो रहा है।

फोटोग्राफी, माइक्रोग्राफी, रमन वर्णक्रम, विज्ञान एवं प्लाज्मा इत्यादि कई क्षेत्रों में लेसर के उपयोग की अत्यधिक प्रगति हुई है।

विश्व की प्रमुख प्रयोगशालाओं जैसे बैल की टेलीफोन प्रयोगशालाओं में कई वैज्ञानिक लेसर की उपयोगिता को ज्ञात करने के लिए कार्यरत हैं। लेसर की संभाव्य उपयोगिताएं निःसंदेह संसार का कायाकल्प कर देंगी। यह लिखना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं कि लेसर वर्तमान शताब्दी का सबसे महत्वपूर्ण आविष्कार है।

56

प्लास्टिक बटन से जहाज़ तक*

आत्माराम भट्ट

उन्नीसवीं सदी आधी बीत चुकी थी। बिलियर्ड के शौकीनों के सामने एक संकट आ खड़ा हुआ। तब अमरीका में बिलियर्ड की गेदें नापैद होने लगीं। गेंदें कहां से आतीं? हाथीदांत की कमी थी। सो एक अमरीकी समाचारपत्र ने हाथीदांत के स्थान पर कोई उपयुक्त पदार्थ खोजने वाले को 10,000 डॉलर का इनाम देने की घोषणा की। इससे प्रेरित हो 1865 में अमरीकी वैज्ञानिक हयाट ने खोज की कि नाइट्रो सेलुलोज और अल्कोहॉल के मिश्रण में कपूर मिलाने से सींग के समान कठोर पदार्थ प्राप्त होता है, जो एक विशेष प्रक्रिया के बाद हड्डी और हाथीदांत जैसा बन जाता है। तब हयाट को शायद ही आभास हुआ होगा कि सेल्युलायड नामक इस पदार्थ का आविष्कार कर उसने रासायनिक यौगिकों के एक ऐसे परिवार की खोज का श्रीगणेश किया है जो भविष्य में बड़ा क्रांतिकारी सिद्ध होगा। इस परिवार को आज हम 'प्लास्टिक यौगिकी' के नाम से जानते हैं।

दैनिक आवश्यकताओं के लिए प्लास्टिक की बनी वस्तुओं पर निर्भरता बढ़ती जा रही है। हम प्लास्टिक पर चलते हैं, बैठते हैं, उससे टेलीफोन करते हैं, तथा हजामत बनाते हैं। कपड़ों पर लगे रंग-बिरंगे, बटन, छातों के खूबसूरत हैंडल, कंघियां आदि प्लास्टिक की ही बनी होती हैं। बच्चे उसके साथ खेलते हैं। हम प्लास्टिक के प्यालों में चाय पीते हैं, तश्तरियों में खाना खाते हैं और सिंचाई के लिए प्लास्टिक के होज काम में लाते हैं। प्लास्टिक का बना फर्नीचर घर की शोभा में चार चांद लगा देता है।

* कादम्बिनी, अप्रैल 1970

इस समय घरेलू और औद्योगिक कार्यों के लिए प्लास्टिक की दो हजार से भी अधिक वस्तुओं का निर्माण हो रहा है। ऊष्मा, विद्युत एवं संक्षारण रोधी होने के कारण लकड़ी, कांच, पोर्सिलेन, रबर और धातुओं के स्थान पर प्लास्टिक का उपयोग तेजी से बढ़ रहा है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की शायद ही कोई ऐसी शाखा है जिस में प्लास्टिक का प्रयोग न होता हो। मशीनों के भाग, जलयान और वायुयान के ढांचों से लेकर घरेलू सामान तक प्लास्टिक के बनाये जाते हैं।

इतना ही नहीं अब प्लास्टिक-जहाज भी सेमरहेवन (जरमनी) में बनाये जा रहे हैं। जहाज-निर्माता इंजीनियर गुस्ताव कुहार इन जहाजों के निर्माण में अठारह करोड़ पांच लाख रुपए खर्च कर रहे हैं। उनका कहना है कि प्लास्टिक-जहाज में कुछ फिटिंग और मस्तूल ही प्लास्टिक के नहीं बने होंगे। आशा है कि इसकी देख-रेख में बहुत मामूली खर्च होगा। क्योंकि प्लास्टिक में जंग नहीं लगता। सफाई के लिए पानी का होज ही काफी होगा।

प्लास्टिक का उपयोग रक्षा, कृषि, दूर-संचार, रेलवे, पोस्ट और टेलीग्राफ, विद्युत तथा ऑटोमोबाइल—जैसे विभिन्न क्षेत्रों में होता है। प्लास्टिक की कुछ किस्मों में यह विशेषता है कि वे कॉर्क से हल्की किंतु इस्पात से भी अधिक मजबूत होती हैं। अतः कृत्रिम उपग्रह, रॉकेट और अंतरिक्षयान को बनाने में ये विशेष उपयोगी हैं।

भवन-निर्माण में भी प्लास्टिक का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। दरवाजे, खिड़कियों के फ्रेम, चौखट, टब, बेसिन आदि प्लास्टिक के बनाए जाते हैं। प्लास्टिक के चौखटों को मकान में किसी भी स्थान पर कीलों की मदद से लगाया जा सकता है। इन पर खरौंच, धब्बे आदि पड़ने का भय नहीं रहता और न उन पर पेंट करने की आवश्यकता है। न उन पर दरार पड़ती है और न ये टूटते हैं। उन पर अधिकांश रासायनिक द्रव्यों, दूषितकारी पदार्थों, जंग और आग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्लास्टिक की ये विशेषताएं भवन-निर्माण में वरदान-स्वरूप हैं। आशा है कि 1972 में बनने वाला मकान नीचे से लेकर ऊपर तक प्लास्टिक से परिपूर्ण होगा।

प्लास्टिक की कुछ किस्में हमारे लिए विशेष उपयोगी हैं। पर्सपेक्स अत्यंत महत्त्वपूर्ण 'कार्बनिक कांच' हैं। इससे चश्मों के लेंस, फोटोग्राफिक लेंस तथा अन्य उपयोगी उपकरण बनाए जाते हैं। अभंजनीय होने के कारण पर्सपेक्स का उपयोग वायु-यानों के कॉकपिट आदि बनाने में होता है। यह अभेद्य 'कांच' बनाने के काम में भी आता है। इसके अलावा पॉलिथीन का उपयोग बिजली के तारों और

उनके आवरण बनाने में तथा पॉलिविनिल क्लोराइड का उपयोग नकली चमड़ा और रेनकोट बनाने, फर्श पर बिछाने तथा प्लास्टिक सर्जरी में विद्युतरोधी के रूप में होता है।

डिस्ट्रीन का उपयोग मुख्यतः घरेलू बरतन बनाने के लिए होता है। सिलिकान ठोस और द्रव दोनों अवस्थाओं में बनाये जाते हैं। अत्यंत तापरोधी और विद्युतरोधी होने के कारण उन का उपयोग वार्निशों और स्नेहकों के रूप में भी होता है। ये जलप्रतिकर्षी भी होते हैं जिससे सूती वस्त्र और नाइलोन को सिलिकान संसिक्त कर जलसह पदार्थ बनाये जाते हैं।

प्लास्टिक की उत्तरोत्तर उपयोगिता का क्या कारण है? आधुनिक उद्योगों में ऐसे पदार्थों की आवश्यकता होती है जो अत्यंत मजबूत होने के साथ बहुत हलके भी हों और जिन्हें उच्च और निम्न तापों पर इस्तेमाल किया जा सके। यह भी आवश्यक है कि वे सस्ते और आसानी से उपलब्ध हों। लकड़ी, पत्थर, धातु आदि प्राकृतिक पदार्थों में से किसी में भी ऐसी विशेषताएं नहीं होती हैं।

उद्योगों में प्लास्टिक धीरे-धीरे अलौह धातुओं का स्थान ले रही है। धातुओं के स्थान पर प्लास्टिक की उपयोगिता का मुख्य कारण यह भी है कि प्लास्टिक को ढालने के बाद चिकना करने की आवश्यकता नहीं होती, साथ ही प्लास्टिक को आसानी से किसी भी जटिल आकार में ढाला जा सकता है। अनेक धातुओं की अपेक्षा प्लास्टिक का उत्पादन सस्ता बैठता है। एक टन निकल प्राप्त करने के लिए 200 टन अयस्क की आवश्यकता होती है जब कि एक टन प्लास्टिक प्राप्त करने के लिए डेढ़ से दो टन बहुत सस्ते कच्चे पदार्थों की। यह जानकर आश्चर्य होगा कि यह रंग-बिरंगी, खूबसूरत प्लास्टिक कोयले, चूने के पत्थर, नमक, प्राकृतिक गैस तथा सूखी घास—जैसे सस्ते और साधारण पदार्थों से बनायी जाती है।

प्लास्टिक के भावी उपयोगों के बारे में और भी अधिक आश्चर्य होता है। रेफ्रिजरेटर और फ्रीजर एक-पीस प्लास्टिक का बना होगा। विशेषता यह होगी कि यह आवाज नहीं करेगा तथा उस पर धब्बे, खरोंच आदि नहीं पड़ेंगे। प्लास्टिक के बने आभूषण टिकाऊ और देखने में कांच और कीमती पत्थर के समान लगेंगे। ऐसी प्लास्टिक भी निर्माणाधीन है जो अत्यंत मुलायम होगी और जिस में से तरल पदार्थ निकल सकेंगे। संपर्क-लेंसों को बनाने में ऐसी पलास्टिक अत्यंत उपयोगी होगी। यही नहीं प्लास्टिक के सजीव और क्रांतिकारी संसार में जो कुछ हो रहा है पर्मसेलेक्टिव उस का उदाहरण है।

वह दिन दूर नहीं जब मनुष्य अपने चारों आरे पर्मसेलेक्टिव की पतली परत ओढ़कर समुंद्र की गहराइयों में सांस ले सकेगा और दूर अंतरिक्ष में उसे अधिक सक्षम श्वसन-तंत्र प्राप्त होगा। पनडुब्बियों और पानी के नीचे स्थित अनुसंधान केंद्रों को पर्मसेलेक्टिव की पतली परत से ढक देने पर उन्हें पर्याप्त समय तक पानी में रखा जा सकेगा। इससे समुद्र में दक्षतापूर्वक काम कर समुद्र के गर्भ में छिपे रहस्यों का उद्घाटन होगा।

चिकित्सा के क्षेत्र में भी प्लास्टिक तब वरदान सिद्ध होगा जब रोगी पर्मसेलेक्टिव झिल्ली के बने बनावटी फेंफड़े द्वारा अपने चारों ओर से वायुमंडल से ऑक्सीजन ले सकेगा। तब दबाव वाले ऑक्सीजन सिलिंडरों की आवश्कता नहीं होगी। पर्याप्त संभावना है कि एक खराब फेफड़े को हटाकर पर्मसेलेक्टिव झिल्ली उसका स्थान ले सके। इसके अतिरिक्त हमारी बढ़ती हुई पानी की समस्या को हल करने में प्लास्टिक अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगी। समुद्र के खारे पानी को प्लास्टिक की पतली परत से निकालने पर पानी से नमक को पृथक् करने की विधियां मालूम की गयी हैं। आशा है इससे बहुत कम कीमत में पीने और सिंचाई के लिए पर्याप्त पानी प्राप्त हो सकेगा।

चिन्तनपरक

विज्ञान की लोकगम्यता*

डॉ. शिवगोपाल मिश्र

लोक अत्यन्त व्यापक शब्द है। वैसे प्रायः गांवों में रहने वाली अपढ़ जनता को लोक की संज्ञा प्रदान की जाती है। किंतु यह इससे अत्यंत परे है और संपूर्ण विश्व के प्राणियों को समाहित करने में समर्थ है। 'लोक' और 'वेद' अत्यंत प्राचीन शब्द हैं अतः इसके अर्थ गाम्भीर्य में न जाकर हम 'लोक' का अर्थ सामान्य जन, जनता, कम पढ़े लिखे लोग के रूप में कर सकते हैं। जो कथन या विचार या भाव ऐसे प्राणी-समूह की समझ में आ जाये, वे 'लोक-गम्य कहे जावेंगे और लोक में ऐसे विचारों की व्याप्ति या पहुंच 'लोकगम्यता' कही जावेगी।

'विज्ञान' का शाब्दिक अर्थ विशेष ज्ञान है। सुसंकलित सुसमृद्ध विचारों के समूह को 'विज्ञान' कहते हैं। आजकल 'विज्ञान' का प्रयोग ज्ञान की विशेष विधा के लिए हो रहा है जो भौतिक सुख शांति के लिए नाना प्रकार के साधन जुटा सकती है। विशेषतया साहित्य से इसे भिन्न कोटि में रखने का यही कारण है कि साहित्य जीवन की गहराइयों को, मनुष्यता को, धर्म को आश्रय देता है किंतु 'विज्ञान' भौतिक उपलब्धियों के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। विज्ञान का जन्म 'क्यों और कैसे' जैसे तर्कों से हुआ है। जब कि साहित्य मानव की उपज है।

स्पष्ट है कि जब हम विज्ञान की लोकगम्यता की बात कहते हैं तो हमारा संकेत उन समस्त साधनों की ओर रहता है जिनके माध्यम से विज्ञान का प्रसार हो सकता है। विज्ञान की उपयोगिता सर्वविदित है। उसके बल पर जल, थल और वायु पर विजय प्राप्त की जा चुकी है। अतः जब हम विज्ञान को लोकगम्य बनाना चाहते हैं तो वह सौद्देश्य होता है—हम चाहते हैं कि संसार का प्रत्येक

---

* विज्ञान, सितंबर 1970

प्राणी इस ज्ञान-राशि से सुपरिचित हो ले, यह जान ले कि यह ब्रह्माण्ड नियमों से बंधा है, नियमों के अनुसरण करके ऊर्जा का सम्प्रयोग किया जा सकता है, चंद्र लोक की यात्रा की जा सकती है, मानव द्वारा मानव का संहार हो सकता है।

विज्ञान को लोकगम्य इसलिये भी बनाना है कि जनता में हीन भावना व्याप्त है वह धार्मिक अन्यविश्वासों से चालित होती है। जब विशुद्ध ज्ञान की बात आती है तो वह हिचकती है, अपने अज्ञान को समक्ष रखती है, फिर अपने को विज्ञान की प्रगति से असम्बद्ध रखना चाहती है । वह विज्ञान के करामतों की प्रशंसक है और ध्वंसलीला की निंदक भी। ठीक है। किंतु एक दूसरे से सुनकर नहीं, समझकर ही उसे ऐसा करना चाहिए। इसके लिए उसे शिक्षित करना होगा। यह शिक्षा स्कूली सर्टिफिकेट वाली न होकर चलती भाषा में महत्वपूर्ण वैज्ञानिक विषयों की जानकारी प्रस्तुत करने के रूप में होगी।

निश्चय है कि ऐसी शिक्षा में पत्र-पत्रिकायें अत्यंत सहायक होंगी। चित्रपट, रेडियो तथा टेलीविजन भी कम उपयोगी साधन नहीं है। प्रदर्शनियां तथा व्याख्यान भी लाभदायक होंगे। परंतु प्रश्न है कि इन्हें किस प्रकार से सुनियोजित ढंग से कार्यान्वित किया जाय। यह सच है कि हम योजना बनाने में दक्ष हैं किंतु उसके व्यावहारिक पक्ष में, उसे कार्य रूप में परिणत कर पाने में, हम कमजोर हैं। हमारा समस्त तकनीकी ज्ञान बाहरी देशों से काढा हुआ है। जनता तक पहुंचने में हमें स्वयं हिचकिचाहट है, भय है। हम ईमानदार भी नहीं हैं। कोरी राष्ट्रीयता से काम नहीं चलता। हमें कुछ करके दिखाना होगा।

वस्तुतः विज्ञान की लोकगम्यता का प्रश्न इन्हीं सारी बातों से जुड़ा हुआ है। विज्ञान की उपयोगिता देखते हुए, रुढ़िवादी परंपराओं को नवीन स्वरूप देने के लिए, सुख से रहने के लिए तथा बीसवीं शती के मानव की भांति आचरण करने के लिए यह आवश्यक ही होगा कि विज्ञान को लोकगम्य बनाया जाय। उसे सबके लिए सुलभ बनाया जाय।

यहां पर हम अपने विचारों को वैज्ञानिक लेखन तक ही सीमित रखेंगे।

भारत में अनेक भाषाएं हैं जिन्हें राष्ट्रभाषा हिंदी के बाद समान स्थान प्राप्त है। स्पष्ट है कि विभिन्न भाषाओं के विज्ञान-विशारदों, विज्ञान प्रेमियों को अपनी लेखनी की परीक्षा देनी है। यदि वे चाहते हैं कि उनके भाषाभाषी विज्ञान के तथ्यों से परिचित हों तो वे ऐसी भाषा एवं शैली अपनायें जो सबों को ग्राह्य हो सके। एक बार इस पर विजय पाप्त कर लेने के बाद जो कुछ शेष बचता है

वह वैज्ञानिक विषयों का चुनाव है। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि समस्त विषयक सामग्री देश या यों कहें कि संसार भर के मनुष्यों के लिए समान रूप से उपलब्ध नहीं होनी चाहिए। यह तो पाठकों का कार्य होगा कि वे क्या पढ़ें क्या सीखें और क्या न पढ़ें-सीखें। मार-मारकर सबों को सभी विषय नहीं पढ़ाये जा सकते। उसे स्वरुचि के अनुसार चुनने के लिए विपुल सामग्री चाहिए।

खेद है कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक लेखन संबंधी जो भी कार्य हुआ है वह अभी प्रारंभिक अवस्था में है। दो वर्ष पूर्व भारतीय विज्ञान पत्रिकाओं के 14 सम्पादकों ने दिल्ली में मिलकर एक समिति बनाई, जिनका उद्देश्य विज्ञान को लोकप्रिय बनाना है। दुर्भाग्य है कि हिंदी जैसी समर्थ भाषा में छपने वाली पत्रिकाओं की संख्या अधिक नहीं है। इतना ही नहीं, इनको पढ़ने वाले लोगों की संख्या अत्यल्प है। 'विज्ञान-प्रगति' जैसी लोकप्रिय मासिक पत्रिका के पाठकों की संख्या 12 हजार से अधिक नहीं है। उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा प्रकाशित 'कृषि' और 'पशुपालन' नामक पत्रिका के ग्राहकों की भी संख्या 14 हजार ही है। किंतु इसके विरीत मलयालम में निकलने वाली एक पत्रिका है (केरल कर्षकण) जिसके पाठकों की संख्या 34 हजार से भी अधिक है। ऐसा क्यों? इसलिये कि राष्ट्रभाषा होने पर भी हिंदी में वैज्ञानिक विचार-धारा को प्रस्तुत करने वाली पत्रिकाएं अभी भी मनोनुकूल सामग्री प्रस्तुत नहीं कर पातीं।

आखिर वे कौन-कौन सी विशिष्टि शाखायें हैं जिन पर वैज्ञानिक सामग्री प्रकाशित होती हैं? यदि नाम लिये जाय तो वे होंगी आयुर्वेद, कृषि, उद्योग आदि। रसायन, भौतिकी इंजीनियरी आदि को प्रश्रय देने वाली पत्रिकाओं का अभाव है। इसका कारण यह है कि प्रकाशकों को न तो जन रुचि का ठीक-ठीक ज्ञान है, न ही ये इस दिशा में पहल करना चाहते हैं। वे स्कूली पाठ्य पुस्तकों से धन कमाना चाहते हैं।

हमारे वैज्ञानिक भी कम दोषी नहीं हैं। वे न तो ख्याति के लिए कुछ करते हैं और न अपने विषयों को ही लोकप्रिय बनाते हैं। विज्ञान की लोकगम्यता में वैज्ञानिकों का विशेष उत्तरदायित्व हो जाता है जब यह ठीक से समझ लिया जावे कि अधिकारिक वैज्ञानिक रचनाओं के अभाव में सामग्री किस प्रकार प्रकाशित हो सकती है? वैज्ञानिकों को, जो देश विदेशों में हो रहा है, उसकी झलक जनता को भी दिलाते रहना होगा। इसके लिए उन्हें अपनी भाषाओं मैं लेख लिखने होंगे। **सामग्री को रोचक बनाने के लिए साहित्यिक शैलियों का सहारा लेना होगा।**

जो लोग यह कहते हैं कि यदि जनता को 'विज्ञान' में कुछ दीखेगा तो

वह स्वयं उसे सीखेंगी, इस विचारधारा में ज्यादा सार नहीं है। कुंआ और प्यासा का सा मामला है। जनता को जब यह ज्ञान हो जावेगा कि अमुक ज्ञानराशि अमुक स्रोत से उपलब्ध हो सकती है तो वह शिक्षित श्रेणी में आ जावेगी।

ध्यान रहे कि जनता यह भी भीख नहीं मांग रही है कि आप उन्हें वैज्ञानिक ज्ञान से दीक्षित करें। यह तो उन सभी लोगों का कर्तव्य है जो स्वयं विज्ञान के हामी हैं। आखिर 'विज्ञान वाद' का प्रचार होना है तो इस मांगलिक कार्य में योगदान देना होगा। यह भारत की सी बात नहीं है, यह अनेक राष्ट्रों पर लागू होने वाली बात है। क्या अमेरीका या रूस विज्ञान की लोकगम्यता के हामी नहीं हैं? कोई भी ज्ञान मनुष्य मां के पेट से सीखकर नहीं आता। उसे संस्कारों द्वारा अर्जित करना पड़ता है। यदि देश में या समाज में उसके लिए उपयुक्त वातावरण बना दिया जावे तो इसमें संदेह नहीं कि वह कार्य सरलता से सम्पन्न हो जावेगा। विज्ञान की लोकगम्यता का यही रहस्य है।

58

आनुवंशिकी और रोगोत्पत्ति*

टी.के. त्रिपाठी और *एस.सी. अग्रवाल*

''जीवन क्या है? नोबल पुरस्कार विजेता खुराना, नीरेनबर्ग और हॉले की वैज्ञानिक-त्रयी भी इस प्रश्न का उत्तर उतना ही संदेहास्पद बनाए हुए हैं, जितना वह गत पच्चीस वर्षों की डी. एन. ए. पर आधारित शोध से पूर्व था। आनुवांशिक दृष्टिकोण से जीवन की परिभाषा अब संभवतः इस प्रकार करनी होगी : ''पदार्थ का एक ऐसा सामंजस्य, जो जननशील और उत्परिवर्ती हो, जिसके लगातार समयांतर से बाह्य ऊर्जा का पदार्थ की आवश्यकता हो जीवन है।''

इस प्रकार जीवन एक विशिष्ट रूप (एनाटोमी) तथा क्रिया (फिजिओलोजी) को लेकर चलता है जिनकी अनुभूति हमारे मन को होती है। संरचना अथवा क्रियाविधि—दोनों के स्वाभाविक स्वरूप में जब कोई व्यतिरेक आ जाता है, तो उसे हम मोटे तौर पर 'रोग' कहते हैं। दूसरे शब्दों में 'जीवन' की प्रतिसंतुलित अवस्था ही रोग है। क्लेम्पर ने रोग को 'प्रकृति का एक प्रयोग' कहा है। इस प्रयोग (अर्थात् रोग) में हम केवल प्रयोग के परिणाम को ही देख पाते हैं—प्रयोग को प्रकृति पहले ही कर चुकती है।

जीन

प्राणि-शरीर की भौतिक इकाई है कोशिकाएं और कोशिकाओं में उपस्थित जनन इकाइयों को वैज्ञानिकों ने 'जीन' की संज्ञा दी है। जीन की रचनाओं में, कुछ अस्थायी और स्थायी परिवर्तन आते रहते हैं। समझा जाता है, कि रोगोत्पत्ति का मूल कारण यही जीन-परिवर्तन है। इस मत का सबसे सुंदर प्रमाण यह है कि

---

* विज्ञान प्रगति, मार्च 1970

प्रभावी जीनों का जनकों से संतान को संचरण
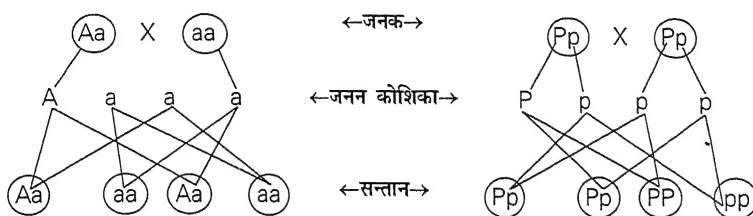
हम बहुधा एक ही परिवार में अथवा जुड़वां जन्मे व्यक्तियों में एक ही प्रकार के रोग देखते हैं।

मनुष्य शरीर के प्रत्येक कोश में तथा गर्मधारित अंडाणु में सूत सरीखे 23 जोड़े (कुल संख्या 46) क्रोमोसोम विद्यमान है। इन्हीं के द्वारा जननोत्तर गुणों का स्थानांतरण होता है। 'जीवन' की उपरोक्त परिभाषा में कही गई उत्परिवर्त्तनशीलता रोग को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक फैलाने में उतनी भूमिका नहीं निभाती, जितनी कि जीवन-पदार्थ की जनन शीलता। तथापि उत्परिवर्तन के प्रभाव से प्रोटीन, एन्जाइम तथा अन्य तंतुओं की संरचना में अंतर अवश्य आ जाता है, जो रोगोत्पत्ति का मूल कारण है।

रोगजनक जीन का फैलाव

किसी भी रोगजनक जीन का फैलाव कई बातों पर निर्भर करता है। यथा—जीन का स्वरूप अर्थात् वह प्रभावी है कि अप्रभावी; जीन की स्थिति अर्थात् अमुक जीन कायिक कोशिकाओं के क्रोमोसोम से संबद्ध है कि जननांगी क्रोमोसोम से।

प्रभावी रोग-जीन : इस प्रकार के जीन अपेक्षतया कम होते हैं। प्रभावी रोग द्वारा संक्रमित कुछ रोग इस प्रकार हैं—**अकण्ड्रो प्लासिआ,** जिसके कारण कोई अंग विशेष अपेक्षाकृत छोटा रह जाता है। मल्टियल **एग्जोटोजेज़,** जिसके कारण हड्डियों के जोड़ों के पास कुछ भद्दे आकार निकल कर बाहर आ जाते हैं। **डायबिटीज़ इन्सिपिंडस रोग में** मूत्र निर्माण अनर्गल अधिक होता है। ओस्टि **ओजेनेसिस इम्परफेक्टा** रोग में पतली हड्डियाँ मोटी होकर बहुत जल्दी चटक जाती है।

अप्रभावी (रिसेसिव) रोग-जीन अप्रभावी जीनों से उत्पन्न रोग बहुधा उन परिवारों में देखे जाते हैं जिनमें समरक्ती विवाह का चलन है। इन रोगों में मारकिओ **रोग, फिनाइल कीटोनूरिआ, रेटिनिटिस पिगमेण्टोस** आदि प्रमुख है जिनमें क्रमशः

अप्रभावी रोगोत्पादक जीनों का संचरण

शरीर की गठन ठिगनी होती है, त्वचा तथा रोम श्वेत हो जाते हैं, मानसिक विक्षुण्णता आ जाती है।

जननांगी अप्रभावी रोग-जीन : इन प्रकार रोग-जीन केवल पुरुषों में ही होते हैं। नारियों में भी ये उपस्थित अवश्य होते हैं किंतु वहां इनकी भूमिका प्रायः कुछ नहीं होती सिवाय इसके कि नारियों द्वारा ये अगली पीढ़ी में चले जाते हैं। नारियां केवल संवाहक होती हैं। इस प्रकार का जीन-विभाजन निम्न चित्र में प्रदर्शित है :
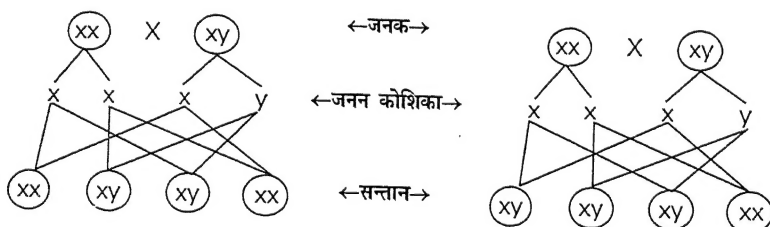
यौन सम्बद्ध अप्रभावी रोगोत्पादक लक्षण–ये लक्षण केवल पुरुषों में ही प्रकट होते हैं स्त्रियों में नहीं

हीमोफीलिया, क्रिसमस डिजीज, गार्गोइल्ज्मि आदि इस वर्ग के प्रमुख रोग हैं। इन रोगों का संबंध मुख्यतः रक्स्राव से है। पुरुषों में थोड़ी सी चोट लगने पर भी अनियंत्रित रक्त प्रवाह हीमोफीलया का चिह्न है। गार्गोइलिज्म रोग में

मानसिक दग्घता के साथ यकृत तथा प्लीहा का आकार बड़ा हो जाता है।

मिश्रित जीन प्रभाव : कुछ पैतृक् गुण ऐसे हैं जो एक साथ कई किस्म के जीनों के संयुक्त प्रभाव द्वारा उत्पन्न होते हैं, भिन्न क्रोमोसोमों से संबंधित भिन्न जीन संयोग से परस्पर जुड़ते और अलग होते रहते हैं। इस प्रकार के जीन-समूहों से एक अस्वाभाविक जीन-क्रम का संकेत तो अवश्य मिलता है किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक आगामी परिस्थितियों में इनके द्वारा कोई रोगात्पत्ति होगी अथवा नहीं।

रोगनिदान

जीनोत्पादित रोगों के निदान में चिकित्सक को सबसे पहले रोगी के विशिष्ट पारिवारिक इतिहास तथा वातावरण की ओर ध्यान देना होता है। पहले तो रोगजनक जीन को छांटकर उसे अलग से देखने की समस्या आती है और फिर यह अनुमान करने की गुंजाइश होती है कि रोगी को कौन सा रोग है। अतः इन रोगों को जानने और उनके इलाज के लिए एक चिकित्सक को कुशल आनुवांशिकी विशेषज्ञ होना अत्यंत आवश्यक है। यदि कोई बच्चा जीन रोग-ग्रस्त है तो उसके बाद पैदा होने वलो नवजात शिशु की परीक्षा उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

उपचार

जीन का अपनी स्थिति से हटकर अस्वाभाविक स्थिति पैदा कर देना प्रकृति का एक स्वाभाविक गुण है। इसका अर्थ यह नहीं कि हम हम निराश होकर यह समझ लें कि इन रोगों का उपचार ही नहीं है। हां, यह आवश्यक है कि यह उपचार मात्र एक सावधानी ही हो सकती है, जुकाम-खांसी जैसा 'इलाज' नहीं। 'प्रिकाशन इज वेटर दैन क्योर'—इस अंग्रेजी कहावत के अनुसार केवल 'प्रिकाशन' (सावधानी) की ही संभावना हो सकती है,' 'क्योर' (इलाज) की नहीं। मुख्यतः चार प्रकार के उपचार हमारे सामने हैं :

सुव्यवस्थित आहार : ऐसे बहुत से रोग है जिनमें न्यूक्लिओटाइड तथा न्यूक्लिक अम्ल युक्त आहार से प्राप्त करने से पूर्व-विश्रृंखलित जीन पुनः श्रृंखलित यदि न भी हो तो उनका विश्रृंखलन रुक जाता है। कुछ रोगों में शर्करा-युक्त भोजन लाभदायी होता है तो कुछ में हरी सब्जियों का न खाना ही फायदेमंद है। यह रोग विशेष पर आधारित है।

औषधीय उपचार : 'विल्संस रोग' को लीजिए। इसमें यकृत और मस्तिष्क

में ताम्र धातु का अंश एकत्रित हो जाता है। निश्चित है कि इसमें ऐसी औषधि रोगी को दी जानी चाहिए जो शरीर से ताम्र धातु का उत्सर्जन कर सकने में सक्षम हो।

कभी-कभी शरीर में अनावश्यक तत्व की उपस्थिति नहीं होती किंतु आवश्यक तत्व अनुपस्थित होते हैं। ऐसी दशा में उसी तत्व विशेष से सम्पन्न औषधि काम की साबित होगी।

विषाक्त यौगिकों के उपस्थित होने पर उचित एन्जाइम प्रतिकारक देने आवश्क हैं। बहुत रोगों में ऐसी औषधियों की आवश्यकता होती है जो रक्त कणों के निर्माण को संयमित किये रहें।

शल्यचिकित्सा : कोई ऊतक जब इतना दूषित हो जाय कि उपचार सरल न हो और सन्निकट अन्य ऊतकों तथा अंगों के लिए वह घातक हो तो उतने अंश को शरीर से निकाल देना आवश्यक हो जाता है। जीन रोगों में शल्य क्रिया की आवश्यकता केवल ऐसी ही स्थिति में पड़ा करती है।

विविध उपचार : आजकल वैज्ञानिक कुछ ऐसे एन्जाइम परीक्षण कर रहे हैं जिनके द्वारा किसी भी मनुष्य के शरीर की जीन-प्रणाली को, उसकी आनुवंशिक संरचना को, ही बदला जा सकता है। वस्तुतः इस दिशा में सफलता प्राप्त हो जाने पर ही यह कहा जा सकता है कि जीन-रोगों का कोई अकाट्य उपचार हमारे पास है।

आनुवंशिक रोग संवाहक

बर्मा में रंगून से बारह मील दूर एक गांव है—**ओप्को। क्यूलेक्स फैटीगन्स** मच्छर की किस्म वहां बेहद बढ़ गयी और उसने फाइलेरिया का प्रकोप यहां तक फैलाया कि संयुक्त राष्ट्र संघ के विश्व स्वास्थ्य संगठन की निगाहें उस ओर बढ़ीं। चिकित्सा इतिहास में पहली बार विशेषज्ञों ने इस प्रकोप से बचने का आनुवंशिक तरीका निकाला। ओप्को की मादा मच्छरों का 'विवाह' पेरिस और कैलीफोर्निया के नर मच्छरों से किया गया और ऐसे मच्छर तैयार किए गए जिनकी संतानों का परिवर्धन गति इतनी कम थी कि केवल उनकी बारह पीढ़ियां चली और उनके साम्राज्य का पतन हो गया।

आनुवंशिक नियंत्रण भी रोगोपचार में कितना सहायक हो सकता है।

●●●